भारतीय संस्कृति और साहित्य
में

भगवान पार्श्वनाथ

लेखक

बाबू कामता प्रसाद जैन, अलीगंज

संपादन

प्रो. (डॉ.) फूलचंद जैन, प्रेमी, वाराणसी

प्रस्तुति

श्रीमती सुधा देवेन्द्र जैन

सन्मति ट्रस्ट
मुंबई

भगवान पार्श्वनाथ

लेखक - बाबू कामताप्रसाद जैन, अलीगंज, एटा.

संपादक : प्रो. फूलचंद जैन, प्रेमी, वाराणसी

प्रथम संस्करण - १९२८ - जैन मित्र, सूरत

द्वितीय संस्करण - २००९, अगस्त

आवरण चित्र - सुरेश म्हात्रे, मुम्बई (०२२) २८७७ ४८१६

प्रकाशक
श्रीमती सुधा देवेन्द्र जैन
सन्मति ट्रस्ट
बी-२१, कहान नगर,
एन. सी. केलकर रोड,
दादर (प), मुम्बई-४०० ०२८.
फोन: (०२२) २४३६०७९२
मो. ०९८६९३५४२२१

लागत मूल्य - रु. १५०/-

मुद्रक
राजूभाई कोठारी
सन्मान एंड क.
११३ शिवशक्ति इंड. इस्टेट
मरोल नाका, एम. वसनजी रोड,
अंधेरी (पू), मुम्बई-४०० ०५९
फोन : २८५०११३७ / ०९८२०२५०१४४

पुस्तक प्राप्ति स्थल

१. **श्री गणेश दिगम्बर जैन**
संस्कृत महाविद्यालय,
लक्ष्मीपुरा, सागर-४७०००२, म.प्र.

२. **ब्र. संदीप सरल**
अनेकांत ज्ञान मंदिर,
छोटी बजरिया,
बीना (सागर), म.प्र.

३. **ब्र. अनिल जैन**
अमर ग्रंथालय, उदासीन आश्रम,
तुकोगंज, इन्दौर, म. प्र.

४. **ब्र. जिनेश जैन**
दिगम्बर जैन गुरुकुल,
मड़ियाजी के सामने, जबलपुर, म. प्र.

स्वर्गीय भाई -

अम्बाप्रसादजी की पवित्र

स्मृति में

उत्सर्गीकृत है !

- लेखक

श्री मंगल-विनय

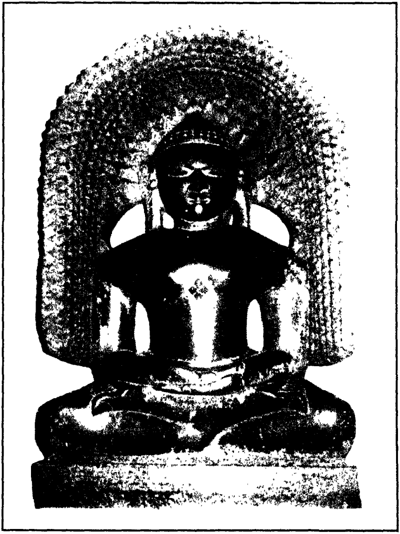
वामा प्यारे हैं, हिये मध्य आके,
वारो सारी शृंखला, ज्ञान लाके;
जागे मेरी बुद्धि, गाऊँ तुम्हारे-
नीके नीके सद्गुणों को निहारे !

प्रेमासक्ता इन्द्र चक्राधि सारे,
गाके तेरे हैं गुणों को अपारे !
कैसे पाऊं पार मैं नाथ गाके-
बौने पाते हाथ कैसे बढा के !!

तौ भी स्वामी आप में प्रेम साने,
बैठा गाने गीत हूं मैं अज्ञाने !
सेवा तेरे पाद की भक्ति धारे !
हे, तीर्थेश्वर पार्श्व ! तेरे सहारे !

दया कीजे हे प्रभो हो दयाला !
दीजे बोध हे विभो ! हो कृपाला !!
जावे बाधा भाग सारी, उदारो !
पाऊँ तेरा 'दर्श' भौसिन्धु तारो !

- लेखक



सहस्रफणी पार्श्वनाथ जी, पटनागंज, रहली, सागर म.प्र.

कृतज्ञता-ज्ञापन

पहले ही उस अनुपम पुण्य अवसर और अलौकिक कारण-भावके निकट मैं कृतज्ञता पाश में वेष्ठित है; जिनके बल पर प्रस्तुत ग्रन्थ रचने का साहस मुझे हुआ । मनुष्य अनन्त संसार में हीन-शक्ति हो रहा है, वह परिस्थिति का गुलाम बन रहा है । जिसको वह पकड़े हुये है, उसी पर मर मिटने के लिये तैयार है । रूढ़ि और धर्म में सूक्ष्म और बादर अन्तर जो भी है, उसे समझने वाले विरले ही परीक्षा-प्रधानी है । फिर भला गुरुतर महत्वशाली और अपूर्व ग्रन्थ-रत्नों के होते हुए भी कैसे कोई इस रचना के लिये अवसर और भाव की सराहना करके उन्हें धन्यवाद की सुमनांजलि समर्पित करेगा ! पर प्रभु पार्श्व के पादपद्मों में नत मस्तक होकर वर्तमान लेखक उनका आभार स्वीकार करने को बाध्य है; क्योंकि उन्हीं की कृपा से मनुष्यों में शक्ति का सञ्चार होता है और वे सत्य के दर्शन कर पाते हैं । प्रस्तुत रचना सत्य की और हमें कितनी ले जायगी ? इसका उत्तर पाठकगण स्वयं ही ढूँढ़ लें । इस विषय में मेरा कुछ लिखना व्यर्थ है । हां, उन महानुभावों का आभार स्वीकार कर लेना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ, जिनसे मुझे इस ग्रन्थ संकलन में सहायता प्राप्त हुई है । श्री जैन सिद्धांत भवन, आरा; ऐलक पन्नालाल सरस्वती भण्डार, बम्बई और श्री इम्पीरियल लायब्रेरी, कलकत्ता ने आवश्यक साहित्य प्रदान करके मेरा पूरा हाथ बाटाया है; मैं इस कृपा के लिये उनका आभारी हूं । साथ ही में अपने मित्र श्रीयुत मूलचन्द किसनदासजी कापड़िया के अनुग्रह को नहीं भुला सकता हूं । यह ही नहीं कि उनके सदुत्साह से यह रचना प्रकाश में आ रही है, प्रत्युत इसके निर्माण में भी उन्होंने आवश्यकीय ग्रन्थों और साहित्य पत्रों को जुटाकर इसकी रचना सुगम-साध्य बना दी । अतएव उन्हें मैं विशेष रूप में धन्यवाद समर्पित करता हूं । विश्वास है, उनके उत्साह का आदर करके विद्वान् पाठक इस रचना को अपनायेंगे और आशा है कि इसके द्वारा वे जैन धर्म का मस्तक ऊँचा होता पायंगे। इत्यऽलम् !

अलीगंज (एटा) — विनीत

ता. ११-१०-१९२८ — **कामता प्रसाद जैन**

प्रस्तुत संस्करण

सम्पूर्ण जगत में अपनी दिव्य-देशना द्वारा अहिंसा, करुणा, मैत्री और विश्व बन्धुत्व की भावना को साकार रूप प्रदान करने वाले जगत्पूज्य तीर्थंकर पार्श्वनाथ के पावन जीवन दर्शन, उनके दिव्य अवदान और व्यापक प्रभाव को प्रदर्शित करने वाला प्रस्तुत ग्रन्थ ''दिगम्बर जैन'' मासिक पत्र के सम्पादक श्री मूलचंद किसनदास कापडिया द्वारा दि. जैन पुस्तकालय, चन्दावाड़ी, सूरत (गुजरात) से सन् १९२८ में पूर्वार्ध एवं उत्तरार्ध इन दो भागों में प्रकाशित हुआ था । इसके लेखक सुप्रसिद्ध इतिहासकार और श्रमण जैन संस्कृति के महान लेखक, अन्तरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त विद्वान बाबू कामताप्रसाद जी, अलीगंज (एटा) हैं । इस महान् ग्रन्थ के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि इसके लेखन में बाबू कामताप्रसाद जी ने जहाँ सम्पूर्ण प्राचीन भारतीय वाङ्मय और संस्कृति आदि का गहन अध्ययन और अनुसन्धान किया होगा, वहीं आपने देश और विदेश के अनेक विद्वानों द्वारा लिखित इस विषयक सामग्री आदि के प्रमाणों को जुटाने में महान कठिन श्रम करना पड़ा होगा ? वह भी ऐसे समय जब लेखन हेतु आज जैसे संसाधनों का अत्यन्त अभाव था । फिर भी आपने अपनी श्रमण संस्कृति की प्रभावना हेतु चुनौती स्वीकार की और अथक एवं दीर्घ परिश्रम पूर्ण यह एक ऐसा महत्वपूर्ण ऐतिहासिक अद्भुत ग्रन्थ तैयार किया, जिससे श्रमण संस्कृति की प्राचीनता का बहुमूल्य योगदान तीर्थंकर पार्श्वनाथ एवं अन्य तीर्थंकरों की ऐतिहासिकता तथा मौलिकता सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है ।

किन्तु बहुत आश्चर्य होता है कि नित नये-पुराने जैन ग्रन्थ प्रकाशित हो रहे हैं, किन्तु लगभग अस्सी वर्ष पूर्व प्रकाशित और अब तक लगभग विस्मृत इस अति महत्वपूर्ण दुर्लभ ग्रन्थ के पुन: प्रकाशित हेतु किसी ने खोज-खबर तक नहीं ली और न आवश्यकता समझी ? संयोग से मेरे निजी संग्रह में इस ग्रन्थ का मात्र उत्तरार्ध भाग था, जो तीर्थंकर पार्श्वनाथ के महनीय जीवन दर्शन

से संबंधित है । मैंने इसे अनेक बार पढ़ा और इससे इतना प्रभावित हुआ कि इसके पुन: प्रकाशन की तीव्र इच्छा हुई, ताकि अन्य सभी सुधी पाठक भी इससे लाभान्वित हो सकें । संयोग से प्रभावक श्रमण साहित्य के प्रकाशन हेतु सदा नि:स्वार्थ भाव से संलग्न रहने वाले साहित्य साधक श्री देवेन्द्र कुमार जैन, सन्मति ट्रस्ट, मुम्बई को मैंने इस ग्रन्थ का उत्तरार्ध भाग भेज दिया । उन्हें भी यह ग्रन्थ बहुत पसन्द आया और अपने सन्मति ट्रस्ट से इसके प्रकाशन की इच्छा व्यक्त की ।

आपने अस्सी वर्ष पूर्व प्रकाशित इस ग्रन्थ के पूर्वार्ध भाग को खोजकर दोनों भाग का एक साथ वर्तमान युगीन् सम्पादन हेतु प्रयास किया । इस कार्य हेतु आपने मुझसे अनुरोध किया । किन्तु मैंने अपनी व्यस्ततावश असमर्थता व्यक्त की । संयोग से मुझे अपने छोटे बेटे चि. अरिहन्त जैन के यहाँ कार्यवश मुम्बई जाने का सुयोग बना । वहाँ श्री देवेन्द्र जी से मिलना हुआ । यहाँ जब आपकी सहृदया धर्मपत्नी आदरणीया भाभी श्रीमती सुधा जी ने स्नेह-आग्रहपूर्वक इस ग्रन्थ के सम्पादनादि कार्य की प्रेरणा दी तो मैं मना नहीं कर सका । मैंने भी सोचा कि यदि यह कार्य बनारस लेकर गया तो इसके सम्पादनादि में चार-पाँच माह का समय लग जाएगा, जबकि आपको इसका प्रकाशन कार्य तुरन्त प्रारम्भ करना है । अत: मैंने मुम्बई में अपने बेटे के यहां रहकर दिन-रात लगकर इसलिए यह कार्य पूरा कर दिया, ताकि इसके शीघ्र प्रकाशन में विलम्ब न हो ।

प्रस्तुत मूल ग्रन्थ में लम्बे-लम्बे पैराग्राफ और विषय विवेचन के बहुत कम शीर्षक थे । वर्तमान पाठकों की वैसी रुचि अब नहीं रही । अत: सरलता, सहजता और विवेच्य विषय के अनुरूप मैंने जहाँ इसमें कुछ-कुछ छोटे पैराग्राफ बनाये, वहीं महत्वपूर्ण विषय और तद्विषयक प्रमुख तथ्यों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षक करने की दृष्टि से तदनुसार बीच-बीच में अनेक नये-नये शीर्षक भी विषयानुसार बना दिये, ताकि सुधी पाठक उन नये-नये वर्णित विषयों और तथ्यों को विशेष रुचि से पढ़ सके और जान सकें ।

पहले उर्दू भाषा का भी काफी प्रचलन था । बाबू कामताप्रसाद जी सहित उस समय के अनेक जैन विद्वान् उर्दू भाषा के शब्दों का काफी प्रयोग अपने लेखन में करते थे । उस समय वे सहज-सरल भी थे । ऐसे कुछ प्रचलित शब्दों को तो यथावत् रहने दिया, किन्तु कुछ अप्रचलित शब्दों के स्थान पर हिन्दी के वर्तमान प्रचलित शब्दों को श्री देवेन्द्र जी ने और कुछ मैंने रख दिया है ताकि पाठकों को विषय ग्रहण में सरलता रहे । चूँकि पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दोनों भागों को एक साथ प्रकाशित करना था, अत: विस्तार भय से तीर्थंकर पार्श्वनाथ के पूर्व दस भवों की संक्षिप्त कर दिया गया है । इन सब कार्यों से ग्रन्थ की मौलिकता भी पूर्ण सुरक्षित रहे, इस वात का तो पूरा ध्यान रखा ही गया है।

मूल लेखक द्वारा लिखी प्रस्तुत ग्रन्थ की विस्तृत प्रस्तावना अति महत्वपूर्ण है । श्रमण संस्कृति, इसकी ऐतिहासिकता, प्राचीनता, मौलिकता और व्यापकता को समझने की दृष्टि से बाबू कामताप्रसाद जी ने जिन तथ्यों और प्रमाणों को इसमें क्रमबद्ध रूप से अथक श्रमपूर्वक संजोया है, यह अपने आप में आश्चर्य का विषय बनता है । वस्तुत: यह उनकी श्रमण संस्कृति को विश्व विख्यात करने की गहरी आन्तरिक भावना को तो व्यक्त करता ही है, साथ ही इसके प्रति उनकी अगाध निष्ठा, भक्ति, समर्पण और उनके स्वयं के व्यापक गहन ज्ञान को भी प्रदर्शित करता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ की अच्छी एवं शीघ्र प्रस्तुति हेतु मैं सम्मान्य बंधुवर और मेरे सहृदय मित्रवर श्री देवेन्द्र जैन जी एवं आ. भाभी श्रीमती सुधा जैन के साथ ही सन्मति ट्रस्ट के प्रति हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ ।

दि. १८ जून २००९ **- प्रो. फूलचन्द जैन प्रेमी**

वाराणसी

पूर्व अध्यक्ष, अ.भा.दि. जैन विद्वत्परिषद्

विषय-सूची

सम्पादकीय

तीर्थंकर पार्श्वनाथ का
लोकव्यापी व्यक्तित्व और प्रभाव

- **प्रो. फूलचन्द जैन प्रेमी**
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, जैनदर्शन विभाग,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी ।

श्रमणधारा भारत में अत्यन्त प्राचीनकाल से प्रवहमान है । पुरातात्विक, भाषा-वैज्ञानिक एवं साहित्यिक अन्वेषणों के आधार पर अनेक विद्वान अब यह स्वीकृत करने लगे हैं कि आर्यों के आगमन के पूर्व भारत में जो संस्कृति थी, वह श्रमण या आर्हत्-संस्कृति होनी चाहिए । श्रमण संस्कृति अपनी जिन विशेषताओं के कारण गरिमा-मण्डित रही है, उनमें श्रम, संयम और त्याग - जैसे आध्यात्मिक आदर्शों का महत्वपूर्ण स्थान है । अपनी इन विशेषताओं के कारण ही अनेक संस्कृतियों के सम्मिश्रण के बाद भी इस संस्कृति ने अपना पृथक् अस्तित्व अक्षुण्ण रखा ।

जैन धर्म के अन्य नामों में आर्हत् निर्ग्रन्थ तथा श्रमण धर्म प्रमुख रूप में प्रचलित है । इसके अनुसार श्रमण की मुख्य विशेषतायें हैं - उपशान्त रहना, चित्तवृत्ति की चंचलता, संकल्प-विकल्प और इष्टानिष्ट भावनाओं से विरत रहकर, समभावपूर्वक स्व-पर कल्याण करना । इन विशेषताओं से युक्त श्रमणों द्वारा प्रतिपादित, प्रतिष्ठापित और आचरित संस्कृति को श्रमण-संस्कृति कहा जाता है ।

इस सब के बावजूद आश्चर्य इस बात का है कि जो श्रमण संस्कृति भारत की मूल प्राचीन संस्कृति से सम्बन्धित है, उसे अब से कुछ दशकों पूर्व तक किसी अन्य धर्म या संस्कृति की एक शाखा बतलाकर उसकी उपेक्षा कर दी जाती थी। जब से सिन्धु घाटी-मोहन जोदड़ों एवं हड़प्पा से प्राप्त प्राग्वैदिक सभ्यता के साक्ष्य प्राप्त हुए। साथ ही वैदिक साहित्यिक परिशीलन से उसमें उपलब्ध आर्येतर परम्पराओं की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हुआ, तब से पाश्चात्य एवं सत्यान्वेषी भारतीय मनीषियों ने इस श्रमण संस्कृति के स्वतंत्र अस्तित्व तथा उसकी प्राचीन गौरव-पूर्ण परम्परा को एक स्वर से स्वीकृत किया है। विशाल वैदिक साहित्य में उल्लिखित व्रात्य, आर्हत्, यति, हिरण्यगर्भ, वातरसना-मुनि, केशी, 'शिश्नदेव', पणि आदि तथा इस तरह के अन्यान्य शब्द एवं अनेक तीर्थंकरों के नाम और उनके प्रति आदरपूर्ण शब्दों में रचित सूक्त एवं ऋचायें स्पष्ट ही श्रमण संस्कृति के उत्कर्ष का द्योतन करती हैं।

जैन धर्म और श्रमण संस्कृति सुदूर अतीत में जैन धर्म के आदि (प्रथम) तीर्थंकर ऋषभदेव या वृषभदेव द्वारा प्रवर्तित हुई। यह भी एक तथ्य है कि इन्हीं ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र चक्रवर्ती 'भरत' के नाम से इस देश का नामकरण भारतवर्ष प्रचलित और मान्य हुआ। इस बात का समर्थन अनेक वैदिक पुराणों द्वारा भी होता है।

धर्म-तीर्थ के कर्ता (प्रवर्तक) तीर्थंकर कहे जाते हैं। इन्हें जिन, जिनेन्द्रदेव, अर्हत्, अरिहन्त, अरहन्त, वीतरागी, सर्वज्ञ, निर्ग्रन्थ आदि अनेक विशेषणों से सम्बोधित किया जाता है। मन, वाणी और शरीर द्वारा जितेन्द्रिय बनकर जिन्होंने संसार में भ्रमण कराने वाले कर्म रूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त

की है, वे जिन कहे जाते हैं और इनके द्वारा प्रतिपादित धर्म जैन धर्म कहलाता है।

जैन धर्म में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव से लेकर अंतिम तीर्थंकर महावीर तक चौबीस तीर्थंकरों की लम्बी परम्परा है । इनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं - १. ऋषभनाथ, २. अजितनाथ, ३. संभवनाथ, ४. अभिनन्दननाथ, ५. सुमतिनाथ, ६. पद्मप्रभ, ७. सुपार्श्वनाथ, ८. चंद्रप्रभ, ९. पुष्पदन्त, १०. शीतलनाथ, ११. श्रेयांसनाथ, १२. वासुपूज्य, १३. विमलनाथ, १४. अनन्तनाथ, १५. धर्मनाथ, १६. शान्तिनाथ, १७. कुंथुनाथ, १८. अरहनाथ, १९. मल्लिनाथ, २०. मुनिसुव्रतनाथ, २१. नमिनाथ, २२. नेमिनाथ, २३. पार्श्वनाथ, २४. वर्द्धमान-महावीर ।

तीर्थंकरों की इस गौरवशाली परम्परा में बनारस नगरी में जन्में तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का व्यक्तित्व सम्पूर्ण देश में अत्यन्त लोकप्रिय जननायक, करुणामूर्ति, विघ्नहर्ता आदि रूपों में सदा से व्याप्त और प्रभावक रहा है । यहाँ प्रस्तुत है इनके लोकव्यापी व्यक्तित्व और उनके प्रभाव से संबंधित एक झाँकी-

वर्तमान में जैन परम्परा का जो प्राचीन साहित्य उपलब्ध है, उसका सीधा सम्बन्ध चौबीसवें तीर्थंकर वर्धमान महावीर से है । किन्तु इनसे पूर्व नौवीं शती ईसा पूर्व काशी में जन्मे तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ, जो कि इस श्रमण परम्परा के एक महान् पुरस्कर्ता थे, उस विषयक कोई व्यवस्थित रूप में साहित्य वर्तमान में तो उपलब्ध नहीं है किन्तु अनेक प्राचीन ऐतिहासिक प्रामाणिक स्रोतों से वे एक ऐतिहासिक महापुरुष के रूप में मान्य हैं और उनके आदर्शपूर्ण जीवन और धर्म-दर्शन की लोक-व्यापी छवि आज भी सम्पूर्ण भारत तथा इसके सीमावर्ती क्षेत्रों और देशों में विविध रूपों में दिखलाई देती

है। यही कारण है कि सम्पूर्ण देश में जहाँ प्राचीन और अर्वाचीन तीर्थंकर प्रतिमाओं में सर्वाधिक प्रतिमायें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की ही प्रतिष्ठित हैं, वहीं सर्वाधिक मंदिर भी इन्हीं के मूल नायकत्व के रूप में समर्पित हैं ।

अर्धमागधी प्राकृति साहित्य में 'पुरुसादाणीय' अर्थात् लोकनायक श्रेष्ठ पुरुष जैसे उनके अति लोकप्रिय व्यक्तित्व के लिए प्रयुक्त अनेक सम्मानपूर्ण विशेषणों का उल्लेख मिलता है । वैदिक और बौद्ध धर्मों तथा अहिंसा एवं आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति पर इनके चिन्तन और प्रभाव की अमिट गहरी छाप आज भी विद्यमान है । वैदिक, जैन और बौद्ध साहित्य में उल्लिखित, व्रात्य, पणि और नाग आदि जातियाँ स्पष्टत: पार्श्वनाथ की अनुयायी थीं । भारत के पूर्वी क्षेत्रों विशेषकर बंगाल, बिहार, उड़ीसा आदि अनेक प्रान्तों के आदिवासी-बहुल क्षेत्रों में लाखों की संख्या में बसने वाली सराक, सद्गोप, रंगिया आदि जातियों का सीधा और गहरा सम्बन्ध तीर्थंकर पार्श्वनाथ की परम्परा से है । इन लोगों के दैनिक जीवन व्यवहार की क्रियाओं और संस्कारों पर तीर्थंकर पार्श्वनाथ और उनके चिन्तन की गहरी छाप आज भी देखी जा सकती है । सम्पूर्ण सराक जाति तथा अनेक जैनेतर जातियाँ अपने कुलदेव तथा इष्टदेव के रूप में आज तक इन्हीं पार्श्वप्रभु की मुख्यत: पूजा भक्ति करती है ।

ईसा पूर्व २-३ सदी के जैनधर्मानुयायी सुप्रसिद्ध कलिंग नरेश महाराजा खारबेल भी इन्हीं के प्रमुख अनुयायी थे । अंग, बंग, कलिंग, कुरू, कौशल, काशी, अवन्ती, पुण्ड, मालव, पांचाल, मगध, विदर्भ, भद्र, दशार्ण, सौराष्ट्र, कर्नाटक, कोंकण, मेवाड़, लाट, काश्मीर, कच्छ, वत्स, पल्लव और आमीर आदि तत्कालीन अनेक क्षेत्रों, राष्ट्रों और देशों का उल्लेख आगमों में मिलता है,

जिनमें प्राश्र्व प्रभु ने ससंघ विहार करके जन-जन के लिए हितकारी, मंगलकारी धर्मोपदेश देकर जागृति पैदा की ।

इस प्रकार तीर्थंकर पार्श्वनाथ तथा उनके लोकव्यापी चिन्तन से लम्बे समय तक धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक क्षेत्र को प्रभावित किया है । उनका धर्म व्यवहार की दृष्टि से सहज था । धार्मिक क्षेत्रों में उस समय पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा आदि के लिए हिंसामूलक यज्ञ तथा अज्ञानमूलक तप का काफी प्रभाव था । किन्तु उन्होंने पूर्वोक्त क्षेत्रों में विहार करके अहिंसा का जो समर्थ प्रचार किया, उसका समाज पर गहरा प्रभाव पड़ा और अनेक आर्य तथा अनार्य जातियाँ उनके धर्म में दीक्षित हो गईं । राजकुमार अवस्था में कमठ द्वारा काशी के गंगाघाट पर पंचाग्नि तप तथा यज्ञाग्नि की लकड़ी में जलते नाग-नागनी का णमोकार मंत्र द्वारा उद्धार कार्य की प्रसिद्ध घटना - यह सब उनके द्वारा धार्मिक क्षेत्र में हिंसा और अज्ञान का विरोध और अहिंसा तथा विवेक की स्थापना का प्रतीक है ।

जैन धर्म का प्राचीन इतिहास (भाग १ पृ. ३५९) के अनुसार नाग तथा द्रविड़ जातियों में तीर्थंकर पार्श्वनाथ की मान्यता असंदिग्ध थी । श्रमण संस्कृति के अनुयायी व्रात्यों में नाग जाति सर्वाधिक शक्तिशाली थी । तक्षशिला, उद्यानपुरी, अहिच्छत्र, मथुरा, पद्मावती, कान्तिपुरी, नागपुर आदि इस जाति के प्रसिद्ध केन्द्र थे । भगवान् पार्श्वनाथ नाग जाति के इन केन्द्रों में कई बार पधारे और इनके चिन्तन से प्रभावित हो सभी इनके अनुयायी बन गये। इस दिशा में गहन अध्ययन और अनुसंधान से आश्चर्यकारी नये तथ्य सामने आ सकते हैं जो तीर्थंकर पार्श्वनाथ के लोकव्यापी स्वरूप को और अधिक स्पष्ट रूप में उजागर किया जा सकता है ।

हमारे देश के हजारों नये और प्राचीन जैन मंदिरों में सर्वाधिक तीर्थंकर पार्श्वनाथ की मूर्तियों की उपलब्धता भी उनके प्रति गहरा आकर्षण, गहन आस्था और लोक व्यापक प्रभाव का ही परिणाम है ।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ के बाद तथा तीर्थंकर महावीर के समय तक पार्श्वनाथ के अनुयायियों की परम्परा अत्यधिक जीवंत और प्रभावक अवस्था में थी । अर्धमागधी आगमों में पासावच्चिज्ज अर्थात् पार्श्वापत्यीय तथा पासत्थ अर्थात् पार्श्वस्थ के रूप में उल्लिखित परम्परायें तथा ये शब्द पार्श्वनाथ के अनुयायियों के लिए प्रयुक्त किये गये मिलते हैं । पार्श्वात्यीय शब्द का अर्थ है - पार्श्व की परम्परा अर्थात् उनकी परम्परा के अनुयायी श्रमण और श्रमणोपासक ।[१]

अर्धमागधी अंग आगम साहित्य में पंचम अंग आगम भगवती सूत्र में जिसे व्याख्या-प्रज्ञप्ति भी कहा जाता है, पार्श्वापत्यीय अनगार और गृहस्थ दोनों के विस्तृत विवरण प्राप्त होते हैं । सावधानी पूर्वक इनके विश्लेषण से प्रतीत होता है कि भगवान महावीर के युग में पार्श्व प्रभु का दूर-दूर तक व्यापक प्रभाव था तथा बड़ी संख्या में पार्श्वापत्यीय श्रमण एवं उपासक विद्यमान थे । मध्य एवं पूर्वी देशों के व्रात्य क्षत्रिय उनके अनुयायी थे । गंगा का उत्तर एवं दक्षिण भाग तथा अनेक नागवंशी राजतंत्र एवं गणतंत्र उनके अनुयायी थे । उत्तराध्ययन सूत्र के तेइसवें अध्ययन का इनसे सम्बद्ध 'केशी-गौतम' संवाद तो बहुत प्रसिद्ध है ही । श्रावस्ती के ये श्रमण केशीकुमार भी पार्श्व की ही परम्परा के श्रमण थे । सम्पूर्ण राजगृह भी पार्श्व का उपासक था । तीर्थंकर महावीर के माता-पिता तथा अन्य सम्बन्धी[२] पार्श्वापत्य परम्परा के श्रमणोपासक थे । जैसा कि कहा भी है- समणस्स णं भगवओ महावीरस्स अम्मापियरो पासावच्चिज्जा समणोवासगा वावि होत्था (आचारांग २, चूलिका

३, सूत्र ४०) । भगवान् महावीर स्वयं कुछ प्रसंगों में पार्श्वपत्यीयों के ज्ञान और प्रश्नोत्तरों की प्रशंसा करते हैं ।[३] एक अन्य प्रसंग में भगवान् महावीर स्वयं पार्श्व प्रभु को अरहंत, पुरिसादाणीय (पुरुषादानीय-पुरुष श्रेष्ठ या लोकनायक) जैसे सम्मानपूर्ण विशेषणों से सम्बोधित करते हैं ।[४]

भगवती सूत्र में तुंगीया नगरी में ठहरे उन पाँच सौ पार्श्वापत्यिक स्थविरों का उल्लेख विशेष ध्यातव्य है जो पार्श्वापत्यिक श्रमणोपासकों को चातुर्याम धर्म[५] का उपदेश देते हैं तथा श्रमणोपासकों द्वारा पूछे गये संयम, तप तथा इनके फल आदि के विषय में प्रश्नों का समाधान करते हैं । इन प्रश्नोत्तरों का पूरा विवरण जब इन्द्रभूति गौतम को राजगृह में उन श्रावकों द्वारा ज्ञात होता है, तब जाकर भगवान महावीर को प्रश्नोत्तरों का पूरा विवरण सुनाते हुए पूछते हैं - भंते, क्या पार्श्वापत्यीय स्थविरों द्वारा किया गया समाधान सही है ? क्या वे उन प्रश्नों के उत्तर देने में समर्थ हैं ? क्या वे सम्यक् ज्ञानी है ? क्या वे अभ्यासी और विशिष्ट ज्ञानी है ? भगवान महावीर स्पष्ट उत्तर देते हुए कहते हैं - अहं पि णं गोयमा । एवम् माइक्खामि भासामि, पण्णवेमि परूवेमि....... । सच्चं णं एस मट्ठे, नो चेव णं आयभाववत्तव्वयाए ।[६] अर्थात् हां गौतम । पार्श्वापत्यीय स्थविरों द्वारा किया गया समाधान सही है । वे सही उत्तर देने में समर्थ हैं । मैं भी इन प्रश्नों का यही उत्तर देता हूँ । आगे गौतम के पूछने पर कि ऐसे श्रमणों की उपासना से क्या लाभ ? भगवान कहते हैं - सत्य सुनने को मिलता है ।[७] आगे-आगे उत्तरों के अनुसार प्रश्न भी निरन्तर किये गये ।

इन प्रसंगों को देखने से यह स्पष्ट होता है कि तीर्थंकर महावीर के सामने पार्श्व प्रभु के धर्म, ज्ञान, आचार और तपश्चरण आदि की समृद्ध परम्परा रही है और भगवान् महावीर उसके प्रशंसक थे ।

पालि साहित्य में निर्ग्रन्थों के 'वप्प शाक्य' नामक श्रावक का उल्लेख मिलता है, जो कि बुद्ध के चूल पिता (पितृव्य) थे ।[८] इससे यह स्पष्ट है कि भगवान् बुद्ध आरम्भ में भगवान पार्श्व की निर्ग्रन्थ परम्परा में दीक्षित हुए थे[९] किन्तु बाद में उन्होंने अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाया ।

भगवान् बुद्ध के एक जीवन-प्रसंग से यह पता चलता है कि वे अपनी साधनावस्था में पार्श्व-परम्परा से घनिष्ट रूप में सम्बद्ध अवश्य रहे हैं । अपने प्रमुख शिष्य सारिपुत्र से वे कहते हैं - सारिपुत्र, बोधि-प्राप्ति से पूर्व मैं दाढ़ी, मूंछों का लुंचन करता था । मैं खड़ा रहकर तपस्या करता था । उकडू बैठकर तपस्या करता था । मैं नंगा रहता था । लौकिक आचारों का पालन नहीं करता था । हथेली पर भिक्षा लेकर खाता था । .... बैठे हुए स्थान पर आकर दिये हुए अन्न को, अपने लिए तैयार किए हुए अन्न को और निमंत्रण को भी स्वीकार नहीं करता था । गर्भिणी व स्तनपान कराने वाली स्त्री से भिक्षा नहीं लेता था ।[१०] बुद्ध द्वारा वर्णित यह समस्त आचार जैन साधुओं का है । इससे प्रतीत होता है कि गौतम बुद्ध पार्श्वनाथ-परम्परा के चल रहे किसी श्रमण संघ में दीक्षित हुए और वहाँ से उन्होंने बहुत कुछ सद्ज्ञान तथा तप: साधना प्राप्त किया । बाद में किसी कारणवश अलग होकर अपना स्वतंत्र मध्यम मार्ग के रूप में बौद्ध-मत चलाया ।

देवसेनाचार्य (८वीं शती) ने अपने दर्शनसार ग्रन्थ में भी गौतमबुद्ध के द्वारा प्रारम्भ में जैन दीक्षा ग्रहण करने का उल्लेख करते हुए कहा है - जैन श्रमण पिहिताश्रव ने सरयू नदी के तट पर पलाश नामक ग्राम में श्री पार्श्वनाथ के संघ में उन्होंने दीक्षा ली और उनका नाम मुनि बुद्धकीर्ति रखा । कुछ समय बाद वे मत्स्य-मांस खाने लगे और रक्त वस्त्र पहनकर अपने नवीन धर्म का उपदेश

करने लगे ।[११] यह उल्लेख अपने आप में भले ही बहुत बड़ा ऐतिहासिक महत्व न हो, फिर भी इनके पीछे कुछ न कुछ तथ्य-सत्य रहता है तथा इस प्रकार के समुल्लेख के साथ पूर्वोक्त तथ्य अपना एक स्थान बना लेता है ।[१२]

पालि दीघनिकाय के सामञ्ञफल सुत्त में मक्खलि गोशालक आदि जिन छह तीर्थंकरों के मतों का प्रतिपादन है, उनमें निग्गण्ठनातपुत्त के नाम से जिस चातुर्याम संवर अर्थात् सब्बवारिवारित्तो, सब्बवारियुतो, सब्बवारिधुतो और सब्बवारिफुटो की चर्चा है, वैसी किसी भी जैनग्रन्थों में नहीं मिलती । स्थानांग, भगवती, उत्तराध्ययन आदि सूत्र ग्रन्थों में तो पार्श्व प्रभु के सर्व प्राणातिपात विरति, सर्वमृषावाद विरति, सर्व अदत्तादान विरति और सर्व बहिर्धादान विरति रूप चातुर्याम धर्म का प्रतिपादन मिलता है । जबकि दिगम्बर परम्परा के अनुसार सभी तीर्थंकरों ने पांच महाव्रत रूप आचार धर्म का प्रतिपादन समान रूप से किया है । यह भी ध्यातव्य है कि अर्धमागधी परम्परानुसार चातुर्याम का उपदेश पार्श्वनाथ ने दिया था, न कि ज्ञातपुत्र महावीर ने । किन्तु इस उल्लेख से यह अवश्य सिद्ध होता है कि भगवान् बुद्ध के सामने भी पार्श्वनाथ के चिन्तन का काफी व्यापक प्रभाव था और पार्श्वापत्यियों से भी उनका परिचय तथा अच्छा मेलजोल था ।

कुछ इतिहासकारों का यह भी मानना है कि यज्ञ-यागादि प्रधान वेदों के बाद उपनिषदों में आध्यात्मिक चिन्तन की प्रधानता के समावेश में तीर्थंकर पार्श्वनाथ के चिन्तन का भी काफी प्रभाव पड़ा है । इस तरह वैदिक परम्परा के तीर्थंकर पार्श्वनाथ का आध्यात्मिक रूप में बहुमूल्य योगदान कहा जा सकता है ।

इस प्रकार तीर्थंकर पार्श्वनाथ का ऐसा लोकव्यापी प्रभावक व्यक्तित्व एवं चिन्तन था कि कोई भी एक बार इनके या इनकी परम्परा के परिपार्श्व में आने पर उनका प्रबल अनुयायी बन जाता था । उनके असीम विराट् व्यक्तित्व का विवेचन करना असम्भव है, फिर भी अपनी सीमित शक्ति से उन्हें जो जान पाया यहाँ श्रद्धा एवं भक्ति वश इसलिए प्रस्तुत किया है ताकि हम सभी उनके प्रभाव को जानकर उन्हें और अधिक समझने के लिए प्रयत्नशील हो सकें ।

सन्दर्भ

(१) (क) पार्श्वापत्यानां-पार्श्वजिन शिष्याणामयं पार्श्वापत्यीयः-भगवती टीका १/९
(ख) पार्श्वापत्यस्य-पार्श्वस्वामि शिष्यस्य अपत्यं शिष्यः पार्श्वापत्यीयः-सूत्र २/७

(२) वेसालीए पुरीए सिरिपासजिणे ससासणसणाहो ।
हेहयकुलसंभूओ चेडगनामा निवो आसि ।। उपदेशमाला गाथा ९२.

(३) भगवई २/५, पैरा ११० पृ. १०८.

(४) पासेणं अरहया पुरिसादाणिएणं सासए लोए बुइए-अणादीए अणवदग्गे परित्ते परिवुडे हेट्ठा विच्छिण्णे मज्झे संखित्ते, उप्पिं विसाले-भगवई २/५/९/२५५ पृ. २३१

(५) भगवई २/५/९८ पृ. १०५ (६) वही २/५/११० पृ. १०८ (७) वही २/५/१०० पृ. १०९

(८) पालि अंगुत्तर निकाय चतुस्कनिपात महावग्गो वप्पसुत्त ४-२०-५

(९) (क) मज्झिमनिकाय महासिंहनाद सुत्त १/१/२, दीघनिकाय पासादिकसुत्त
(ख) पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म पृ. २४

(१०) मज्झिमनिकाय, महासिंहनाद सुत्त, १/१/२ भ. बुद्ध - धर्मानन्द कौशाम्बी पृ. ६८-६९

(११) सिरिपासणाहतित्थे सरयूतीरे पलासणयरत्थो ।
पिहियासवस्स सिस्सो महासुदो बड्ढकित्तिमुणी ।। ...... रत्तबरं धरित्ता पवट्टिय तेण एयतं ।
दर्शनसार श्लोक ६-८

(१२) आगम और त्रिपिटक एक अनुशीलन पृ. २

❑

प्रस्तावना

'जिन गुनकथन अगमविस्तार ।
बुधिबल कौन लहै कवि पार ।।'

निमित्त

श्री जिनेन्द्र भगवान के गुण अपार हैं, वे अनन्त हैं, अचिंत्य हैं । योगीजन अपनी समाधिलीन अलौकिक दशा में उनके दर्शन एक झांकी मात्र कर पाते हैं । बड़े-बड़े ज्ञानी उनके दिव्य चरित्र को प्रगट करने में अपना सारा का सारा ज्ञान कोष खतम कर डालते हैं, पर उनका चित्रण अधूरा ही रहता है । अभी, स्वयं गणधर महाराज जो उत्कृष्ट मन:पर्यय ज्ञान के धारक होते हैं, वे भी उन प्रभु के गुण वर्णन करने में असमर्थ रहते हैं । अगाध समुद्र का पारावार एक क्षुद्र मानव कैसे पा सकता है ? तिस पर आज कल के अल्पज्ञ मनुष्य के लिये यह बिल्कुल ही असंभव है कि वह ऐसे अपूर्व और अनुपम प्रभु के विषय में कहने का कुछ साहस कर सके !

आज से तीन हजार वर्ष पहले हुए श्री पार्श्व जिनेन्द्र का दिव्य चरित्र अब क्योंकर पूर्ण और यथार्थ रूप में लिखा जा सकता है ? परन्तु हृदय की भक्ति सब कुछ करा सकती है । वह निराली तरंग है जो मनुष्य के हृदय में अपूर्व शक्ति का संचार करती है । हिरणी इसी भक्ति-इसी प्रेम के बल से सिंह के सामने जा पहुंचती है । अपने बच्चे के प्रेम में वह पगली हो जाती है । भक्ति वा प्रेम का यही रहस्य है और यही रहस्य इस ग्रन्थ के संकलन होने में पूर्ण निमित्त बन रहा है । भक्ति की लहर में एक टक बहकर अपना आत्म-कल्याण करना ही यहाँ इष्ट है । इसकी तन्मयता में अपने ज्ञान ज्योतिर्मय आत्मरूप का दर्शन

पाने का प्रयास उपहासास्पद नहीं हो सकता । वैसे समय की परिस्थिति और प्रभु पार्श्व के प्रति आधुनिक विद्वानों के अयथार्थ उद्गार भी इसमें कारणभूत हैं । फिर जरा यह सोचने की बात है कि प्रभु पार्श्व आखिर एक मनुष्य ही थे - मनुष्य से ही उन्होंने परमोच्च-परमात्मपद प्राप्त किया था - मनुष्य के लिए एक मनुष्य ही आदर्श हो सकता है और मनुष्य ही मनुष्य को पहचानता है, उससे प्रेम करता है और अपने प्रेमी पर वह सब कुछ न्योछार कर डालता है ।

यही कारण है कि इस काल के पूज्य कविगण जैसे श्री गुणभद्राचार्यजी, श्री वादिराज सूरिजी, श्री सकल कीर्तिजी, कविवर भूधरदासजी आदि अपने प्रभु-भक्ति पल्लवित हृदय की प्रेम-पुष्पांजलि इन प्रभु के चरण कमलों में समर्पित कर चुके हैं । अपना सर्वस्व उनके गुण-गान में वार चुके हैं । इन महान् कविवरों का अनुकरण करना धृष्टता जरूर है; पर हृदय की भक्ति यह संकोच काफूर कर देती है और प्रभु के दर्शन करने के लिये बिल्कुल उतावला बना देती है । इस उतावली ने ही यह अविकसित भक्ति कर्णिका प्रभु पार्श्व के गुणगान में आत्म लाभ के मिस से प्रस्फुटित हुई है । विद्वज्जन इस उतावली के लिये क्षमा प्रदान करें और त्रुटियों से सूचित कर अनुगृहीत बनावें ।

भगवान पार्श्वनाथ : एक ऐतिहासिक व्यक्तित्व

जैन धर्म में माने गये चौबीस तीर्थंकरों में से भगवान् पार्श्वनाथजी तेईसवें तीर्थंकर थे । यह इक्ष्वाकु वंशीय क्षत्रिय कुल के शिरोमणि थे । जब यह एक युवक राजकुमार थे, तब ही से इन्होंने उस समय के विकृत धार्मिक वातावरण को सुधारने का प्रयत्न किया था । जैन पुराणों में उन प्रभु का विशद चरित्र लिखा हुआ मिलता है । इन्हीं ग्रंथों के आधार से एवं अन्य जैनेतर शास्त्रों और ऐतिहासिक साधनों द्वारा यह पुस्तक लिखी गई है । इसमें जो कुछ है वह सब

पुरातन है; केवल इसका रूप-रंग और वेश-भूषा आधुनिक है । शायद किन्हीं लोगों की अब भी यह धारणा हो कि एक पौराणिक अथवा काल्पनिक पुरुष की जीवनी में ऐतिहासिकता की झलक कहां से आ सकती है ? और इस कारण वह हमारे इस प्रयास को अनावश्यक समझें ! किन्तु उनकी यह धारणा सार हीन है । प्रभु पार्श्व कोई काल्पनिक व्यक्ति नहीं थे । पौराणिक बातों को कोरा ठपाल बता देना भारी धृष्टता और नीच कृतघ्नतासे भरी हुई अश्रद्धा है ।

भारतीय पुराण लेखक गण्यमान्य ऋषि थे । उन्होंने कोरी कवि कल्पनाओं से ही अपने पुराण ग्रन्थों को नहीं लिखा है; जबकि वह उनको एक 'इतिहास'के रूप में लिख रहे थे ।[1] बेशक हिंदू पुराणों में ओतप्रोत अलंकार भरा हुआ मिलता है; परन्तु इस पर भी उनमें ऐतिहासिकता का अभाव नहीं है । तिस पर जैन पुराण तो अलंकारवाद से बहुत करके अछूते हैं और उनमें मौलिक घटनाओं का समावेश ही अधिक है । उनकी रचना स्वतंत्र और यथार्थ है । किसी अन्य संप्रदाय के शास्त्रों की नकल करने का आभास सहसा उनमें नहीं मिलता है ।[2] साथ ही वे बहु प्राचीन भी हैं ।[3]

मौर्य सम्राट् चंद्रगुप्त के समय से जैन वाङ्मय नियमित रूप में गुरु शिष्य परम्परा प्रणाली पर बड़ी होशियारी के साथ चला आ रहा था । उसमें अज्ञात भूल का होना असंभव था । उपरांत ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों में वही तत्कालीन ऋषियों की दृढ़ स्मृति पर से लिपि बद्ध कर लिया गया था । अवश्य ही ऋषियों की स्मृति शक्ति की हीनता के कारण उस समय वह सर्वांगरूप में उपलब्ध नहीं हुआ; परन्तु जो कुछ उपलब्ध था, वह बिल्कुल ठीक और यथार्थ था ।[4] इस अवस्था में जैन मान्यता को असंगत बतलाने के लिए कोई कारण दृष्टि नहीं पड़ता । इसलिये श्री पार्श्वनाथ भगवान को भी एक काल्पनिक

व्यक्ति नहीं कहा जा सकता है ।

भारत वसुन्धरा के गर्भ से जो प्राचीन पुरातत्व प्राप्त हुआ है, उससे भी यही प्रमाणित होता है कि प्राचीन भारत में अवश्य ही श्री पार्श्वनाथ एक महापुरुष हो गये हैं; जो जैनियों के तेईसवें तीर्थंकर थे । उड़ीसा प्रान्त में उदयगिरि खण्डगिरि नामक स्थान ''हाथीगुफा'' का शिलालेख के कारण बहु प्रख्यात है । यहां का शिल्पकार्य जैन सम्राट भिक्षुराज महामेघवाहन खारवेल द्वारा निर्मापित कराया गया था; जिनका समय ईसवी सन् से २१२ वर्ष पूर्व का निश्चित है ।[५] इस शिल्पकार्य में भगवान् पार्श्वनाथजी की एक से अधिक नग्न दिगम्बर मूर्तियां और उनके पवित्र जीवन की प्राय: सब ही मुख्य घटनायें बहुत ही चातुर्य से उकेरी हुई मिलती हैं ।[६] अब यदि भगवान पार्श्वनाथ नामक कोई महापुरुष वास्तव में हुआ ही न होता तो आज से सवा दो हजार वर्ष पहले के मनुष्य उनकी मूर्तियां और जीवन घटनायें किस तरह निर्मित करा सकते ? उस समय उनको गुजरे इतना भारी जमाना भी नहीं हुआ था कि लोक अपनी कल्पना को काम में ले आते ! बल्कि बात तो यथार्थ में यही है कि ईसा से पूर्व आठवीं शताब्दि में भगवान, पार्श्वनाथ अवश्य हुये थे; जैसा कि जैन ग्रंथों से प्रमाणित है ।

मथुरा के कंकाली टीले से भी ईसवी की पहली शताब्दि की बनी हुई भगवान् पार्श्वनाथ की नग्न मूर्तियां उपलब्ध हुईं हैं और वहां पर एक ईंटों का बना हुआ बहु प्राचीन जैन स्तूप भी था; जिसका समय बुल्हर और विन्सेन्ट स्मिथ प्रभृति विद्वान् भगवान पार्श्वनाथ का समवर्ती बतलाते हैं ।[७] अब यदि २४वें तीर्थंकर भगवान् महावीर (पांचवी शताब्दि ईसा से पूर्व) के पहले भगवान् पार्श्वनाथ नहीं हुवे तो फिर उस समय का जैन स्तूप कहां से आ गया ?

अत: मानना पड़ता है कि भगवान पार्श्वनाथ अवश्य ही एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे ।

उधर जैनेतर साहित्य पर दृष्टि डालने से भी हमें बौद्ध साहित्य से भगवान् महावीर के पहिले एक जैन तीर्थंकर का होना प्रमाणित होता है । मज्झिमनिकाय में लिखा है कि निगन्थ पुत्र सच्चक ने महात्मा बुद्ध से वाद किया था । अब यदि जैन धर्म भगवान् महावीरजी से पहले का न होता, जो महात्मा बुद्ध के समकालीन थे, तो फिर एक जैन का लड़का (निग्गंथनात पुत्त) महात्मा बुद्ध का समकालीन नहीं हो सकता था ।[८] इस उल्लेख से स्पष्ट है कि भगवान् महावीर के पहले भी कोई महापुरुष जैन धर्म का प्रणेता हो गया था । बौद्ध साहित्य में केवल यही एक उल्लेख नहीं है; बल्कि और भी कई उल्लेख हैं, जिनसे भगवान् पार्श्वनाथ के अस्तित्व और उनके शिष्यों आदि का परिचय मिलता है।[९] अतएव इस तरह भी हम जैन मान्यता को सही पाते हैं ।

आधुनिक विद्वान भी पार्श्व को ऐतिहासिक पुरुष मानते हैं

ऐसे ही उत्कट प्रमाणों को देखकर आधुनिक विद्वानों ने भी भगवान् पार्श्वनाथ को एक ऐतिहासिक महापुरुष माना है । वे कोई काल्पनिक व्यक्ति नहीं थे, यह बात प्राय: सब ही विद्वान मानने लगे हैं । यहां पर उनमें से कुछ का अभिमत उद्धृत कर देना अनुचित न होगा ।

पहले ही प्रसिद्ध भारतीय विद्वान् डॉ.टी.के. लड्डू आदि को ले लीजिए । आप अपने बनारसवाले व्याख्यान में कहते हैं: "यह प्राय: निश्चित है कि जैन धर्म बौद्ध मत से प्राचीन है और इसके संस्थापक चाहे पार्श्वनाथ हों और चाहे अन्य कोई तीर्थंकर जो महावीर से पहले हुए हों ।[१०] प्रख्यात् दार्शनिक विद्वान्

साहित्याचार्य लाला कन्नोमल जज एक लेखमें भगवान् पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता स्वीकार करते हुए लिखते हैं कि "श्री पार्श्वनाथ जैनों के तेईसवें तीर्थंकर हैं । इनका समय ईसा से ८०० वर्ष पूर्व का है ।[११]" इसी तरह 'हिन्दी विश्वकोष' के योग्य सम्पादक श्रीमान् नगेन्द्रनाथ वसु, "हरिवंशपुराण" के परिचय में लिखते हैं कि "जैन धर्म कितना प्राचीन है, इस विषयमें आलोचना करने का यह स्थान नहीं है; तब इतना कह देना ही बस होगा कि जैन संप्रदाय के २३ वें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ स्वामी ख्रीष्टाब्द से ७७७ वर्ष पहले मोक्ष पधारे थे।[१२]" एक अन्य लब्धकीर्ति बंगाली विद्वान् डॉ. विमलचरण अपनी पुस्तक 'क्षत्रिय क्लैन्स इन बुद्धिस्ट इन्डिया' (पृ. ८२ में) में लिखते है कि वैशाली में जैन धर्म का प्रचार भगवान् महावीर से पहले का बतलाते हुये लिखते हैं कि "पार्श्वनाथ द्वारा स्थापित हुये धर्म का प्रचार भारत के उत्तर-पूर्वी क्षत्रियोंमें और खासकर वैशाली के निवासियों में था ।"

दक्षिण भारतीय विद्वान् प्रॉ. एम. एस. रामास्वामी आयंगर लिखते हैं कि "भगवान् महावीर के निकटवर्ती पूर्वज पार्श्वनाथ थे, जिनका जन्म ईसा से पहले ८७७ में हुआ था । उनका मोक्ष काल ईसा से पूर्व ७७७ में माना जाता है। किन्तु इनके उपरान्त एक विश्वसनीय जैन इतिहास को पाना कठिन है ।[१३]" इसी अपेक्षा प्रसिद्ध राधास्वामी महर्षि श्री शिवव्रतलालजी वर्मन श्री पार्श्वनाथ का अस्तित्व स्वीकार करके कहते हैं कि "जैनियों में से कोई" पार्श्वनाथ की पूजा करता है, कोई महावीरस्वामी की, इन सब में मतभेद बहुत कुछ नहीं है ।"[१४] श्री. डॉ. बेनीमाधव बारुआ भी श्री पार्श्वनाथ को महावीरस्वामी का पूर्वागामी तीर्थंकर स्वीकार करते हैं ।[१५]

इस तरह से भारतीय विद्वानों की दृष्टि में भगवान् पार्श्वनाथ एक वास्तविक महापुरुष प्रमाणित हुये हैं। यही हाल पाश्चात्य विद्वानों का है। उनमें बहु प्रसिद्ध प्रो. डॉ. हर्मन जैकोबी के मन्तव्य पर ही पहले दृष्टिपात कर लीजिये। उन्होंने "जैन सूत्रों" की भूमिका में जैन धर्म को बौद्ध मत से प्राचीन सिद्ध करते हुये लिखा है कि "पार्श्व एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे, यह बात अब प्राय: सबको स्वीकार है।"

(The Parsva was a historical person, is now admitted by all, as very probale Jaina Sutras,)B. E. S. XLV Intro. p. XXI).

इसी व्याख्या की पुष्टि डॉ जार्ल चारपेन्टियर "उत्तराध्ययन सूत्र" की भूमिका (पृ. २१) में निम्न शब्दों द्वारा करते हैं :

'We ought also to remember both that the Jain religion is certainly older than Mahavira, his reputed predecessor Parsva having almost certainly existed as a real person, and that, consequently, the main pionts of the original doctrine may have been codified long before Mahavira." (The Uttradhyayan Sutra, Upsala ed Intro. P. 21).

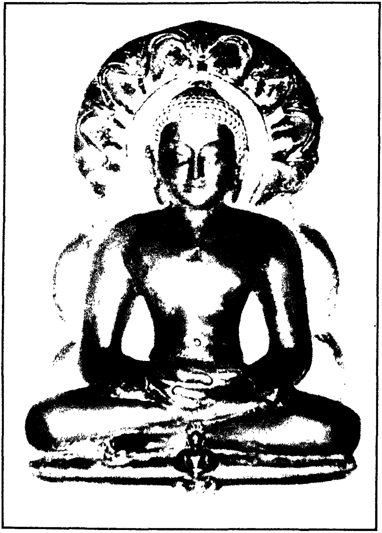
अर्थात् - "हमें यह दोनों बातें याद रखना जरूरी है कि सचमुच जैन धर्म महावीरजी से प्राचीन है। इनके सुप्रख्यात् पूर्वागामी श्री पार्श्व अवश्य ही एक वास्तविक पुरुष के रूप में विद्यमान रहे थे और इसीलिये जैन सिद्धान्त की मुख्य बातें महावीरजी के बहुत पहले ही निर्णीत हो गईं थीं।"

हाल ही में बरलिन विश्वविद्यालय के सुप्रसिद्ध विद्वान् प्रो. डॉ. हेल्मुथ वॉन ग्लासेनॉप्प ने भी जैन मान्यता को विश्वसनीय स्वीकार करके भगवान्

पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता सार पूर्ण बतलाई है ।[१६] गत बेम्बली प्रदर्शनी के समय एक धर्म सम्मेलन हुआ था, उसके विवरण में जैन धर्म की प्राचीनता के विषय में लिखते हुए सर पैट्रिक फैगन ने भी यही प्रकट किया है कि ''जैन तीर्थंकरों में से अंतिम दो-पार्श्वनाथ और महावीर, निस्संदेह वास्तविक व्यक्ति थे; क्योंकि उनका उल्लेख ऐसे साहित्य ग्रन्थों में है जो ऐतिहासिक हैं ।''[१७]

यही बात श्री. ई.पी. राइस साहब स्वीकार करते हैं । (They may be regarded as historical .)[१८] श्रीमती सिन्कलेपर स्टीबेन्सन भी पार्श्वनाथजी को ऐतिहासिक पुरुष मानती हैं ।[१९] फ्रांस के प्रसिद्ध संस्कृतज्ञ विद्वान डॉ. गिरनोट तो स्पष्ट रीतिसे उनको ऐतिहासिक पुरुष घोषित करते हैं । ('There can no longer be any doubt that Parsvanatha was historical personage')[२०] इसी प्रकार अंग्रेजी के महत्वपूर्ण कोष-ग्रंथ ''इंसाइक्लोपेडिया ऑफ रिलीजन एण्ड ईथिक्स'' में (भा. ७ पृ. ४६५) जैन धर्म की प्राचीनता सिद्ध करते हुए कहा गया है कि - ''२३ वें तीर्थंकर पार्श्व बहुतायत से जैन धर्म के संस्थापक कहे जा सकते हैं ।'' परन्तु इससे भी स्पष्ट उल्लेख ''हार्मसवर्थ हिस्ट्री ऑफ दी वर्लड'' भा. २ पृ.११९८ में इस प्रकार है:-

'They (The Jains) believe in a great number of prophets of their faith anterior to Nataputta (Sri Mahavira Vardhamana) and pay special reverence to this last of these, Parsva or Parsvanatha, Herein they are correct, in so far as the latter presonality is more than mythical. He was indeed the royal founder of Jainism (776 B.C) while his succes or, Mahavira was younger by many generations and can be considered only as reformer. As early as the time of Gautam, the religious



श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र, शिरपुर (महा.)

confraternity founded by Parsva, and known as the Nigantha, was a formally established seet, and according to the Buddhist Chronicles, threw numerors difficulties in the way of the rising Buddhism' (Harmsworth's History of the world.' Vol. II. P. 11 98)

अर्थात् - ''जैनी नातपुत्त महावीर वर्द्धमान के पहले कई तीर्थंकरों का होना मानते हैं और उनमें से अंतिम पार्श्व अथवा पार्श्वनाथ की विशेष विनय करते हैं । यह वह ठीक करते हैं क्योंकि वह (पार्श्वनाथजी) पौराणिक से कुछ अधिक अर्थात् ऐतिहासिक पुरुष हैं । यही जैन धर्म के राजवंशी प्रणेता थे; जब कि इनके अनुगामी महावीर इनसे कई सन्तति उपरांत के एक सुधारक ही थे गौतम बुद्ध के समय में ही पार्श्व द्वारा स्थापित धार्मिक संघ, जो 'निगन्थ' नाम से परिचित था, एक पूर्व स्थापित संप्रदाय था और बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार उसने बौद्ध धर्म के उत्थान में बुहत सी अड़चने डालीं थी ।''

इन अभिमतों से भी हमारा उपरोक्त कथन बिलकुल स्पष्ट है कि भगवान पार्श्वनाथ एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे; परन्तु इसके साथ ही यह प्रश्न पहले आ गया है कि क्या पार्श्वनाथ जी ही जैन धर्म के संस्थापक थे, जैसे ऊपर के कितने विद्वानों का मत हैं । हमारे प्रसिद्ध देशभक्त लाला लाजपतराय जी ने तो अपने ''भारतवर्ष का इतिहास'' (भा. १ पृ. १२९) में यह मत जैनियों का बतला दिया है । किन्तु दर असल बात यह नहीं है। जैन लोग तो अपने धर्म को अनादि निधन मानते हैं । वह यथार्थ सत्य है । इस कारण उसका कभी लोप नहीं होता । पर तो भी वह काल चक्र के अनुसार विक्षिप्त और उदित होता रहता है ।

पार्श्वनाथ जैन धर्म के संस्थापक नहीं है

इस काल में जैन धर्म का सर्व प्रथम प्रचार भगवान ऋषभदेव या वृषभदेव ने किया था और उनके बाद कालन्तर से २३ तीर्थंकर और हुये थे । इन सबका समय आजकल के माने हुये प्राचीन और इतिहासातीत काल में जाकर बैठता है । हम आगाड़ी (आगे) इस बात को स्वतंत्र प्रमाणों द्वारा प्रगट करेंगे कि जैन धर्म का अस्तित्व वैदिक काल एवं उससे भी पहले विद्यमान था। इस दशा में हम भगवान् पार्श्वनाथ को जैन धर्म का संस्थापक स्वीकार नहीं कर सकते। प्रत्युत अन्य तीर्थंकरों की तरह वे भी जैन धर्म के प्रवर्तक रहे । कई विद्वान् तो पार्श्वनाथ के पूर्वगामी तीर्थंकरों को भी ऐतिहासिक पुरुष स्वीकार करते हैं ।

बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ : एक ऐतिहासिक पुरुष

श्री नगेन्द्रनाथ वसु, प्राच्य विद्यामहार्णव एम. आर. ए. एस. आदि स्पष्ट लिखते हैं कि - "उन (पार्श्वनाथ) से पहले बाईसवें तीर्थंकर" श्री. नेमिनाथस्वामी भगवान श्रीकृष्ण के संपर्क भ्राता (ताऊ के लड़के) थे।.... भगवान् श्री कृष्ण को यदि हम ऐतिहासिक पुरुष मानते हैं तो हमें बलात् उनके साथ होनेवाले २२ वें तीर्थंकर श्री नेमिनाथ को भी ऐतिहासिक पुरुष मानना पड़ेगा ।[२१] यही बात डॉ. फूरहररने "एपीग्रेफिका इंडिका (भा. १ पृ. ३८९ और भा. २ पृ. २०६ - २०७) में लिखी है कि - " जैनियों के बाईसवें तीर्थंकर श्री नेमिनाथजी ऐतिहासिक पुरुष माने गये हैं । भगवद्गीता के परिशिष्ट में श्रीयुत बरवे स्वीकार करते हैं कि नेमिनाथ श्रीकृष्ण के भाई थे । जब जैनियों के २२ वें तीर्थंकर श्रीकृष्ण के समकालीन थे तो शेष इक्कीस तीर्थंकर श्रीकृष्ण से कितने वर्ष पहले होने चाहिये, यह पाठक स्वयं अनुमान कर सकते हैं ।" इसी

कारण श्रीयुत प्रो. तुकाराम कृष्ण शर्मा लट्टु इत्यादि ने कहा है कि "सबसे पहिले इस भारतवर्ष में 'ऋषभदेव' (प्रथम तीर्थंकर) नाम के महर्षि उत्पन्न हुए। वे दयावान भद्र परिणामी पहले तीर्थंकर हुए जिन्होंने मिथ्यात्व अवस्था को देखकर 'सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र रूपी मोक्षमार्ग का उपदेश किया । बस यह ही जिनदर्शन इस कल्प में हुआ । इसके पश्चात् अजितनाथ (दूसरे तीर्थंकर) से लेकर महावीर तक तेईस तीर्थंकर अपने २ समय में अज्ञानी जीवों का मोह अन्धकार नाश करते रहे।"[२२] इसीलिये श्रीयुत वरदाकांत मुख्योपाध्याय ने ठीक कहा है कि पार्श्वनाथजी जैन धर्म के आदि प्रचारक नहीं थे, किन्तु इसका प्रथम प्रचार ऋषभदेवजी ने किया था । इसकी पुष्टि के प्रमाणों का अभाव नहीं है ।"[२३] हठात् डॉ. हर्मन जैकोबी को भी यह प्रगट करना पड़ा है कि : -

"But there is nothing to prove that Parsva was the founder of Jainism, Jaina traditions is unanimous in making Rishabha the first Tirthankara (as its founder) ..... there may be something historical in the tradition which makes him the first Tirthankara' ' - (Indian Antiquary, VOI, IX. P. 163.)

अर्थात् - 'पार्श्व को जैन धर्म का प्रणेता या संस्थापक सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं । जैन मान्यता स्पष्ट रीति से प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव को इसका संस्थापक बतलाती है । जैनियों की इस मान्यता में कुछ ऐतिहासिक सत्य हो सकता है ।' इस प्रकार पाश्चात्य विद्वानों का पूर्वोक्त मत उन्हीं के वचनों से बाधित है तो भी हम स्वतंत्र रीति से जैन धर्म की प्राचीनता पर प्रकाश डालेंगे; जिससे कि विद्वत्समाज से यह भ्रम दूर हो जाय कि जैनधर्म के संस्थापक पार्श्वनाथ अथवा महावीर थे ।

जैन धर्म की प्राचीनता उसके सिद्धान्तों से प्रकट है-

जैन धर्म की विशेष प्राचीनता स्वयं उसके कतिपय सिद्धांतों से ही प्रगट है। उसमें जो वनस्पति, पृथ्वी, जल, अग्नि आदि पदार्थों में जीवित शक्ति का होना बतलाया गया है, वह उसकी बहु प्राचीनता का द्योतक है । क्योंकि Enthology विद्या का मत इस सिद्धांत के विषय में है कि वह सर्व प्राचीन मनुष्यों का मत (Animistic belief) है । इसके साथ ही जैन सिद्धान्त में तत्त्वों वा द्रव्यों का वर्णन करते समय गुणों का प्रथक् विवेचन नहीं किया गया अर्थात् गुणों को स्वयं एक तत्त्व वा द्रव्य नहीं माना गया है । इससे प्रगट है कि जैन धर्म वैशेषिक दर्शन से बहुत प्राचीन है, जैसे डॉ. जैकोबी प्रगट करते हैं ।[२४] इन दोनों बातों के अतिरिक्त जैनियों की आदर्श पूजा और अणुवाद भी उसकी बहु प्राचीनता को प्रमाणित करते हैं । जैनी उस महान् पुरुषों की पूजा करते हैं जो सर्वोत्कृष्ट, सर्वज्ञ और सर्व हितैषी थे । इस प्रकार की पूजा प्राचीन मनुष्यों में ही प्रचलित थी ।[२५]

सचमुच "जो धर्म अत्यन्त सरल होगा वह अपने से अधिक जटिल धर्म से प्राचीन समझा जायेगा ।[२६]" और यह मानी हुई बात है, जैसे कि मेजर जनरल फरलान्ग साहब कहते हैं कि "जैन धर्म से सरल-पूजा में, व्यवहार में और सिद्धांत में और कौन सा धर्म हो सकता है ?" यही हाल अणुवाद सिद्धान्त का है । 'इन्साइक्लोपेडिया ऑफ रिलीजन एन्ड ईथिक्स' भाग २ पृ.१९९-२०० का निम्न अंश ही इस विषय में पर्याप्त है -

"In the oldest philasophical speculations of the Brahmans, as preserved in the Upanishada, we find no trace of an atomic theory; and it is therefore controverted in the Vedanta Sutra,

which claims systematicaly to interpret the teachings of the Upanishads.Not it is acknoledged in the Sankhya and Yoga pilosophies, which have the next claim to be considered orthodox i.e. to be in keeping with the Vedas; for even the Vedanta Sutra allows them the title of Smritis. But the atomic theory makes an integral part of the Vaisesika, and it is acknoledged by the Nyaya, two Brahmanical philosophies, which have originated by secular scholars (Pandits), rather than by divine or religious men, Among the hetrodox, it has been adopted by the Jains, and....also by the Ajivikas........We place the Jains first because they seem to have worked out their system from the most primitive notions about matter. (ERE. Vol. II. PP. 199-200)

भावार्थ - 'ब्राह्मणों के प्राचीन से प्राचीन सैद्धांतिक ग्रंथों में, जैसे कि वे उपनिषदों में बताये गये हैं,- कोई भी उल्लेख अणु सिद्धान्त का नहीं है और इसीलिये वेदान्त सूत्र में इस का खण्डन किया गया है, जो उपनिषद् शिक्षाओं को व्यवस्थित रीति से बतलाने का दावा करता है । वेदों के समान मान्य सांख्य और योग दर्शनों में भी इस सिद्धान्त का कोई उल्लेख नहीं है । किन्तु वैशेषिक और न्याय दर्शनों में यह स्वीकार किया गया है पर यह दोनों दर्शन अर्वाचीन पंडितों की रचनायें हैं - न कि किसी दैवी या धार्मिक पुरुष की । वेद विरोधी मतों में जैन और आजीविकों को यह सिद्धान्त मान्य था ।.... जैनों को ही हम पहले मुख्य स्थान देते हैं; क्योंकि उन्होंने अपने सिद्धान्त को पुद्गल सम्बन्धी अतीव प्राचीन (most primitive) मतों के अनुसार निर्दिष्ट किया है ।' इस तरह अणु सिद्धान्त भी जैनियों के धर्म को अत्यन्त प्राचीन सिद्ध करता है । इस अवस्था में उसका प्रारम्भ भगवान नेमिनाथ या पार्श्वनाथ अथवा महावीर से

हुआ बतलाना कोरी शेखचिल्ली की कहानी होगी । उसका प्रारंभ जैसे कि जैनियों की मान्यता है, एक बहुत प्राचीनकाल में भगवान ऋषभदेव द्वारा ही हुआ था । इसी कारण प्रसिद्ध संस्कृतज्ञ विद्वान् पुरातत्त्वविदों का जैसे डॉ. ग्लासेनाप्प को यह स्वीकार करना पड़ा है कि ''संभवत: आर्यों का यही (जैन धर्म) सबसे प्राचीन तात्त्विक दर्शन है और अपनी जन्मभूमि में यह आज तक बिना किसी रद्दोबदल के चला आता है।''

पुरातात्त्विक साक्ष्य :

इस काल में जैन धर्म का सर्वप्रथम उपदेश भगवान् ऋषभदेव ने ही एक अतीव प्राचीन काल में दिया था, यह बात पुरातन भारतीय पुरातत्त्व से भी सिद्ध होती है । जैन मंदिरों में ऋषभदेव की अनेक प्रतिमायें 'चौथेकाल' अर्थात् भगवान् महावीर या उनसे पूर्ववर्ती काल की बतलाई जाती है । सचमुच उनमें कोई लेख न रहने से और उनकी बनावट अस्पष्ट और असंस्कृत होने के कारण उन्हें उक्त प्रकार प्राचीन मानना कुछ अनुचित नहीं है । तिस पर जब हम कलिंग महाराजा खारवेल के हाथी गुफा वाले लेख में एक नन्द वंशी राजा द्वारा ऋषभदेव की मूर्ति को कलिंग से पाटलीपुत्र ले जाने का उल्लेख पाते हैं,[२७] तो इस व्याख्या को और भी विश्वसनीय पाते हैं ।

नन्दवंश के पहले से श्री ऋषभदेव की मूर्तियां बनने लगीं थीं, यह बात हाथी गुफा के उक्त प्राचीन शिलालेख से प्रमाणित है । फिर खंडगिरि की गुफाओं में भी श्री ऋषभदेव की मूर्तियां उकेरी हुई हैं और मथुरा के कंकाली टीले से ईसा से पूर्व और बाद की प्रथम शताब्दियों के प्रारंभिक काल की जैन मूर्तियां निकली हैं; जिनमें कई एक ऋषभदेव की हैं ।[२८] इस तरह उपरोक्त वर्णन

से यह स्पष्ट है कि भगवान् ऋषभदेव के अस्तित्व को आज से ढाई हजार वर्ष पहले के लोग स्वीकार करते थे और उन्हें जैनियों का 'आदिपुरुष' मानते थे । हाथी गुफा के उपरोक्त शिलालेख में उनका उल्लेख 'अग्रजिन' के रूप में हुआ है ।[२९] अतएव पुरातन पुरातत्व भी ऋषभदेव को जैन धर्म का इस युग कालीन आदि प्रचारक सिद्ध करता है ।

पाली साहित्य की दृष्टि में ऋषभदेव जैन धर्म के प्रणेता

बौद्ध धर्म के पालि भाषा के साहित्य से भी यह प्रमाणित है कि जैन धर्म महात्मा बुद्ध के जन्म काल में एक सुसंगठित धर्म था और वह 'निगंथ धम्म' के नाम से बहुत पहले से चला आ रहा था । हम पहले ही कह चुके हैं कि बौद्ध ग्रन्थों में जैनियों के सम्बन्ध में अनेक सारगर्भित उल्लेख मौजूद हैं । 'अंगुत्तरनिकाय' में एक सूची महात्मा बुद्ध के समय के साधुओं की दी है और उसमें 'निग्गंथों' (जैनियों) को आजीविकों के बाद दूसरे नम्बर पर गिना है ।[३०] यदि जैनी प्राचीन न होते तो उनकी गणना इस तरह दूसरे नंबर पर नहीं हो सकती थी । इसके साथ ही हम यह भी जानते हैं कि आजीविक मत की सृष्टि भगवान् पार्श्वनाथ के तीर्थ में मक्खलिगोशाल नामक एक भ्रष्ट जैन मुनि द्वारा ही मुख्यता से हुई थी, जैसे कि प्रस्तुत पुस्तक में यथास्थान बताया गया है । इस दशा में आजीविकों को पहले और उनके बाद जैनों को गिनना असंगत है । परन्तु यह संभवतः इस कारण से है कि जैनी उस समय के पहले 'निग्गंथ' नाम से परिचित न होकर किसी अन्य नाम से विख्यात् होंगे । सचमुच श्वेतांबर शास्त्रों में उस काल से पहले के जैन मुनि 'कुमारपुत्त निग्गंथ' नाम से परिचित मिलते हैं ।[३१]

'श्रमण' रूप से भी जैन मुनि पहले विख्यात थे । 'कल्पसूत्र' में जैन धर्म को 'श्रमण धर्म्म' ही लिखा है ।[१२] यही बात दिगम्बर जैन ग्रन्थों से भी प्रमाणित है । इसके साथ ही हम आगे यह भी देखेंगे कि वैदिक काल में जैन लोग 'व्रात्य' नाम से भी परिचित थे । यह बात हिन्दू विद्वान् मानते हैं कि वैदिक मत अहिंसा प्रधान नहीं था - प्रारम्भ से ही उसमें हिंसक विधान मौजूद थे[१३] और जैन धर्म में अहिंसा ही मुख्य है, जिसकी छाप वैदिक धर्म पर आखिर पड़ी थी ।[१४] अत एव जब तक वैदिक मत में अहिंसादि व्रतों को अपनाया नहीं गया था, तब तक उनका अपने प्रतिपक्षी जैनियों को उनके अहिंसा आदि पांच व्रतोंके कारण ''व्रात्य'' नाम से उल्लेख करना सर्वथा उचित था । संभवत: भगवान् पार्श्वनाथ के समय तक जैनी ''व्रात्य'' और ''समण'' नाम से ही परिचित रहे थे और इस के उपरांत वे मुख्यत: ''निगंथ'' नाम से विख्यात हुये। यही कारण है कि उपोरक्त बौद्ध ग्रंथ में उन्हें आजीविकों के बाद दूसरे नम्बर पर गिना गया है ।

जो हो, बौद्ध ग्रंथ के इस उल्लेख से जैन धर्म महात्मा बुद्ध और उनके बौद्ध धर्म से बहुत पहले का प्रमाणित होता है । फिर बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति सर्वज्ञ आप्त के उदाहरण में ऋषभ और महावीर वर्द्धमान का उल्लेख करते हैं । (न्यायबिन्दु अ. ३) इसमें जैनियों के २४ तीर्थंकरों में से आदि अन्त के जैन तीर्थंकरों का उल्लेख करके व्याख्या की सार्थकता स्वीकार की गई है । इसी तरह बौद्धाचार्य आर्यदेव भी जैन धर्म के आदि प्रचारक ऋषभदेव को ही बतलाते हैं।[१५] बौद्धों के प्राचीन ग्रन्थ 'धम्म-पद' में भी अस्पष्ट रीतिसे श्री ऋषभदेव और महावीर का उल्लेख आया है । एक विद्वान् उसके निम्न गाथा का सम्बन्ध जैन धर्म से प्रगट करते हैं और कहते हैं कि इसमें के 'उसभं' और 'वीरं' शब्द

खासकर जैन तीर्थंकरों के नाम अपेक्षा लिखे गए हैं[३६] -

"उसभं पवरं वीरं महेसिं विजिताविनं ।
अनेजं नहातकं बुद्धं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥धम्मपद ४२२॥"

इस प्रकार बौद्ध साहित्य से भी यही प्रकट है कि इस जमाने में जैन धर्म का प्रचार भगवान ऋषभदेव द्वारा हुआ था; जिनके समय का पता लगाना इतिहास के लिए इस समय एक दुष्कर कार्य है ।

वेदों में जैन उल्लेख

अब यदि ब्राह्मण साहित्य पर दृष्टि डाली जाय तो प्रगटत: उसमें भी जैन व्याख्या को विश्वसनीय बतलाया हुआ मिलता है । वैदिक साहित्य में सर्व प्राचीन पुस्तकें वेद माने गये हैं और इनमें ऋग्वेद संसार भर में सर्व प्राचीन पुस्तक बतलाई गई है । अतएव यहां पर हम पहले इन वेदों में ही जैन उल्लेखों को देख लेना उचित समझते हैं । यह प्राय: सबको ही मान्य है कि जैनियों के आप्तदेव 'अर्हत्' अथवा 'अर्हन्' नाम से परिचित हैं । सिवाय बौद्धों के और किसी भी मत ने इस शब्द का व्यवहार नहीं किया है; किन्तु बौद्धों के निकट भी इसके अर्थ एक आप्तदेव से नहीं है - प्रत्युत उनके एक खास तरह के साधुओं का उल्लेख 'अर्हन्' रूप में होता है ।[३७] अतएव जैनियों के ही 'उपासनीय आप्त अर्हन्' नाम से उल्लेखित मिलते हैं और इन्हीं 'अर्हन्' का उल्लेख ऋग्वेद संहिता (अ. २ व. १७) में हुआ हैं ।[३८] 'हनूमान नाटक' (अ. १ श्लो. ३) में भी यही कहा गया है कि 'अर्हन्' जैनियोंके उपासनीय देव हैं । और ऋग्संहिता में (१०/१३६-२) मुनय: वातवसना रूप में भी दिगम्बर जैन मुनियों का उल्लेख मिलता है । डॉ. अलब्रेट वेबर ने वेद के यह शब्द जैन मुनियों के लिये

व्यवहृत हुये स्वीकार किये हैं ।[३९]

ऋषभ[४०], सुपार्श्व,[४१] नेमि[४२] आदि नाम भी ऋग्वेद और यजुर्वेद में आये हैं ।[४३] ऋग्वेद[४४] में ऐसे 'श्रमणों' का भी जिक्र है, जो यज्ञों में होनेवाली हिंसा का विरोध करते थे ।[४५] यह श्रमण जैनों के सिवाय और कोई नहीं हो सकते क्योंकि जैन धर्म स्पष्ट रीति से यज्ञों में होने वाली हिंसा का विरोधक प्रारम्भ से रहा है और वह श्रमण धर्म भी कहलाता है । अन्यत्र प्रस्तुत पुस्तक में हमने ऋग्वेद की प्रजापति परमेष्ठिन वाली ऋचाओं का सम्बन्ध जैन धर्म बतलाया है ।

'छान्दोग्य उपनिषद्' के उल्लेख से प्रजापति का जैन संबंध और भी स्पष्ट हो जाता है । वहां वह नारद के प्रश्न के उत्तर में कहते हुए आत्मविद्या के समक्ष चारों वेदों को कुछ भी नहीं मानते हैं ।[४६] इस प्रकार वेदों के इन सब उल्लेखों से यह स्पष्ट है कि उनके समय में भी जैन धर्म एक प्रचलित धर्म था । तिसपर हिन्दू 'भागवत' में जो ऋषभदेव को आठवां अवतार माना है, उससे उनका अस्तित्व वेदों से भी प्राचीन ठहरता है क्योंकि उनमें १५ वे वामन अवतार का उल्लेख मौजूद है । यही बात है कि हिन्दू प्रॉ. स्वामी विरुपाक्ष वडियर लिखते हैं कि जैन शास्त्रानुसार 'ऋषदेव का नाती मारीचि प्रकृतिवादी था और वेद उसके तत्त्वानुसार होने के कारण ही ऋग्वेद आदि ग्रन्थोंकी ख्याति उसी के ज्ञान द्वारा हुई है । फलत: मारीचि ऋषिके स्तोत्र, वेद-पुराण आदि ग्रन्थों में हैं और स्थान-स्थान पर जैन तीर्थंकरों का उल्लेख पाया जाता है । तो कोई कारण नहीं कि हम वैदिक काल में जैन धर्म का अस्तित्व न मानें ।'[४७] अस्तु-

बहुधा वेदों के उपरोक्त जैन विषयक उल्लेखों के सम्बन्ध में यह आपत्ति की जाती है कि निरुक्त और भाष्य से उनका जैन सम्बन्ध प्रगट नहीं है । किन्तु

इस विषय में हमें यह भूल न जाना चाहिये कि वेदों के जो भाष्य आदि उपलब्ध हैं वह अर्वाचीन हैं। वेदों का वास्तविक अर्थ और उनकी ऐतिहासिक परिपाटी बहुत पहले ही लुप्त हो चुकी थी। भगवान् पार्श्वनाथजी के समकालीन (ई.पू. ७वीं शताब्दि) वैदिक विद्वान् कौत्स्य वेलोंकी असम्बंधता देखकर भौंचक्का सा रह गया था। और उसने वेदों को अनर्थक बतलाया था (अनर्थका हि मंत्राः। यास्क, निरुक्त १५-१) यास्क का ज्ञान भी वेदों के विषय में उससे कुछ ज्यादा अच्छा नहीं थी। (निरुक्त १६/२) फिर ईस्वी चौदहवीं शताब्दि में आकर सायण भी ऋग्भाष्य में वैदिक मान्यता के अर्थ को ठीक-ठीक नहीं पाता है। (स्थाणुरयम् भारहारः किलाभूर्वित्य वेदं न विज्ञानाति योऽर्थम्।) इस दशा में यह कैसे कहा जा सकता है कि वेदों में ऋषभ नेमि, अर्हन् आदि जैनत्व द्योतक शब्दों का अर्थ जो आजकल किया जाता है वही ठीक है? स्वयं ब्राह्मण विद्वान ही उनको जैनत्व सूचक बतलाते हैं। उधर प्राचीन जैन विद्वान उनका उल्लेख जैन धर्म की प्राचीनता के प्रमाण रूप में करते मिलते हैं। तिस पर स्वयं भाष्यकार सायण वैदिक अर्थ को स्पष्ट करने के लिये पुराणादि को प्रमाण भूत मानता है और पुराणादि में ऋषभ, अर्हन् आदि शब्द स्पष्ट जैनत्व सूचक मिलते हैं। अतः वेदों में जैनों का उल्लेख होना प्राकृत सुसंगत है।

रामायण काल में जैन धर्म

वेदों के बाद रामायण में भी जैन उल्लेख मौजूद है; जिससे स्पष्ट है कि 'रामायण काल' में भी जैन धर्म विद्यमान था। रामायण के बालकाण्ड (सर्ग १४ श्लो. २२) के मध्य राजा दशरथ का श्रमणों को आहार देने का उल्लेख है। ("तापसा भुञ्जते चापि श्रमणा भुञ्जते तथा।") श्रमण शब्दका अर्थ भूषण टीका में दिगम्बर साधु किया गया है। ("श्रमणा दिगम्बराः श्रमणा

वातवसना:।'') अतएव यह श्रमण दिगम्बर जैन साधु ही थे । इसके साथ ही **'योगवाशिष्ट'** में जो श्री रामचंद्रजी के मुख से 'जिन' (जिनदेव, जिनकी अपेक्षा 'जैन' नाम है) के समान होने की इच्छा प्रगट कराई गई है, इससे उक्त वक्तव्य की और भी अधिक पुष्टि होती है ।[४८] वाल्मीकीय रामायण में है कि रामचन्द्रजी राजसूय यज्ञ करने को राजी हुए थे, परन्तु भातजीन उन्हें अहिंसा धर्म का महत्त्व समझा कर ऐसा करने से रोक दिया था । (देखो प्रिंसपिल्स आफ हिन्दू ईथक्स पृ. ४४६) रामचन्द्रजीके 'श्वसुर जनक बहु प्रसिद्ध हैं । जैन पुराणों से जाना जाता है कि वह पहले वेदानुयायी थे; परन्तु उपरांत जैन धर्म का प्रभाव उन पर पड़ा था और वे जैन धर्म के ज्ञाता हुये थे ।[४९] हमें हिन्दू शास्त्रों में भी एक जनक राजा का उल्लेख इसी तरह मिलता है, किन्तु वह काशीराज बतलाये गये हैं । कहा है कि एक बार महर्षि मार्ग्य उनके पास पहुंचे और उन्हें उपदेश देने लगे । पर वह उनको अधिक उपदेश दे न सके; प्रत्युत उन्होंने स्वयं ब्राह्मण होते हुये भी उन क्षत्रीराजसे ब्राह्म धर्म आत्म धर्म का उपदेश ग्रहण किया था ।[५०] जैन धर्म क्षत्रियों द्वारा प्रतिपादित आत्म धर्म ही है । अतएव रामायण के जमाने में भी जैन धर्म वर्तमान था ।

महाभारत के समय जैन धर्म

रामायण के बाद महाभारत काल में भी जैन धर्म के चिन्ह मिलते हैं । 'महाभारत'के अश्वमेघ पर्व की अनुगीता अ. ४८ श्लो. २ से १२ तक में जैन और बौद्ध के अलग २ होने की साक्षी है । इसके अतिरिक्त महाभारत के आदि एवं अ. ३ श्लो. २६-२७ में भी जैन मुनियों का उल्लेख 'नग्न क्षपणक' के रूप में है । 'अद्वैतब्रह्मसिद्धि' नामक हिन्दू ग्रन्थ के कर्ता क्षपणक के अर्थ जैन मुनि करते हैं । यथा: ''क्षपणका जैन मार्ग सिद्धांत प्रवर्तका इति केचित् ।''

(पृ. १६९) अन्य श्रोतों से भी क्षपणक के अर्थ यही मिलते हैं ।[५१] इसके साथ ही महाभारत शांति पर्व, मोक्ष धर्म अ. २३९ श्लो. ६ में सप्तभंगी नयका उल्लेख है। फिर इसी पर्व के अ. २६३ पर नीलकंठ टीका में ऋषभदेव के पवित्र चरण का प्रभाव आर्हतों वा जैनों पर पड़ा कहा गया है ।[५२] इन उल्लेखों से महाभारत काल में भी जैन धर्म का प्रचलित होना सिद्ध है ।

उपनिषदों में जैन धर्म

भगवान् पार्श्वनाथ के पहले से उपनिषदों का बहु प्रचार हो रहा था और उस समय भी जैन धर्म का अस्तित्व यहां प्रमाणित है । उपनिषदों से यह बात प्रगट है कि वेदों के साथ ही कोई वेद विरोधी ऐसे तत्त्ववेत्ता अवश्य थे; जिनकी 'ब्रह्म विद्या' (आत्म विद्या) के आधार पर उपनिषदों की रचना हुई थी । श्रीयुत उमेशचन्द्रजी भट्टाचार्य ने यह व्याख्या अन्यत्र अच्छी तरह प्रमाणित कर दी है।[५३] उनका कहना है कि इस समय उस ब्रह्म विद्या का प्राय: सर्वथा लोप है। उसके बचे-खुचे कुछ चिन्ह उपनिषदों में ही यत्र तत्र मिलते हैं । उस समय वेदों और उपनिषदों के अतिरिक्त ब्रह्म विद्या विषयक साहित्य 'श्लोक' नाम से अलग प्रचलित था । अब तनिक विचार ने की बात है कि उपरोक्त ब्रह्मवादी कौन थे । यदि हम 'ब्रह्म' शब्द को जीव-अजीव का द्योतक मानें जैसा कि प्रगट किया गया है[५४] तो उसका सामंजस्य जैन सिद्धान्त से ठीक बैठता है !

उपनिषद काल में जैन धर्म का मस्तक अवश्य ऊँचा रहा था, यह बात 'मुण्डकोपनिषद' एवं 'अथर्व वेद' के उल्लेखों से प्रमाणित है; जैसे कि हम आगे देखेंगे । जर्मनी के प्रसिद्ध विद्वान् हर्टल साहब ने यह सिद्ध किया है कि 'मुण्डकोपनिषद' में करीब २ ठीक जैन सिद्धांत जैसा वर्णन मिलता है और

जैनों के पारिभाषिक शब्द भी वहां व्यवहृत हुये हैं ।[५५] इस पर जैनों के 'पउमचरिय' नामक प्राचीन ग्रन्थ से 'मुण्डकोपनिषद' के कर्ता ऋषि, अंगरिस जैनों के मुनि पद से भ्रष्ट हुये प्रगट होते हैं । उन्होंने अपने ग्रन्थों में वैदिक धर्म को जैन धर्म से मिलता जुलता बनाने का प्रयत्न इसीलिये किया था कि वैदिक धर्मावलम्बी जैनधर्म की और अधिक आकृष्ट न हो ।[५६] प्राचीन 'ब्रह्मविदों' के 'श्लोक साहित्य' के जो यत्र तत्र अंश मिलते हैं । उनका यदि विशेष अध्ययन किया जाय तो हमें विश्वास है कि उनकी शिक्षा जैन धर्म के विरुद्ध नहीं पड़ेगी । 'कठोपनिषद' में (२-६-१६) प्राप्त 'श्लोक साहित्य' का एक अंश हमने देखा है और उस में जैन धर्म से कुछ भी विरोध नहीं है ।

जैन मान्यता के अनुसार यह प्रगट है कि जैन-वाणी (द्वादशांग श्रुतज्ञान) की सर्व प्रथम रचना इस काल में ऋषभदेव द्वारा हुई थी और वह श्लोक बद्ध थी। जैन शास्त्रों में उसकी अलग-अलग श्लोक संख्या दी हुई है ।[५७] अत: इससे यह संभव है कि उस समय जैन श्रुत ही 'श्लोक साहित्य'के नाम से परिचित हो । शायद इस में विषयक आपत्ति हो, क्योंकि जैन श्रुत अर्द्ध मागधी भाषामय बताया गया है । किंतु अर्धमागधी का उल्लेख भगवान महावीर के श्रुतज्ञान के सम्बन्ध में है और उसकी अर्धमागधी भाषा मागधदेश अपेक्षा ही बताई गई है ।[५८] इस दशा में यह नहीं कहा जा सकता कि भगवान् ऋषभदेव द्वारा प्रतिपादित श्रुतज्ञान किस भाषा में ग्रन्थ बद्ध था? बहुत संभव है कि यह प्राचीन संस्कृत से मिलती जुलती भाषा में हो । भगवान ऋषभदेव द्वारा एक संस्कृत व्याकरण ग्रन्थ रचे जाने का उल्लेख मिलता ही है ।[५९] इस प्रकार उपनिषदों से भी तत्कालीन जैन धर्म के अस्तित्व का पता चलता है ।

शाकटायन के प्रमाण

भारतीय वैयाकरणों में शाकटायन बहु प्रसिद्ध और बहु प्राचीन हैं । इन्होंने अपने व्याकरण में जैन धर्म का उल्लेख किया है । बल्कि यह स्वयं जैन थे, यह बात प्रॉ. गुस्टव आपर्ट ने अपने ''शाकटायन व्याकरण'' (मद्रास सन् १८९३) की भूमिका में अच्छी तरह सिद्ध की है ।[६०] वह लिखते हैं, ''पाणिनि ने अपने व्याकरण में शाकटायन का बहुत जगह वर्णन किया है । पातंजलिने भी अपने महाभाष्य में शाकटायन का प्रमाण दिया है । शाकटायन के बनाये हुये उणादि सूत्र वैयकरणों में भले प्रकार प्रचलित हैं । शाकटायन का नाम ऋग्वेद के प्रातिशाख्य, शुक्ल, यजुर्वेद और यास्क के निरुक्त से भी आया है । वोपदेव के 'कवि-कल्पद्रुम' से[६१] जहाँ आठ प्रसिद्ध वैयाकरणों का वर्णन है उन में शाकटायन का भी नाम है । इनमें से केवल इन्द्र का ही नाम शाकटायन ने अपने व्याकरण में लिया है । शाकटायन के बनाये हुए **शब्दानुशासन** के हर एक पाठ के शुरू में यह वाक्य है - ''**महाश्रमण** संघाधिपते: श्रुतकेवलिदेशीचार्यस्य शाकटायनस्य'' इससे स्पष्ट है कि शाकटायन जैन मुनि थे ।'[६२] इनके 'उणादिसूत्र' में ''इण् जिस् जिदीङुष्यवियोनक्'' सूत्र २८९ पाद ३ है; जिसका अर्थ सिद्धांतकौमुदी के कर्ता ने 'जिनोर्हन्' किया है । इसका भाव जैन धर्म के संस्थापक से है, क्योंकि हिन्दू ग्रन्थों में जैन धर्म के संस्थापक का उल्लेख सर्वत्र 'जिन' का अर्हन् रूप में किया गया है । यह शाकटायन निरुक्ति के कर्त्ता यास्क के पहिले हुये थे और यास्क पाणिनि से कितनी ही शताब्दियों पहले हुए, जो महाभाष्य के कर्ता पातंजलि के पहले विद्यमान थे । अब पातंजलि को कोई तो ईसा से पूर्व २री शताब्दिका बताते हैं ।[६३] और कोई ईसा से पहले ८वीं या २०वीं शताब्दि में हुआ बतलाते हैं ।[६४] किन्तु जो हो, इससे

यह स्पष्ट है कि वैयाकरण शाकटायन ऋग्वेद के प्रातिशाख्यों के पहले हो चुके थे और इस दशा में भी जैन धर्म बहु प्राचीन सिद्ध होता है ।

वैदिक पुराणों में जैन धर्म के प्रमाण

हिन्दुओं के पुराण ग्रन्थों से भी जैन धर्म की प्राचीनता स्वयंसिद्ध है । उनके सर्व प्राचीन विष्णुपुराण में जैन तीर्थंकर सुमतिनाथका उल्लेख है ।[६५] तथापि उस में जैन धर्म की उत्पत्ति देव और असुरों के युद्ध के परिणाम स्वरूप स्वयं विष्णु के शरीर से उत्पन्न मायामोह नामक पुरुष के द्वारा बहु प्राचीन काल में हुई बतलाई गई है । माया मोह मुण्डे सिर, नग्न रूप, हाथ में मयूरपिच्छ लिये और तपस्या करते नर्मदा तट पर अवस्थित असुरों के आश्रम में पहुंचे और उनको जैन धर्मरत किया, यह भी इस पुराण में लिखा है । यह असुर 'आर्हत' कहलाये । (देखो बंगाली आवृत्ति, अंश ३ अ. १७-१८)

भागवत पुराण में जैन धर्म के प्रणेता श्री ऋषभदेव का विशेष वर्णन है । उनको वहां २२ अवतारों में आठवां बतलाया है । उनकी वंश परम्परा सम्बंध में लिखा है कि १४ मनु हुये, जिनमें स्वयंभू मनु पहले थे । ब्रह्मा ने जब देखा कि मनुष्य संख्या नहीं बढ़ी तो उसने स्वयंभू मनु और सत्यरूपा को पैदा किया और सत्यरूपा स्वयंभू मनु की पत्नी हुई । प्रियव्रत नामक पुत्र हुआ; जिन के आग्नीन्ध और उसके नाभि हुये । नाभि का विवाह मरुदेवी से हुआ और इनसे श्री ऋषभदेव हुये ।[६६] भागवत में स्पष्ट रीति से इन ऋषभदेव को स्वयं भगवान् कैवल्य पति लिखा है । तथा उनको दिगम्बर वेष और जैन धर्म का चलानेवाला बतलाया है ।[६७] इस उल्लेख से प्रगट है कि सृष्टि के प्रारम्भ में, जैसे हिन्दू मानते हैं, जब ब्रह्मा ने स्वयंभू मनु और सत्यरूपा को उत्पन्न किया तो

ऋषभदेव तब उससे पांचवी पीढ़ी में हुये और ''पहले सतयुग के अन्त में हुये और २८ सत युग इस अरसे तक व्यतीत हो गये।''[६८] इस प्रकार ऋषभदेवका अस्तित्व एक अतीव प्राचीन काल में प्रगट होता है और यह सर्वमान्य है कि भागवतोक्त ऋषभदेव ही जैनों के प्रथम तीर्थंकर है ।[६९] उनके माता पिता का नाम और शेष वर्णन भागवत में भी प्राय: वैसा ही है जैसा जैन शास्त्रों में है ।

भागवत के अतिरिक्त 'वराहपुराण[७०]' और 'अग्निपुराण[७१]' में भी ऋषभदेव का उल्लेख विद्यमान है । 'प्रभासपुराण' में तो केवल ऋषभदेव का ही नहीं, बल्कि २२ वें तीर्थकर श्री नेमिनाथजी का उल्लेख भी मौजूद[७२] है । इनके अतिरिक्त हिंदू 'पद्मपुराण' में वेदानुयायी राजा वेणके जैन होने का वर्णन मिलता है । जब वह राज्य कर रहे थे तब दिगंबर जैन मुनि उनके पास आये थे और उन्हें देव, शास्त्र, गुरु का स्वरूप समझाकर जैन धर्म का श्रद्धानी बनाया था।[७३] 'वामनपुराण' में वेण को ब्रह्मा से छठी पीढ़ी में हुआ बताया है ।[७४] इससे भी जैन धर्म की प्राचीनता प्रमाणित है । 'शिवपुराण' 'अर्हन्' भगवान् का शुभ नाम पाप नाशक और जगत सुख दायक बतलाया गया[७५] है । नागपुराण में कहा है कि जो फल ६८ तीर्थों के यात्रा करने में होती है, वह फल आदिनाथ (ऋषभदेव) के स्मरण करने से होता[७६] है ।

इस प्रकार पुराण ग्रन्थों से भी जैनधर्म की प्रीचानता स्पष्ट है । इन पुराणों के कथन बहु प्राचीन कथानकों के आधार पर हैं और उन में सत्यांश मौजूद है; यह बात आधुनिक विद्वान् भी स्वीकार करते हैं ।[७७]

'व्रात्य' प्राचीन जैनों का द्योतक

अब तक के विवेचन से जैन धर्म की प्राचीनता का बोध पूर्ण रूपेण हो

गया है : परन्तु हम पूर्व में यह बतला आये हैं कि भगवान् महावीर के पहले जैनों का उल्लेख 'व्रात्य' रूप में उसी तरह होता था, जिस तरह उपरांत वे 'निर्ग्रन्थ' और 'अर्हत्' नाम से प्रख्यात् हुये थे और अब जैन नाम से प्रसिद्ध हैं। इसलिये यहां पर हमको अपने इस कथन की सार्थकता भी प्रकट कर देना उचित है । इसके लिये हमें दक्षिणी जैन विद्वान् प्रो. ए. चक्रवर्ती महोदयके महत्त्वपूर्ण लेख का आश्रय लेना पड़ेगा, जो अंग्रेजी जैनगजट (भा. २१ नं. ६) में प्रकाशित हुआ है । इस सहाय्य के लिये हम प्रोफेसर साहब के विशेष आभारी हैं ।

वैदिक साहित्य में 'व्रात्य' शब्द का प्रयोग विशेष मिलता है और उससे उन लोगों का आभास मिलता है जो वेद विरोधी थे और जिनको उपनयन आदि संस्कार नहीं होते थे । मनु व्रात्य विषय में यही कहते हैं कि "वे लोग जो द्विजों द्वारा उनकी सजातीय पत्नियों से उत्पन्न हुये हों, किन्तु जो धार्मिक नियमों का पालन न कर सकने के कारण सावित्री से प्रथक् कर दिये गये हों, व्रात्य हैं।" (मनुस्मृति १०/२०) यह मुख्यतया क्षत्रिय थे । मनु एक व्रात्य क्षत्रिय से ही छल्ल, मल्ल, लिच्छवि, नात, करण, खस और द्राविड़ वंशों की उत्पत्ति बतलाते हैं । (मनुस्मृति १०/२२) व्रात्य लोगों का पहनाव भी प्रथक् रूप का था । उनकी एक खास तरह की पगड़ी (निर्यन्नद्ध) थी - वे एक वल्लभ और एक खास प्रकार का धनुष (ज्यह्वोद) रखते थे - एक लाल कपड़ा पहनते और रथ में चलते थे । उनका एक चांदी का आभूषण 'निश्क' नाम का था । वे मुख्यत: दो विभागों हीन और ज्येष्ठ में विभक्त थे । यद्यपि वे संस्कारों से रहित समझ लिये जाते थे, परन्तु वैदिक आर्य उनको पुन: अपने में वापस ले लेते थे । उनके वापस लेने की खास क्रियायें 'व्रात्यस्तोम' नाम से थी ।

आधुनिक विद्वान् प्रॉ. वेबर साहब ने इन्हें उपरान्त की बौद्ध जातियों सदृश माना है और बतलाया है कि यह बौद्धों के समान कोई ब्राह्मण विरोधी लोग थे। किन्तु प्रॉ. साहब का यह अनुमान भ्रान्तमय है, क्योंकि बौद्ध धर्म का जन्म ब्राह्मण साहित्य से बहुत पीछे का है। इसी तरह अन्य विद्वानों का इन्हें कोई विदेशी असभ्य जाति अथवा रुद्रशिव सम्प्रदाय बतलाना भी भ्रांति से खाली नहीं है। सचमुच यह व्रात्य लोग आर्य थे और विशेषत: क्षत्री आर्य थे; क्योंकि वैदिक ग्रन्थों में कहा है कि व्रात्य न ब्राह्मणों की क्रियायों को पालते थे और न कृषि या व्यापार ही करते थे। इसलिये व्रात्य न तो ब्राह्मण थे और न वैश्य थे। वे योद्धा थे, क्षत्रिय थे।[७८]

अस्तु; पूर्व पृष्ठों में हम यह बतला ही आये हैं कि वेदों में खासकर ऋग्वेद संहिता में ऋषभ अथवा वृषभ, अरिष्टनेमि आदि जैन तीर्थंकरों के नाम खूब मिलते हैं और भागवत, विष्णु[७९] आदि पुराणों के अनुसार यह ऋषभदेव जैन धर्म के आदि संस्थापक और क्षत्री वंश के थे- यह भी प्रगट है। जैन शास्त्र भी इन तीर्थंकरों को क्षत्रिय वंशोद्भव ही बतलाते हैं।

इतना ही क्यों ? उनके अनुसार आर्य मर्यादा की सृष्टि इक्ष्वाकु वंशीय क्षत्रियों द्वारा ही हुई हैं।[८०] ऋग्वेद के वृषभ अथवा ऋषभदेव का इक्ष्वाकुवंश और पुरुकुल है। महाकवि कालिदास भी इक्ष्वाकुवंशी राजाओं के राजर्षि होने की साक्षी देते हैं।[८१] जैन तीर्थंकरों में बीस इसी वंश के थे और शेष चार अन्य हरिवंश आदि के थे। उपनिषदों में जिस आत्म विद्या और नियमों का वर्णन है, वह भी इन्हीं इक्ष्वाकु वंशी क्षत्रियों के प्रभाव का परिणाम है। संभवत: काशी, कौशल, विदेह आदि पूर्वीय देशों के आर्य पश्चिम के कुरु, पाञ्चाल् आर्यों के पहले से हैं और इन प्रदेशों में जैन धर्म का प्रभाव महात्मा बुद्ध के पहले से

विद्यमान था ।[८२] तिसपर मनु ने जिन झल्ल, मल्ल, लिच्छवि, नात, द्राविड़ आदि जातियों को व्रात्य क्षत्रिय की संतान लिखा है, वह प्राय: सब ही जैन धर्म की मुख्य उपासक मिलती है । मल्ल क्षत्रियों की राजधानी पावा से ही अंतिम तीर्थंकर महावीर स्वामी ने निर्वाण लाभ किया था ।[८३] भगवान महावीर तब तक वहां पुहंचे नहीं थे, परन्तु तो भी वह उनके अनन्य भक्त थे और भगवान् को अपने नगर में देखने के इच्छुक थे । इससे प्रकट है कि उनमें जैन धर्म का श्रद्धान भगवान् महावीर से पहले का विद्यमान था ।

लिच्छवि क्षत्रियों में भी जैन धर्म की विशेष मान्यता थी ।[८४] वे पहले से जैन धर्मानुयायी थे; क्योंकि उनके प्रमुख राजा चेटक को जैन ग्रन्थों में पहले से ही जैन धर्म का श्रद्धानी लिखा है । यही राजा भगवान् महावीर के मातुल थे । नात अथवा नाथवंश में तो स्वयं भगवान् महावीर का जन्म ही हुआ था और भगवान के माता-पिता एवं अन्य परिजन पहले से ही जैन धर्म के श्रद्धानी थे ।[८५] द्राविड लोगों में जैन धर्म का बहु प्रचार रहा है, यह सर्व प्रकट है । लात्यायन सूत्रों से यह प्रकट ही है कि व्रात्य का मुख्य स्थान बिहार था,[८६] जो जैन तीर्थंकरों के कार्य का भी लीला स्थल रहा है । अतएव इन बातों का देखने से ही यह ठीक जंचता है कि व्रात्य लोग जैन थे, अथवा जैनों का प्राचीन नाम 'व्रात्य' था ।

वेदों के अरुण-मुख यति भी जैन थे

किन्तु इतने से ही सन्तोष कर लेना ठीक नहीं है । आगे यह बात प्रगट है कि वेदों से एक यज्ञ विरोधी दल का अस्तित्व सिद्ध है, जो यति कहलाते थे । यही यति 'अरुणमुख' कहे गये हैं अर्थात् इनके मुख में वेदों का पाठ नहीं था । तथापि यह वेदों के यज्ञ विधान के भी विरोधी थे, क्योंकि इसी कारण इन्द्र ने

इन्हें सजा दी थी । ताण्ड्य ब्राह्मण में (१४/२/५/२८) यह यूं लिखी हैं :

'इन्द्रो यतीन् सालवृकेभ्य: प्रयच्छत्तम् अस्तीलावग अभ्यवदत सोऽशुद्धो मन्यत स एतत् शुद्धाशुद्धियं अपश्यत्तेन अशुद्वयत् ।'

अर्थात् 'इन्द्र ने यतियोंको गीदड़ों के सम्मुख डाल दिया । एक दुर्वाणाने उससे कहा - (टीकाकार के अनुसार उसे ब्राह्मण हत्या का पातकी बताते हुये) ''उसने अपने आपको अशुद्ध जाना । उसने '**शुद्धाशुद्धिये मंत्र**' (एक खास श्रमण कथन)[८७] देखा और वह पवित्र हो गया ।'' यही कथा इसी ग्रन्थ में (१८/१/९) फिर कही गई है और इसमें उक्त मंत्र देखने के स्थान में इन्द्र को प्राजपति के[८८] पास गया लिखा है, जिनने उसे 'उपहव्य' दिया था । इन्द्र और यतियों की यह कथा ऐतरेय ब्राह्मण (७/२८) और ताण्ड्य ब्राह्मण (८/१/४ और १३/८/१७) में भी दी गई है । ऐतरेय ब्राह्मण इन्द्र यतियों का भेड़ियों के डालने और अरुणमुखों के मारने आदि के कारण सोमरस पान करने से वंचित हुआ लिखा है और 'ताण्ड्य ब्राह्मण' में कहा गया है कि इन्द्र ने यतियों को गीदड़ों के सामने डाल दिया, पर तब भी तीन-पृथुरश्मि, बृहद्गिरी और रयोवज बच रहे । इन्द्र ने इन्हें पालपोस कर बड़ा किया और युवा होने पर उन्हें वरदान दिया। पृथुरश्मि ने राज्य बल की आकांक्षा की-सो 'पर्थरस्म समन के द्वारा इन्द्रने उसे राजबल दिया । बृहद्गिरी ने ब्राह्मण गौरव पाने की अभिलाषा की, सो इंद्रने 'बृहद्गिरि' समन के बल उसे वह गौरव दिया और रयोवज ने पशुधन चाहा, इंद्रने 'रयोवजीय' समन के द्वारा उसे पशु धन भेंट किया ।

इस ग्रन्थ के टीकाकार इन यतियों कों वह व्यक्ति बतलाते हैं जो वेद विरुद्ध नियमों का पालन करते थे; यज्ञों के विरोधी थे और कर्मकाण्ड के निषेधक थे । इसमें ऐसे ब्राह्मण थे जो 'ज्योतिष्टोम' आदि यज्ञ न करके अन्य

प्रकार का जीवन यापन करते थे । इन उल्लेखों में (१) यतियों को यज्ञ विरोधी सन्यासी लिखा है, जो यज्ञ मंत्रों का भी उच्चारण नहीं करते थे; (२) वैदिक आर्यों में उनकी प्रसिद्धि नहीं थी और वे इन्द्र एवं इन्द्र भक्तों द्वारा प्रताड़ित हुये थे; (३) किन्तु जिस उद्देश्य के लिए यती खड़े हुये थे, वह एक समय इतना प्रबल हो गया कि इन्द्र पूजा और सोमयज्ञ बन्द हो गये ।[८९] स्वयं इंद्र पर हत्याओं के पातक लगाए गए । (४) इस झगड़े के अन्त में यज्ञवाद की विजय हुई और इन्द्रपूजा एवं यज्ञों की पुनरावृत्ति हुई । (५) यह यती जैन यतियों के समान हैं; क्योंकि टीकाकार सायण इन यातियों के कपाल को 'महा खर्जूरफल' के समान अर्थात् बिल्कुल घुटी हुई बतलाते हैं । जैसी कि वस्तुत: जैन यतियों की होती है । हिन्दू पद्यपुराण आदि ग्रन्थों में जैन मुनियों का वर्णन करते हुये उन्हें 'सितमुण्डो' बतलाया है । इससे अहिंसा धर्म के अनुयायी जैनों का अस्तित्व उपरांत के वैदिक काल में सिद्ध होता है । इस तरह भी 'व्रात्यों' का जैन होना प्रकट है; क्योंकि उपरोक्त उल्लेखों से उस समय जैन यतियों का होना प्रमाणित है । अस्तु;

व्रतों को पालने की मुख्यता से जैनों का प्राचीन नाम व्रात्य है

जैनाचार ग्रन्थों में चारित्र के दो भेद (१) अणुव्रत और (२) महाव्रत किये गये हैं । अणुव्रत गृहस्थों के लिए हैं और महाव्रतों का पालन यतिगण करते हैं । महाव्रतों को 'अग्रव्रत' अथवा 'अनागार व्रत' भी कहते हैं । जैन धर्म प्रारम्भसे ही अजैनों को दीक्षित करने का हामी रहा है । आर्य और अनार्य सब ही उसमें दीक्षित किये जा चुके हैं ।[९०] गृहस्थों अथवा श्रावकों के लिये ग्यारह प्रतिमाओं (दर्जों) का विधान है और सबसे नीची अवस्था में केवल जैन धर्म का श्रद्धानी होना पर्याप्त है - उसमें व्रतों तक का अभ्यास नहीं किया जाता

है इसलिए यह अव्रत दशा कहलाती है । ब्राह्मण ग्रन्थों में इनका उल्लेख व्रत्व धन पाने के योग्य पुरुष के रूप में हुआ है । इससे बढ़कर व्रती श्रावक हैं यह कुछ व्रतों का पालन करते हैं । फिर श्रावक प्रतिमाओं में विशेष २ व्रतों जैसे सामायिक प्रोषधोपवासादि के अनुसार उपरोक्त शेष भेद निर्दिष्ट हैं । अंतिम ग्यारहवीं प्रतिमावाले चेल खण्डधारी उत्कृष्ट श्रावक कहलाते हैं ।

इनके बाद यति हैं जो बिलकुल नग्न रहते और निर्जन स्थानों में ज्ञान ध्यानमयी जीवन व्यतीत करते हैं; जैसे कि प्रस्तुत पुस्तक में यथास्थान बता दिया गया है । यूनानी लोगों ने जिन साधुओं का उल्लेख 'जैम्नोसोफिस्ट्स' (Gymnosophists) नाम से किया है, वह यही है । श्रावक इन यतियों को उनकी आहार की वेला पर आहारदान देकर बड़ा पुण्य संचय करते हैं । अथर्व वेद में जो गृहस्थ के एक व्रात्य को पड़गाहने और उसके फल स्वरूप विविध लाभ पाने का वर्णन है वह बिलकुल जैन यति को आहार दान देने की विधि और फल के विवरण के समान है । जैन तीर्थंकर ही सर्वोच्च यति हैं, जो मार्ग प्रभावना (धर्मोद्योत) करने के लिये अद्वितीय हैं । इन तीर्थंकरों की भक्ति देव देवेन्द्र करते हैं । उनके पंचकल्याणक करने, समवशरण रचने आदि का वर्णन पाठक प्रस्तुत पुस्तक में यथास्थान पढ़ेंगे । इन सब बातों को ध्यान में रखने से ही हम 'व्रात्यों' का यथार्थ भाव समझ सकें और उन्हें जैन ही पायेंगे; जैसे कि पहले ही हम प्रगट कर चुके हैं ।

'व्रात्य' शब्द व्रतों को पालन करने के कारण निर्दिष्ट हुआ है, यह पहले ही कहा जा चुका है । कोषकारों का अभिमत भी यही है और 'प्रश्नोपनिषद' (२-११) के अग्निके प्रति 'व्रत्यस्त्वम्' उल्लेख से भी यही प्रगट है । शंकर इसकी टीका में कहते हैं कि 'वह स्वभाव से शुद्ध है ।' (स्वाभवत: एव शुद्ध

इति अभिप्रायः) इससे केवल विनय भाव को लेना ठीक नहीं; बल्कि इससे यह भी प्रगट है कि व्रात्य लोगों में ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य द्विजों के अतिरिक्त अन्य अनार्य लोग भी संमिलित हैं । जैसे कि जैनों में वस्तुतः थे । मनु ने ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य इन तीन तरह के व्रात्योंका उल्लेख किया ही है । अब जब कि व्रात्यमत का उद्देश्य वेदों के विरुद्ध बहु प्रचार करने का था तो यह नितान्त आवश्यक है कि वे ऐसी भाषा में अपने सिद्धान्तों को प्रगट करते जो सरल और जनप्रिय होती ।

सचमुच व्रात्यों की भाषा जैनों की प्राकृत भाषा के समान ही थी क्योंकि उनके विषय में कहा गया है कि 'जो बोलने में सुगम है उसको वे कठिन बतलाते हैं ।' (अधुरुक्तम् वाक्यम् दुरुक्तम् आहुः) इस उल्लेख से साफ जाहिर है कि वे संस्कृत नहीं बोलते थे । अतएव इस समञ्जस्य से भी 'व्रात्यों' का जैन होना सिद्ध है । मध्य काल में भी जैन लोग 'व्रती' (Verteis) नाम से परिचित थे ।[११]

व्रात्यों को 'गरगिर' शब्द भी जैन सूचक-

ब्राह्मण ग्रंथों में व्रात्यों का उल्लेख 'गरगिर' रूप में भी हुआ है; जिसका अर्थ सायण उन लोगों से करता है जो विष भक्षण करते थे । ब्राह्मण के मूल श्लोक के साथ यह व्याख्या-वाक्य भी है कि "ब्रह्मदयं जन्यं अन्नुम अदंति।" सायण इसके अर्थ करता है कि "वे ब्राह्मणों के लिये खास तौर से बनाये गये भोजन को खाते हैं । " लात्याधन सूत्रों के टीकाकार अग्निस्वामी लिखते हैं कि "गरगिर व एते ए ब्रह्मद्यं जन्ममंत्रम् अदंति ।" सचमुच यहां कुछ गड़बड़ घोटाला है । 'गिरगिर' का अर्थ विषभक्षक अथवा विषाक्त भाषी के हो सकते हैं। दोनों ही तरह यह शब्द उपहास सूचक है । सायण के अर्थ इस

आधार पर अवलंवित हैं कि आगन्तुक रूप में व्रात्य वह भोजन भी ग्रहण कर लेते हैं जो ब्राह्मणों के लिये बना हो; अर्थात् उनकी दृष्टिसे जिसको (आहारदान को) ग्रहण करने का अधिकार केवल ब्राह्मणों ही को था, इस दशा में व्रात्यों द्वारा अपने इस अधिकार का अपहरण होता देखकर ब्राह्मणों ने उपरोक्त शब्द का व्यवहार उनके लिए भर्त्सनामय आक्षेप में किया है यदि उक्त शब्द का अर्थ अग्निस्वामी के अनुसार माना जाय तो उसके अर्थ ''विषाक्त भाषी'' के होंगे, क्योंकि वे (व्रात्य) उस मंत्र का उच्चारण नहीं करेंगे जिसके प्रारम्भ में 'ब्रह्म' शब्द होगा ।

इससे प्रगट है कि व्रात्य ब्रह्मवादियों के विरोधी थे और वे वैदिक मंत्रों का उच्चारण नहीं करते थे । यह दूसरे अर्थ ही समुचित प्रतीत होते है क्योंकि 'जिन' या 'अर्हन्त' को निर्दिष्ट करने में इसका बहु व्यवहार हुआ मिलता है । जिनसेनाचार्य अपने 'जिन' या 'अर्हन्त' को निर्दिष्ट करने में इसका बहु व्यवहार हुआ मिलता है । जिनसेनाचार्य अपने 'जिन सहस्रनाम' में निम्न शब्दों का उल्लेख करते हैं:-''ग्रामपतिः, दिव्यभाषापतिः, वाग्मी, वाचस्पतिः, वागीश्वरः, निरुक्तवाक्, प्रवक्तवचसामीसः मंत्रवित्, मंत्रकृत इत्यादि ।'' इन उल्लेखों से एक अन्य प्रकार के मंत्रों का होना स्पष्ट है, जिनका सम्बंध वैदिक मंत्रों से सिवाय विपरीतता के और कुछ न था । सचमुच तीर्थंकरों के द्वारा निर्दिष्ट हुए मंत्रों का ही प्रयोग 'व्रात्यों' (जैनों) द्वारा होना उपयुक्त है; जो उनके लिये उतने ही प्रमाणीक थे जितने कि वैदिक मंत्र वेदानुयायियों के लिए थे । अतएव उनका वेद मंत्रों को उच्चारण न करना युक्तियुक्त और सुसंगत है और इस दशा में उनका उल्लेख प्रतिपक्षियों द्वारा 'गिरगिर' रूप में होना भी ठीक है ।

इस विवेच का सम्बन्ध 'अरुणमुख' शब्द से भी ठीक बैठता है; जिसका प्रयोग उन यतियों के लिये हुआ था जो जैन थे, जैसे पहले कहा जा चुका है। इस कथन का समर्थन इन शब्दों से भी होता है जो जैन भाव को प्रगट करते हैं; यथा: - ऋषभ, आदिजिन, महाव्रतपति:, महायति:, महाव्रत:, यतीन्द्र:, दृढ़व्रत: यति:, अतीन्द्र:, इन्द्राचर्य: आदि। इनसे केवल यतियों और व्रतियों का अस्तित्व ही जैन शास्त्रों में प्रगट नहीं होता, बल्कि इनसे यह भी प्रगट है कि इस धर्म के प्रभाव के सामने इन्द्र सम्प्रदाय - वैदिक मत का ह्रास हुआ था। 'अदन्डयम् दन्डेण अनन्तश्चरंति' अर्थात् 'वे उसको दण्ड देकर रहते जिसको दण्ड नहीं देना चाहिये।' इस उल्लेख से प्रगट है कि व्रती पुरुष जहां रहते हैं वहां इन्द्र-यज्ञों के विरुद्ध आज्ञायें निकालते हैं, क्योंकि उसमें हिंसा होती है।

ऐतरेय ब्राह्मण एवं अन्य वैदिक साहित्य में ऐसे बहुत से उल्लेख हैं जिनमें विविध राजाओं द्वारा उनके राज्यों में यज्ञों के करने देने का निषेध मौजूद है। शतपथ ब्राह्मण और वजन सनैय संहिता से भी यही प्रगट है जिनमें कौशल-विदेह देश के पूर्वी आर्यो को मिथ्या धर्मानुयायी और वैदिक यज्ञों का विरोधी लिखा है और यहां जैन धर्म का बहु प्रचार प्राचीन काल से था।

पगड़ी, रथ, ज्यहाद आदि शब्दों की विवेचना

व्रात्यों के खास वस्त्र, पगड़ी, रथ आदि जो कहे गये हैं; वह एक साधारण और स्थानीय वर्णन है और उनका सम्बंध केवल गृहस्थ एवं गृहपति व्रात्यों (जैनों) से है। किन्तु 'धनुष' (ज्यह्लोद) कुछ विशेष अर्थ रखता है।[९२] टीकाकार ने उसे 'अयोग्य धनुष' लिखा है। बहुधा वह धनुष प्रत्यंचा रहित अथवा नुमाइशी धनुष बताया गया है। इससे क्या मतलब सधता था, यह कहा नहीं गया है तो भी यह ठीक है कि धनुष शस्त्र रूप में क्षत्रियों का एक मुख्य

चिन्ह है, परन्तु ऐसे निकम्मे धनुष को वह क्यों रखते थे ? इससे यही भाव समझ पड़ता है कि वह इन अहिंसा धर्मानुयायी क्षत्रिय पुरुषों के लिये केवल उनके क्षत्रियत्व का बोधक एक चिन्ह मात्र था । यह तो स्पष्ट ही है कि उनके गुरुओं ने उनसे अहिंसा व्रत ग्रहण कराया होगा, उस समय उनके लिये अपने जातीय कर्म को त्याग कर ब्रह्मचारी हो जाना और खाली हाथों रहना जरूर अखरा होगा । जिस तरह आजकल सिख लोग केवल नुमायशी ढंग पर 'किरपान' को रखते हैं, उसी तरह वह क्षत्री भी जो अहिंसाव्रतधारी थे, अपने हाथ में अपना कुल चिन्ह 'धनुष' प्रत्यंचा रहित रखते थे। यह उपरिल्लिखित प्रॉ. साहब का अनुमान है ।

इसके अतिरिक्त हीन, ज्येष्ठ गृहपति, अनुचनः, स्थिवरः, समनिचमेद्रः, निंदितः आदि शब्द जो वात्यों के सम्बन्ध में व्यवहृत हुये हैं; इनका भी खुलासा कर देना आवश्यक है । हीन और ज्येष्ठ से तो भाव संभवतः अणुव्रतों और महाव्रतों से होगा और गृहपति गृहस्थ श्रावकों का आचार्य या नेता होता है । इसे विशेष धनवान और विद्वान् बताया है । इस शब्द का प्रयोग जैन शास्त्रों जैसे श्वेतम्बार उवासगदशाओं में हुआ मिलता है । बाकी के तीन शब्दों का व्यवहार ज्येष्ठ व्रात्यों के प्रति हुआ है । इनका अर्थ लगाने में सब ही टीकाकार भ्रांति से बच न सके हैं, यह बात प्रॉ. चक्रवर्ती साहब बतलाते हैं ।

ज्येष्ठ व्रात्य दिगम्बर जैन मुनि थे-

वह आगे कहते हैं कि 'अनुचनः' का अर्थ तो हो टीकाकारों ने ठीक लगाया है, जिसका मतलब एक धर्मशास्त्र ज्ञाता विद्वान् से है । **स्थविर** शब्द भी साफ है । जिसके अर्थ गुरु से हैं और इसका व्यवहार जैन शास्त्रों में खूब हुआ मिलता है । जैन गुरुओं की शिष्य परम्परा 'स्थिविरावली' नाम से

प्रख्यात है । जिन सहस्रनाम में भी इसका प्रयोग हुआ मिलता है । किन्तु वैदिक टीकाकारों ने इसे भी नहीं समझ पाया है, क्योंकि यह समनिचमेद्र शब्द के साथ प्रयोजित हुआ है । इस शब्द का शब्दार्थ 'पुरुषलिंग से रहित' होने का है । टीकाकर भी यही कहते हैं; यथा: -''अपेतप्रजननः ।'' भला व्रात्यों के लिये ऐसा घृणित वक्तव्य क्यों घोषित किया गया ? सामान्यतः जो पुरुष सामाजिक रीति के अनुसार सवस्त्र होगा, तो सचमुच उसके प्रति कोई भी ऐसे शब्दों का प्रयोग नहीं कर सकता है ।

इसलिए इन शब्दों के प्रयोग से उस पुरुष का भाव निकलता है जिसने सम्पूर्ण सांसारिक सम्बंधों को त्याग दिया हो, जो गृहस्थ न हो और यति जीवन को पहुंच कर दिगम्बर साधु हो गया हो । 'सम' शब्द के अग्रप्रयोग से लक्षित है कि वह कामवासना से रहित है । अतएव यह वर्णन ठीक है और वह व्रात्यों अथवा व्रतीयों में ज्येष्ठ (मुनि) के पदके लिये आवश्यक है । सायण इस शब्द की व्याख्या करते हुये 'समनिचमेद्रों' की एक प्राचीन सम्प्रदाय का उल्लेख करते हैं, जो 'देव सम्बंधिनः' थे और जिनके लिये एक खास व्रात्यस्तोत्र रचा गया था । इससे प्रगट है कि यह प्राचीन संप्रदाय था और शुद्ध भी था । शेष 'निंदितः' शब्दका व्यवहार व्रात्यों में सर्व निम्नभेदका द्योतक है ।

यह पहले ही कहा जा चुका हैं कि व्रात्यों (जैनों) में श्रद्धानी पुरुष सबसे नीची अवस्था में होते हैं और उनमें अनार्य लोग भी दिक्षित कर लिये जाते हैं । सचमुच अव्रती श्रावकों में ऐसे सब ही तरह के श्रद्धानी लोग संमिलित होते हैं । जैन शास्त्रों में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं । समाज से बहिष्कृत और पातकी पुरुष भी पश्चात्ताप करने और आत्मोन्नति के भाव प्रगट करने पर जैनाचार्यों द्वारा धर्म मार्ग पर लगा लिये जाते हैं ।अतएव 'निंदितः' शब्द से

ऐसे पुरुषों को भी व्रात्यों (वैदिक काल के जैनों) में निर्दिष्ट किया गया है; क्योंकि वे व्रती पुरुषों के संसर्ग में रहते थे और उस समय सब प्रकारके जैनों के लिये यह शब्द (व्रात्य) व्यवहृत होता था । इन्हीं निंदित पुरुषों के कारण व्रात्य शब्द के ओछे भाव भी वैदिक शास्त्रों में पग्रट किये गये मिलते हैं ।

अथर्व वेद और जैन धर्म

अब 'अथर्व वेद' में जो व्रात्य उल्लेख हैं उनको ले लीजिये । यह तो विदित ही है कि 'बहुत अर्से तक अथर्व वेद वेद ही नहीं माना जाता रहा है । इसकी वेद रूप में मान्यता वैदिक मत के मेल मिलाप और पारस्परिक ऐक्य भाव की द्योतक है । सचमुच इस में उस समय का जिक्र है कि जब आर्य लोग सामाजिक महत्ता को ढील करके द्राविड़ साहित्य और सभ्यता की ओर उदारता से पग बढ़ा रहे थे । ऐसे समय स्वभावत: आर्यों के विविध मतों में परस्पर ऐक्य और मेल मिलाप के भाव जागृत होना चाहिये थे। 'तिसपर व्रात्यों के बढ़ते प्रभाव को देखकर ऐसा होना जरूरी था । 'अथर्व वेद' **अंगरिस** नामक ऋषि की रचना बताई जाती है और जैनों के 'पउमचरिय' में इन अंगरिस का जैन मुनि पद से भ्रष्ट होकर अपने मतका प्रचार करना लिखा है । इस दशा में अथर्व वेद में जैन धर्म के सम्बंध में जो बहुत कुछ बातें मिलती हैं वह कुछ अनोखी नहीं हैं । अथर्व वेद के १५ वें स्कन्ध में यही भाव प्रदर्शित है । वहां एक महाव्रात्य की गौरव गरिमा का बखान किया गया है । यह महाव्रात्य वेद लेखक की दृष्टि में किसी खास स्थान का कोई क्षत्रिय व्रात्य था ।

व्रात्य (जैन) धर्मकी प्रधानता के समय समाज में क्षत्रियों का आसन ऊँचा होना स्वाभाविक है और सचमुच ईसा से पूर्व छठी, सातवीं शताब्दियों

बल्कि इससे भी पहले से क्षत्रियों की प्रधानता के चिन्ह उस समय के भारत में मिलते थे । उस समय का प्रधान धर्म, क्षत्रिय धर्म (जैन धर्म) था; परन्तु इसके अर्थ यह भी नहीं हैं कि उसमें ब्राह्मणों के लिये कोई स्थान ही न था । प्रत्युत भगवान् महावीरजी के प्रधान और प्रमुख गणधर गौतम स्वामी ब्राह्मण ही थे । उपनिषदों में जो वर्णन है उससे भी प्रगट होता है कि काशी, कौशल्य विदेहके ब्राह्मणों ने क्षत्रियों की प्रधानता को स्वीकार कर लिया था ।

अथर्व वेद के महाव्रात्य ऋषभ देव थे-

इसी प्रधान भाव के कारण व्रात्यों में मुख्य क्षत्रिय साधु का गुणगान करना प्राकृत सुसंगत हो गया था । अथर्व वेद के १५ वें स्कन्ध में जिस महाव्रात्य का गुणानुवाद वर्णित है, वह सिवाय वृषभ या ऋषभ देव के और नहीं हैं । उसमें जो वर्णन है वह जैनाचार्य जिनसेन के आदिपुराण में वर्णित श्री ऋषभदेव के चारित्र के समान ही है अवश्य ही आदिपुराण अथर्व वेद से उपरांत काल की रचना है, पर उसका आधार बहु प्राचीन है । अथर्व वेद में पहले ही महाव्रात्य प्रजापति का[१३] अपने को स्वर्णमय देखते लिखा है । वह 'एकम् महत् ज्येष्ठं ब्रह्म तप: सत्यम्' आदि हो गये । उनकी समानता वहां ईशम् और महादेव से भी की गई है । जिन सहस्रनाम में भी वृषभ देव के ऐसे ही नाम मिलते है, जैसे; प्रजापति, महादेव, महेश, महेन्द्रवन्दप, कनकप्रभ, स्वर्णवर्ण, हेमाभ, तप्तचामिकरच्छवि: निष्टाप्रकनकच्छाया: हिरण्यवर्ण, स्वर्आभा:, सतकुम्भनिवप्रभा: । अथर्व वेद के इस प्रारम्भ से ही हमें वृषभ देव के दर्शन हो जाते हैं, जो व्रतों को सर्व प्रथम प्रगट करने वाले थे, सर्व प्रथम तपश्चरण का अभ्यास और सत्य का उपदेश देनेवाले थे और जिन्हों की वंदना देव देवेन्द्रों ने की थी ।

जैन दृष्टिसे ''तपश्चरण की मुख्यता कायोत्सर्ग आसन द्वारा सर्दी गर्मी एवं अन्य कठिनाइयों को सहते हुये ध्यान मग्न स्थित रहने में स्वीकृत है । वृषभदेव इसी आसन में तपस्यालीन रहे थे । अनेक जैन मंदिरों में आज भी उनकी मूर्ति कार्योत्सर्ग रूपमें मिलती है । तीर्थंकर भगवान के लिए देव निर्मित समवशरण का जिक्र भी पहले हो चुका है ।

अथर्व वेद में आगे तीसरे प्रपतकमें वृषभ देव की इस जीवन घटना अर्थात् कायोत्सर्ग तपस्या करने और फिर केवली हो देवों द्वारा रचे गये समोशरण में बैठने का भी उल्लेख है । उसमें लिखा है कि ''वह एक वर्ष तक सीधे खड़े रहे; देवों ने उनसे कहा, ''व्रात्य, अब आप क्यों खड़े हैं ?''... उन्होंने उत्तर में कहा, ''उनको मेरे लिये एक आसन लाने दो ।'' उस व्रात्य के लिये वे आसन लाये; उस आसन पर व्रात्य आरूढ़ हो गए । उनके देव गण सेवक थे । इत्यादि उस व्रात्य के सम्बंध में भी पगड़ी धनुष और रथ का उल्लेख है । इससे केवल महाव्रात्य प्रभु को एक क्षत्रिय व्रात्य प्रगट करने का ही भाव है। इसीलिए क्षत्री व्रात्यों के साधारण जीवन क्रियाओं पगड़ी आदि का उल्लेख चिन्ह रूप में कर दिया है । इन महाव्रात्य के सम्बंध में अलौकिक बातों का भी उल्लेख है ।

सारांशत: इन महापुरुष को गौरव विशिष्ट और वैदिक देवताओं से भी उच्चतम प्रगट किया गया है । कितने ही वैदिक देवता इनके सेवक बताये गये हैं। यह महाव्रात्य सर्व दिशाओं में विचरते और उनके पीछे देवों को जाते एवं दिक्‌पालों को उनका सेवक होते भी बताया गया है । यह सब कथन एक जैन तीर्थंकर के जीवन कथन के बिल्कुल ही समान है; जिनकी भक्ति और सेवा देव-देवेन्द्र करते हैं । उनके समोसरण के साथ अनेक देव रहते और दिक्‌पाल

विविध रीति से सेवा कार्य करते हैं । दशवें पर्याय में व्रात्य के राजाओं और गृहस्थों के पास जाने और भिक्षा पाने तथा गृहस्थ उनको कैसे पड़गावें इस सबका उल्लेख है । यह जैन यतियों और तीर्थंकरों के सम्बन्ध में ठीक है; परन्तु तीर्थंकरों और सामान्य केवलियों के लिये केवली पद पाने के बाद यह बातें संभवित नहीं होती ।

अथर्व वेद में किसी नियमित रूप में वह कथन नहीं है - बल्कि सामान्य रीति से अपनी सुविधानुसार उसका लेखक इन सब बातों को निर्दिष्ट करता मालूम होता है । व्रात्य को आहारदान देने के फलरूप पुण्य और सम्पत्ति को पाना भी बतलाया गया है और यह भी जैन दृष्टि के अनुकूल है । इन सब बातों के देखने से यह बिल्कुल स्पष्ट है कि अथर्व वेद में जिन महाव्रात्य का वर्णन है वह कोई जैन तीर्थंकर हैं और बहुत करके वह स्वयं भगवान ऋषभदेवजी ही हैं। अंगरिस ने उनका चित्रण इस ढंगसे किया है कि वह वैदिक देवता प्रगट होने लगे । इस प्रकार के चित्रण से उनका बड़ा लाभ यह था कि वह जैन धर्म के महत्त्व को कम कर सका था । मुसलमानों के प्रकर्ष के समय हिन्दू मत में मूर्ति पूजा का खंडन इसी कारण हुआ था कि मुसलमानों का प्रभाव हिन्दुओं पर न पड़े ।

प्राचीनता सिद्ध करने की आवश्यकता

इस प्रकार इस कथन से अब यह बिल्कुल प्रमाणित है कि जैन धर्म वैदिक काल में मौजूद था, जैसे हम पूर्व पृष्ठों में भी बतला आये हैं और वह उस समय ''व्रात्य'' नाम से परिचित था । सिंध प्रान्तके मोहनजोडेरो नामक स्थान से जो ई. पूर्व करीब तीन चार हजार वर्षों की पुरातात्त्विक प्रमाण मिले हैं, वे भारतीय अति प्राचीन अनार्य सभ्यता की द्योतक मानी गई हैं । उनमें

ऐसी मुद्रायें भी मिली हैं, जिन पर पद्मासन मूर्ति अंकित है । विद्वान इन सिक्कों को बौद्ध अनुमान करते हैं; किन्तु जब बौद्ध धर्म की उत्पत्ति ई. पूर्व छठी शताब्दि में मानी जाती और बौद्धों में मूर्ति प्रथा ईस्वी सन् के प्रारम्भिक काल में प्रचलित हुई कही जाती है, तब उक्त मुद्रा बौद्ध न होकर जैन होना चाहिये । उसका जैन होना अन्यथा भी संभवित है । 'विष्णु पुराण' से यह स्पष्ट ही है कि असुर लोगों में जैन धर्म का प्रचार बहुत था और उधर जैन शास्त्रों से कल तक सिन्ध प्रान्त में कई एक तीर्थ होने का वर्णन मिलता है; जिनका आज पता तक नहीं है । अस्तु; उक्त मुद्रा का जैन होना भी जैन धर्म के प्राचीन अस्तित्व का समर्थक है । अतएव भगवान पार्श्वनाथ को जैन धर्म का संस्थापक मानना नितान्त भ्रांतिपूर्ण है ।

यहां पर कोई पाठक महोदय जैन धर्म की प्राचीनता को प्रगट करनेवाले, हमारे अब तक के कथन को अनावश्यक खयाल करें और वह कहें कि किसी धर्म की प्राचीनता उसकी अच्छाई में कारण भूत नहीं हो सकती ! बेशक उनका कहना किसी हद तक ठीक है परन्तु हमारे उक्त प्रयास को अनावश्यक बताना हमारे प्रति तो अन्याय ही है; परन्तु साथ ही उसके लिखे जाने के उद्देश्य में अनभिज्ञता का द्योतक भी है ।

आवश्यकता ही आविष्कारकी जननी मानी गई है । जैन धर्म के संबंध में विद्वानों के अयथार्थ उल्लेखों ने ही हमें बाध्य किया है कि हम जैन धर्म की प्राचीनता को स्पष्ट कर दें । साहित्य के लिये यह गौरव की बात है कि वह नितान्त स्वच्छ, निर्भ्रान्त और यथार्थ हो । इस हेतु साहित्य हित के नाते भी हमारा यह प्रयास अनावश्यक नहीं है । तिस पर जैन धर्म की यह बहु प्राचीनता उसके महत्व को बढ़ाने वाली ही है । बेशक उसके सिद्धांत और आचार-

विचार उसकी खूब प्रगट करते ही हैं, परन्तु वह हम लोगों का सर्व प्राचीन मत है, यह भी उसके लिये कुछ कम गौरव या महत्व की बात नहीं है । अस्तु;

तीर्थंकर पार्श्वनाथ के पिता महाराजा विश्वसेन :

अब यह बिलकुल स्पष्ट है कि भगवान् पार्श्वनाथ जी न तो जैन धर्म के संस्थापक थे और न वे कोई काल्पनिक पुरुष थे । प्रत्युत वे ईसा से पूर्व आठवीं शताब्दि में हुये एक ऐतिहासिक महापुरुष थे । इस अवस्था में इन अनुपम महापुरुष के गौरवमय जीवन चरित्र का दिग्दर्शन कर लेना समुचित और आवश्यक है । यह हम पहले ही बतला चुके हैं कि अनुपम तीर्थंकर का जीवन वृत्तांत जैन ग्रन्थों में मिलता है और यह क्षत्रिय राजकुमार थे । प्रस्तुत पुस्तक को पढ़ने से पाठकों को स्वयं मालूम हो जायेगा कि वे इक्ष्वाकुवंशी काश्यप गोत्री राजा विश्वसेन अथवा अश्वसेन और उनकी रानी ब्रह्मादेवी या वामादेवी के सुपुत्र थे और उनका जन्म वाराणसी में हुआ था । ब्राह्मण ग्रन्थों में उपरोक्त नाम का कोई राजा नहीं मिलता है । हां, अश्वसेन नामक एक नागवंशी राजा का पता ब्राह्मण साहित्य में चलता है ।[१४] परन्तु उसे बनारस के उपरोक्त राजा अश्वसेन स्वीकार कर लेना जरा कठिन है; क्योंकि वह नागवंशी है । इतने पर भी जैन शास्त्रों में राजा अश्वसेन को उग्रवंशी बतलाना इस बात को सम्भव कर देता है कि वह नागवंशी हों क्योंकि प्रस्तुत पुस्तक में यथास्थान बता दिया गया है कि 'उग्र' का सम्बन्ध 'नागों' की 'उख' नामक जातिसे प्रगट होता है । जो हो. ब्राह्मण ग्रन्थों के अतिरिक्त बौद्ध ग्रन्थों से भी इसी नाम के समान एक राजा का पता चलता है । दीघनिकाय के परिशिष्ट में सात राजाओंका नामोल्लेख है और उन्हें 'भरत' कहा गया है ।[१५] इससे यह तो स्पष्ट ही है कि वह आयोध्या के राजा भरत के वंशज अर्थात् इक्ष्वाकुवंशी थे । इन राजाओं में एक वस्सभू

(विश्वभू) नामक भी है । इस नाम की सादृश्यता विश्वसेन है । किन्तु यह नहीं बताया गया है कि वह कहाँ के राजा थे अतएव संभव है कि यह बनारस के राजा विश्वसेन हों । सारांशत: भगवान पार्श्वनाथ और उनके पिता महाराजा विश्वसेन का उल्लेख भारतीय साहित्य में मिलता है ।

भगवान पार्श्वनाथ विषयक साहित्य

भगवान पार्श्वनाथ के जीवन सम्बन्ध में रचे गए साहित्य पर यदि हम दृष्टि डालें, तो हमें कहना होगा कि वह आजकल भारतेतर साहित्य में भी उपलब्ध हैं । अमेरिका के बाल्टीमोर विश्वविद्यालय के संस्कृत प्रोफेसर श्री मारिम ब्लूमफील्ड ने श्री भावदेवसूरिकृत 'पार्श्वचरित' का अंग्रेजी अनुवाद अपनी विस्तृत भूमिका और टिप्पणियों सहित प्रकट किया है । यह "Life and Stories of Jaina Saviour Parashvanatha" नामसे सर्वत्र प्रचलित है । दूसरा उल्लेखनीय ग्रन्थ जर्मन भाषा में "Der Jainismus" नामक है । इसके रचयिता बरलिन विश्वविद्यालयके प्रख्यात् विद्वान् प्रॉ. डॉ. हेल्मुथ वॉन ग्लासेनाप्प हैं । आपने जैन धर्म का परिचय लिखते हुये, भगवान पार्श्वनाथजी के जीवन पर भी प्रकाश डाला है । इनके अतिरिक्त विदेशों में प्रकट हुई जैन धर्म सम्बंधी पुस्तकों में इनका उल्लेख सामान्य रूप से भले ही हो, पर विशेष रूप से नहीं है इधर भारतीय साहित्य में भगवान् पार्श्वनाथजी के सम्बन्ध में दिगम्बर और श्वेतांबर जैनों के साहित्य ग्रन्थ हैं । श्वेताम्बर जैन अपने कल्पसूत्र आदि ग्रन्थों को मौर्य कालीन श्री भद्रबाहु स्वामी की यथावत् रचना मानते हैं, परन्तु यह ठीक नहीं जंचता । प्रत्युत यह कहना पड़ेगा कि यह क्षमाश्रमणके समय या उनसे कुछ पहले की रचनायें है; जब कि यह लिपि बद्ध हुई थी । अस्तु; अब तक हमारे ज्ञान में इस विषय के निम्न ग्रन्थ आये हैं -

पार्श्वनाथ विषयक दिगम्बर जैन परम्परा का साहित्य

१. प्रथमानुयोग - ५००० मध्यम पद (अर्धमागधी) महावीरस्वामी द्वारा प्रतिपादित (अप्राप्य)

२. पार्श्वनाथचरित - श्री वादिराजसूरि प्रणीत (८६९ ई.) यह माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला में मूल संस्कृत और जैन सि. प्र. संस्था कलकत्ता द्वारा हिन्दी अनुवाद सहित प्रकट हो चुका है।

३. पार्श्वनाथपुराण-श्रीसकलकीर्ति कृत (सं. १४९५) मूल संस्कृत और हिन्दी टीका सहित। मुद्रित अप्राप्य है। प्रसिद्ध जैन भंडारों में हस्त लिखित मिलता है।

४. पार्श्वनाथपुराण - (मूल संस्कृत) भ. चन्द्रकीर्ति ग्रथित (सं. १६५४) ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन, मुंबई और जैन मंदिर इटावा आदि में प्राप्त है।

५. पार्श्वाभ्युदय काव्य-जिनसेनाचार्य (६५८-६७२ ई.) मूल और संस्कृत टीका सहित बंबई से मुद्रित हो चुका है।

६. उत्तरपुराण-गुणभद्राचार्य (७४२ ई.) मूल संस्कृत और हिन्दी अनुवाद सहित इन्दौर से प्रकट हो चुका है।

७. पार्श्वपुराण (सं.) वादिचंद्र प्रणीत, ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवनकी चतुर्थ वार्षिक रिपोर्ट के पृ. ९ (ग्रन्थ सूची) पर इसका उल्लेख है (सं. १६८३)

८. उत्तरपुराण-(अपभ्रंश) में श्री पुष्पदंत कवि द्वारा प्रणीत (९६५ ई.)।

९. पार्श्वपुराण - (अपभ्रंश) पद्मकीर्ति विरचित । समय अज्ञात । इसकी एक प्रति सं. १४७३ फाल्गुण वदी ९ बुद्धवारकी लिपि की हुई कारञ्जा के भंडार में है ।

१०. पार्श्वनाथपुराण - छंदोबद्ध हिन्दी कविवर भूधरदासजी कृत (सं. १७८९) बंबई से मुद्रित हुआ है ।

११. उत्तरपुराण-छंदोबद्ध हिन्दी कवि खुशालचंदकृत (सं. १७९९) ।

१२. पार्श्वजीवन कवित्त (हिन्दी) अलीगंज (एटा) के जैन मंदिर के एक गुटका में अपूर्ण लिखे हुए हैं ।

१३. भगवान पार्श्वनाथ-हिंदी में मास्टर छोटेलाल द्वारा अनुवादित (मुद्रित) ।

१४. हरिवंश पुराण (हिन्दी) जिनसेनाचार्य के मूल ग्रन्थका हिंदी अनुवाद कलकत्ते की जैन संस्था द्वारा प्रगट हुआ है । इसमें भी अन्य तीर्थंकरों के साथ पार्श्व चरित लिखा हुआ है ।

१५. पार्श्वनाथ पुराण-कनड़ी में पार्श्व पंडित ग्रथित (१२०५ ई.) आरा के जैन सिद्धांत भवन की ग्रन्थसूची में भी एक कनड़ी पार्श्वपुराण का उल्लेख है । मालूम नहीं कि वह यही पुराण है ।

१६. पार्श्व निर्वाण काव्य-(सं.) वादिराज कवि प्रणीत और चारुकीर्ति कृत टीका । (देखो दिगम्बर जैन ग्रन्थकर्ता और उनके ग्रन्थ पृ. ९ और २५) ।

१७. चिंतामणि पार्श्वनाथकल्प (सं.) धर्मघोषकृत (उपरोक्त ग्रन्थ पृ. १३) ।

१८. पार्श्वनाथ भगवान्-बंगला भाषा में श्रीयुत हरिसत्य भट्टाचार्य एम. ए. द्वारा 'जिनवाणी' पत्रिका में प्रकाशित ।

१९. तीर्थंकर चरित्रें - (मराठी) तात्या नेमिनाथ पांगलकृत ?

२०. नागेंद्र कथा - पुण्याश्रव कथाकोष ब्र. नेमिदत्त विरचित (सं.)

२१. चामुण्डराय पुराण - श्री चामुण्डराय कृत (१० शताब्दि)

२२. लार्ड पार्श्वनाथ - अंग्रेजी में मि. हरिसत्य भट्टाचार्य कृत । 'जैन मित्र मंडल दिल्ली' द्वारा प्रकाशित ।

पार्श्वनाथ विषयक श्वेताम्बर जैन साहित्य

१. कल्पसूत्र - श्रीभद्रबाहु प्रणीत (अर्धमागधी) (S.B.E.)

२. पार्श्वनाथचरित्र - (सं.) श्री उदयवीर गणि (सं. १५०२)

३. पार्श्वनाथचरित्र - (सं.) श्री माणिक्यचंद्र (सं. १२७६)

४. पार्श्वनाथकाव्य - (सं.) श्रीपद्मसुन्दरकृत ।

५. पार्श्वनाथचरित्र - (सं.) श्रीभावदेवसूरि ।

६. शत्रुञ्जयमहात्म्य - (सं.) के पहले के ९७ श्लोकों में ।

७. उत्तराध्ययनसूत्र वृत्ति - (सं.) श्री लक्ष्मीवल्लभ कृत ।

८. पार्श्वनाथचरित्र - (प्रा.) देवभद्रसूरि (सं. ११६८) - बीकानेर ग्रन्थ सूची (G.O.S) पृ. ४७ ।

९. चतुर्विंशति जिनचरितम् (सं.) अमरचंद्रसूरि (पूर्व. पृ. ६९)

१०. मगसीपार्श्वनाथ - मानविजय कृत (ऐ.प.स. भवन, बम्बई) ।

११. त्रिषष्ठिशलाका पुरुष चरित्र - श्रीहेमचंद्राचार्य कृत ।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त दोनों संप्रदायों में भगवान पार्श्वनाथजी के सम्बंध में अनेक स्तोत्र और पूजा ग्रन्थ भी प्रचलित हैं । इनमें से दिगम्बर संप्रदाय के विशेष उल्लेखनीय स्तोत्र और पूजा ग्रन्थ निम्न प्रकार हैं :-

१. कल्याणमंदिरस्तोत्र - श्री कुमुदचंद्र कृत ।

२. पार्श्वनाथस्तोत्रं - पद्मप्रभदेव विरचिंत ।

३. चिंतामणिपार्श्वनाथस्तोत्र - प्राकृत भाषा में ।

४. पार्श्वनाथस्तोत्र सटीक - पद्मनंदी कृत ।

५. पार्श्वनाथस्तोत्र (सं.) विद्यानन्दीस्वामी कृत ।

६. पार्श्वनाथ अष्टक - आरा के सिद्धांत भवन की सूची में है ।

७. पार्श्वपूजा - श्रीवृन्दावनजी, मनरंगलालजी प्रभृतिकृत (हिन्दी)

८. कलिकुण्ड पार्श्वनाथ पूजा - संस्कृत में हैं ।

९. पार्श्वयज्ञ - देशभक्त पं. अर्जुनलालजी सेठी प्रणीत् ।

श्वेतांबर संप्रदाय के कतिपय स्तोत्र निम्न प्रकार हैं, किन्तु उनके कोई पूजा ग्रन्थ हैं यह विदित नहीं है :-

१. गौड़ी पार्श्वनाथ स्तवन - (सं.) ऐ. प. दि. जैन भवन सूची वर्ष १ पृ. ७९ ।

२. पार्श्वनाथस्तोत्रं (सं.) पूर्व. वर्ष २ पृ. ५७.

३. पार्श्वस्तोत्रम् - (प्रा.) जैसलमेरकी सूची पृ. ६५ ।

उपरोक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त अलीगंज (एटा) के श्री शांतिनाथ दि. जैन मंदिर के भण्डार में एक गुटका सं. १६०८ भाद्र वदी १३ का लिखा हुआ मौजूद है । उसमें भगवान पार्श्वनाथ के विषयमें निम्न प्रकार ६२ बातें कहीं गई हैं :-

१. श्री. पार्श्वनाथ नाम, २. प्राणत विमानत्, ३. नगरी वाणारसी, ४. पिता अश्वसेन राजा, ५. साता वाम्मादेवी, ६. गर्भ वैसाख वदी २, ७. जन्म पौष वदी ११, ८. नक्षत्र विशाखा, ९. शरीर हरितवर्ण, १०. उच्चत्तहस्त ९, ११. आव वरिष १००, १२. कुमारकाल ३०, १३. राज्यकाल ॥०., १४. अधिक पूर्वांग ॥०, १५. तप पौष वदी ११, १६. तपकाल वरिष ७०, १७. हीन पूर्वांग ॥० , १८. छद्मस्थ मास ४, १९. केवल चैत्र वदी ४, २०. केवल बेला पूर्वान्हे, २१. केवलकाल पूवाणि, २२. पूर्वांगानि ॥०, २३.वरिष ६९, २४. मास ८, २५. दिन ॥० २६. समवशरण जो. १, २७. गणधर १०, २८. सर्वसंघ १६,०००, २९. पूर्वधर ३५०, ३०. शिष्य १०९०० ३१. अवधिज्ञानी १४४, ३२. केवलज्ञानी १०००, ३३. मन:पर्यय ज्ञानी ७५०, ३४. वैक्रियक १०००, ३५. वादिन् ६००, ३६. उग्रवंश, ३७. राजा सहतप, ३००, ३८. राजा सहमोक्ष ३६, ३९. सिंद्धक्षेत्र सम्मेदगिरि, ४०. लांछन धरणेन्द्र, ४१. जिनांतर वर्ष २५०, ४२. हीन ॥०, ४३. अनुबंधकेवली, ३, ४४. संततकेवली ॥३, ४५. अर्जिका ३८०००, ४६. श्रावक १०००००, ४७. श्राविका ३०००००,

४८. जतीसिद्धगति ६२००, ४९. अनुत्तरगत ८८००, ५०. सौधर्म अनुत्तरगत १०००, ५१. वृक्षनाम धवलसर, ५२. वृक्षउच्च ध. १०८, ५३. पारणादिन ३ पाष, ५४. नगरी द्वारावहपुरी, ५५. दानपति धनदत्तु, ५६. चरु गोषीरं, ५७. रत्नवृष्टि ५८. जक्ष धरणेंद्र, ५९. जक्षणी पद्मावती, ६०. मोक्ष श्रावण शु. ७, ६१. मोक्षासन बैठो, ६२. योगध्यान मास १ ।''

चरित्र ग्रंथों में परस्पर अन्तर क्यों है ?

इस प्रकार का यह साहित्य है जिस में भगवान पार्श्वनाथजी की जीवन घटनायें संकलित हैं । इन एवं अन्य श्रोतों के आधार से ही हमने भी प्रस्तुत ग्रंथ की रचना की है । इस साहाय्य के लिये हम इन सब ग्रन्थकारों के अतीव कृतज्ञ हैं । किंतु यहां पर यह देख लेना भी समुचित है कि क्या इन सब ग्रन्थों में एक समान ही कथन है अथवा उसमें कुछ अंतर भी है । यह तो मानना पड़ेगा कि भगवान का जीवन चरित्र एक ही रूप का रहा होगा । उनके जीवन की एक ही घटना दूसरे रूप में मिल नहीं सकती और इसलिये उनके जीवन चरित्र सम्बन्ध में जो भी ग्रंथ उपलब्ध हों, उनमें कोई भी अन्तर नहीं होना चाहिए । किंतु बात दरअसल यूं नहीं है । इन सारे ग्रन्थों में एक दूसरे से विभिन्नता मौजूद है और वह विभिन्नता केवल रचना भेद की नहीं है; प्रत्युत जीवन घटनाओं की है । दिगंबर और श्वेतांबर सम्प्रदाय के ग्रन्थों में आम्नाय भेद के अनुकूल विपरीतता रहना प्राकृत सुसंगत है; परन्तु स्वयं दिगंबर संप्रदाय के ग्रन्थों में भी न्यून रूप में यही बात देखने को मिलती है । वेशक उन में जीवन घटनाओं में अन्तर नहीं है; परन्तु विवरण में है । लेकिन प्रश्न यह है ऐसा क्यों है ? इसके उत्तर में हम स्वयं कुछ न कहकर प्रसिद्ध विद्वान् स्वं. पं. टोडरमलजी के निम्न शब्दों को उद्धृत कर देना पर्याप्त समझते हैं -

"ऐसे विरोध लिये कथन कालदोष से भये हैं । इस काल विषैं प्रत्यक्षज्ञानी व बहुश्रुतीनि का तो अभाव भया और स्तोकबुद्धि ग्रन्थ करने के अधिकारी भये, तिनको भ्रम से कोई अर्थ अन्यथा भासा तिसको तैसा लिखा अथवा इस काल विषैं कई जैनमत विषैं भी कृषायी भये हैं । कोई कारण पाय अन्यथा कथन उन्होंने मिलाये हैं । इसलिये जैन शास्त्रों के विषैं विरोध भासने लगा । सो जहां विरोध भासे तहां इतना करना कि इस कथनवाला बहुत प्रामाणिक है या इस कथनवाला बहुत प्रामाणिक है । ऐसा विचार कर बड़े आचार्यादिकनिकरि कहा कथन प्रमाण करा । इत्यादि"

- मोक्षमार्ग प्रकाशक, अधि . ८ ।

दिगम्बर शास्त्रों में सामान्य अन्तर है

अतएव काल महाराज की कृपा से प्रत्येक ग्रंथकार ने जिस आधार से जो बात ठीक समझी, उसको प्रगट कर दी । उनके लिये और कोई है उपाय शेष न था । यह हम भी पहले स्वीकार कर चुके हैं कि आजकल के अल्पज्ञ मानवों के लिये यह संभव नहीं है कि वह पुरातनकाल में हुये महापुरुषों के जीवनचरित्र यथाविधि ठीक लिख सकें । जो कुछ उपलब्ध साहित्य और अनुमान प्रमाण से उचित प्रतीत होगा वह उसी को लिख देंगे । किन्तु इसके यह भी अर्थ नहीं है कि जिनवाणी पूर्वापर विरोधित है । यह किसी तरह भी संभव नहीं है । जैन सिद्धान्त अथवा दर्शन ग्रंथ बड़ी होशियारी के साथ सम्भालकर रक्खे गये हैं । यही कारण है कि उनमें किंचित भी अन्तर नहीं पड़ा है । जो जैन सिद्धान्त भगवान, महावीरजी के समय एवं उनसे पहले जैन धर्म में स्वीकृत थे, वही आज भी जैन धर्म में मोजूद हैं । यह हमारा कोरा कथन ही नहीं है; प्रत्युत जैन ग्रंथों का आभ्यन्तर स्वरूप और बौद्धादि ग्रन्थों की साक्षी इसमें प्रामाणभूत है ।

इसके लिये हमारा ''भगवान महावीर और महात्मा बुद्ध'' नामक ग्रंथ देखना चाहिये । अस्तु, जैन सिद्धान्त के अक्षुण्ण रहते हुये भी, यद्यपि उसमें भी विकृति लाने के प्रयत्न हुये थे जिसके फलरूप श्वेताम्बरादि आम्नाय निर्गन्थ संघ में भी मौजूद हैं, जैन पुराण ग्रंथों में भेद मौजूद हैं । यह क्यों और कैसे है यह ऊपर बताया ही जा चुका है । अत एव यहां पर हम पहिले दिगम्बर जैन संप्रदाय के 'पार्श्वचरितों' में परस्पर भेद को देखने का प्रयत्न करेंगे । सचमुच यह प्रभेद कुछ विशेष नहीं है । इससे भगवान के जीवन चरित्र में कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता है यह सामान्य है और उपेक्षा करने योग्य है । किन्तु इस पर भी उसको प्रगट कर देना साहित्यिक स्पष्टता के लिये आवश्यक है । अत एव उस और दृष्टि डालने पर हमें पहले ही भगवान् पार्श्वनाथजी के प्रथम भवांतर वर्णन में अन्तर मिलता है ।

श्री गुणभद्राचार्य, सकलकीर्ति, चंद्रकीर्ति, (१/११५-११७) और भूधरदास (१-१०२) कृत ग्रन्थों में कमठ के भाई मरुभूति को उसकी खबर किसी राह चलते भील से पाने का जिक्र नहीं है; परन्तु वादिराजसूरिजी के ग्रन्थ में (सर्ग २ श्लो. ६३-६४) यह विशेषता है । श्री जिनसेनजी के 'पार्श्वाभ्युदय काव्य' में पूर्व भवों का उल्लेख वर्तमान रूप में है आगे अरविंद राजा के मुनि समागम का उल्लेख प्रायः सब में मिलता हैं; परंतु वादिराजसूरि के ग्रन्थ में उन मुनिराज का नाम 'स्वयंप्रभ' और उनके आगमन की सूचना मालीद्वारा राजा पर पहुंचाने का विशेष उल्लेख है । (स. २ श्लो. १०२) मरुभूति की मृत्यु उपरांत सल्लकी वन में हाथी उत्पन्न होने का उल्लेख भी सब में है; किन्तु वादिराजसूरिजी के ग्रंथ में यहां भी विशेष रूप में उस हाथी के माता पिता का नाम वर्वरी और पृथ्वीघोष लिखा है (स. ३ श्लो. ३८-३९) फिर राजा

अरविंद के मुनि हो जाने पर, उन्हें एकदा वैश्यसंघ के साथ तीर्थों की वन्दना निमित्त जाते हुये और मल्लकी वन में शशिगुप्त आदि श्रावकों को उपदेश देते, इस ग्रन्थ में लिखा है । (स. ३ श्लो. ६१-६५) किन्तु सकलकीतिजी (२/१६-१७). गुणभ्रदाचार्यजी (७३/१४) चंद्रकीर्तिजी (२४/२) के ग्रन्थों में उन्हें संघ सहित श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा के लिये जाते लिखा है ।

उत्तरपुराण (७३/२४), सकलकीर्तिजी के पार्श्वचरित (२/५३) में वज्रघोष गजराज को सहस्रार स्वर्ग में स्वयंप्रभ देव होते लिखा है; किंतु वादिराजसूरिने उसे महाशुक्र स्वर्ग में शशिप्रभदेव लिखा है । (३/१०८) इन्होंने लोकोत्तमपुर के राजा का नाम विद्युद्वेग और उसके पुत्र का नाम रश्मिवेग लिखा है (४/२७); परंतु उत्तरपुराण (७३/२४-२५), सकलकीर्तिजी (२/१०), चंद्रकीर्तिजी (३/१४०) और भूधरदासजी (२/६९-७१) ने राजा का; नाम विद्युतगति और पुत्र का नाम अग्निवेग बताया है । चन्द्रकीर्तिजी ने पिता की आज्ञानुसार अग्निवेग का किसी विद्याधर से संग्राम करने का भी उल्लेख किया है । (५/४) वादिराजसूरिजीने विजया रानी के सबको विजय करनेवाला दोहला होते लिखा है । (४/१२-१४) उत्तरपुराण में न दोहला है और न स्वप्नों का जिक्र है (७३/३१-३२) किन्तु शेष सब में स्वप्न देखने का उल्लेख है । वादिराजजी के ग्रन्थ में वज्रनाभि चक्रवर्ती को सूखा वृक्ष देखकर विरक्त होते और क्षेमंकर (७३-३४), सकलकीर्तिजी (५/३) चन्द्रकीर्तिजी (५/२-४) और भूधरदासजी (३/७४) ने उनको क्षेमंकर मुनि का उपदेश सुनकर विरक्त होते बताया है ।

आगे सकलकीर्तिजी (५/९४), चंद्रकीर्तिजी (५/८८-९०) और भूधरदासजीने (३/१०७) वज्रनाभि मुनिको वन में रहते हुये कुरङ्ग भील द्वारा



भगवान पार्श्वनाथ जी, गिरिराज मंदिर, पालीताणा

उपसर्गीकृत होते लिखा है । परन्तु पार्श्वचरित (८, ८०) में वन के स्थान पर विपुलाचल पर्वत बताया है और उत्तरपुराण में (७३/३८) वन और पर्वत किसी का भी उल्लेख नहीं है । आगे वादिराजसूरिजी राजा आनंद को जिनयज्ञ (जिनेन्द्र पूजा) करते और मुनि आगमन हुआ बतलाते हैं । (९/१-३) उन्होंने मंत्री की प्रेरणा का उल्लेख नहीं किया है और न मुनिवर का नाम बताया है । किन्तु उत्तरपुराण (७३/४४-४५), सकलकीर्तिजी (७/३९-४१), चंद्रकीर्ति (६/४५-५०) और भूधरदासजी (४/१८-२४) ने स्वामिहित मंत्री की प्रेरणा से आनंद राजा को जिन यज्ञ रचते और विपुलमती मुनिराज को आते लिखा है। उत्तरपुराण (७३/५८-६०) सकलकीर्ति और भूधरदासजी (४/६०) ने राजा आनंद के समय से सूर्य पूजा का प्रचार हुआ लिखा है । किंतु वादिराजसूरिजी के ग्रन्थ में (स. ९) और चंद्रकीर्तिजी के चरित्र (६/८१-८८) में ऐसा कोई उल्लेख नहीं है । वादिराजजीने राजा आनंद को सफेद बाल देखकर निधिगुप्त मुनिराज के समीप दीक्षा लेते लिखा है । (९/३४-३८) किंतु चंद्रकीर्तिजी ने यद्यपि सफेद बाल देखने की बात लिखी है । परन्तु मुनि का नाम सागरदत्त लिखा है । (६/९३ व १२४) और सकलकीर्तिजीने मुनिका नाम समुद्रदत्त बतलाया है (८/२६), यही नाम उत्तरपुराण में भी हैं । (७३/६१) भूधरदासजी ने सागरदत्त नाम लिखा है । आगे वादिराजसूरिजीने भगवान के पिता का नाम विश्वसेन (९/६५) और माता ब्रह्मदत्ता (९/७८) बताई है; परन्तु उन्होंने इनके कुलवंश का उल्लेख नहीं किया है ।

उत्तरपुराण में राजा-रानी का नाम क्रमशः विश्वसेन और ब्रह्मादेवी (७३/७४) लिखा है, तथा उनका वंश उग्र (७३/९५) और गोत्र काश्यप (७३/७४) बताया है । सकलकीर्तिजी, चंद्रकीतिजी और भूधरदासजी ने काश्यप गोत्र

और वंश इक्ष्वाकु लिखा है । परन्तु भूधरदासजी के अतिरिक्त उन्होंने राजा का नाम विश्वसेन बताया है । भूवरदासजी उन्हें अश्वसेन बतलाते हैं । (५/६५) हरिवंशपुराण में भी यही नाम है (पृ. ५६७) सकलकीर्तिजी रानी का नाम ब्राह्मी (१०/४१) और चंद्रकीर्तिजी ब्रह्मा (८/५१) बतलाते हैं । किंतु हरिवंशपुराण में उनका नाम वर्मा लिखा है । (पृ. ५६७) भूधरदासजी उन्हें वामादेवी के नाम से लिखते हैं । (५/७१)

पार्श्वाभ्युदय काव्य में उनका उग्रवंश लिखा है (श्लो. २) किन्तु आदिपुराण (अ. १६) में आदिवंश इक्ष्वाकु से ही शेष वंशों की उत्पत्ति लिखी है। शायद इसी कारण भगवान को किन्हीं आचार्यों ने उग्रवंशी और किन्हीं ने इक्ष्वाकुवंशी लिखा है । वादिराजसूरिजीने भगवान की गर्भ तिथि नहीं लिखी है। शेष सब ग्रंथों में वैशाख कृष्ण द्वितीया विशाखा नक्षत्र (निशात्यये) लिखी हुई है । वादिराजसूरिजी जन्मादि किसी भी तिथि का उल्लेख नहीं करते हैं; किन्तु और सब ग्रंथ उनका उल्लेख करते हैं । वादिराजसूरि जी भगवानने आठ वर्ष की अवस्था में अणुव्रत धारण किये थे, इसका भी उल्लेख नहीं करते हैं । उत्तरपुराण और हरिवंशपुराण में भी यह उल्लेख नहीं है । वादिराजजीने भगवान के पिता द्वारा उनसे विवाह करने के लिये अनुरोध किया था, उसका उल्लेख महीपालसाधु से मिलने का बाद किया है और उससे ही उस वैराग्य की प्राप्ति होते लिखी है (११/१-१४) परन्तु उसमें अयोध्या के राजा जयसेन द्वारा भेंट भेजने का जिक्र नहीं है । उत्तर पुराण में (७३/१२०) जयसेन का उल्लेख है । परन्तु उसने भी राजा विश्वसेन का भगवान से विवाह करने के लिए कहने का जिकर नहीं है । शेष हरिवंशपुराण को छोड़कर सब ग्रंथों में यह उल्लेख है । वादिराजसूरिके चरित्र में ज्योतिषीदेव का नाम भूतानंद और शेष ग्रंथों में संवर

है। इस ग्रंथ में भगवान के दीक्षावृक्ष का भी नाम नहीं लिखा हुआ है । हरिवंश पुराण में उसका नाम धव है । (पृ. ५६७) सकलकीर्तिजी और भूधरदासजीने उसे बड़ का पेड़ बतालाया है । उत्तरपुराण और चन्द्रकीर्ति कृत चरित्र में केवल शिला का उल्लेख है । (चंद्रकांत शिलातले) ।

हरिवंश में दीक्षा वन अश्व वन के स्थान पर मनोरम वन है । तीन सौ राजाओं के साथ दिक्षित होना भी वादिराजजी और गुणभद्राचार्यजीने नहीं लिखा है । शेष सबने लिखा है । जिनसेनाचार्यने उनकी संख्या ६०६ बताई है (८७५-७६) पार्श्वभगवान पारणा के लिए गुल्मखेटपुर में गए थे, यह बात उत्तरपुराण (७३/१३२) वादिराजसूरिचरित (११/४५) सकलकीर्तिपुराण, चंद्रकीर्तिचरित् (१२/१०) और भूधरदासजी (८/३) ने स्वीकार की है; किन्तु हरिवंशपुराण में यह काम्याकृत नगर बताया गया (पृ. ५६९) दातार का नाम सकलकीर्तिजी और भूधरदासजीने ब्रह्मदत्त लिखा है; परन्तु वादिराजजीने धर्मोदय (११/४), और गुणभद्राचार्यने (७३/१३३), जिनसेनाचार्य (पृ. ५६९) और चंद्रकीर्तिजी (१२/१३) ने धन्य राजा लिखा है । केवलज्ञान की तिथि अन्य ग्रन्थों में चैत्र कृष्णा चतुर्दशी लिखी है; परन्तु हरिवंशपुराण में चैत्र वदी चौथ को दोपहर के पहले केवलज्ञान हुआ लिखा है । (पृ. ५६९) उत्तरपुराण सकलकीर्ति कृत पुराण, चन्द्रकीर्ति कृत चरित और भूधरदास ग्रथित पुराण में (१६००० साधुओं की संख्या इस तरह बताई हैं : -

(१) दश गणधर, (२) ३५० पूर्वधारी, (३) १०९०० शिक्षक साधु, (४) १४०० अवधिज्ञानी, (५) १००० केवलज्ञानी, (६) १००० विक्रियाधारी, (७) ७५० मन:पर्ययज्ञानी, (८) ६०० वादी ।

हरिवंश पुराण में इनकी संख्या निम्न प्रकार लिखी है और वादिराजसूरिने लिखी नहीं है :-

(१) १० गणधर, (२) ३५० वादी, (३) १०९०० शिक्षक, (४) १४०० अवधिज्ञानी, (५) १००० केवलज्ञानी, (६) १००० विक्रियाधारी, (७) ७५० विपुलमती (८) ६०० वादी । हरिवंशपुराण में आर्यिका ३८०००, श्रावक एक लाख और तीन लाख श्राविकायें लिखी हैं । उत्तरपुराण, सकलकीर्ति कृत पुराण, चन्द्रकीर्ति कृत चरित्र और भूधरदासजी प्रणीत पुराण में श्रावक और श्राविकाओं की संख्या हरिवंशपुराण के समान लिखी है; परन्तु अर्यिकाओं की संख्या भूधरदासजी के अतिरिक्त सबने ३६००० लिखी है । भूधरदासजीने २६००० बतलाई है । उत्तरपुराण, सकलकीर्ति, चन्द्रकीर्ति और भूधरदासजी के ग्रन्थों में भगवान को मोक्ष लाभ प्रतिमा योग से प्रात:काल हुआ लिखा है; किन्तु हरिवंश पुराण में कायोत्सर्गरूपसे सायंकाल को हुआ बतलाया है । भूधरदासजी ३६ मुनीश्वरों के साथ मोक्ष गये बतलाते हैं;जिनसेनाचार्य इनकी संख्या ५३६ लिखते हैं । हरिवंशपुराण में भगवान के कुल ६०२०० शिष्यों को मोक्ष गया लिखा है और उनके बाद तीन केवलज्ञानियों का होना बतलाया है ।

इस तरह पर संक्षेप में दिगम्बर ग्रन्थों का परस्पर भेद निर्दिष्ट किया गया है। यह विशेष नहीं है । साधारण है और इसलिए कुछ भी नहीं है श्वेतांबर संप्रदाय के ग्रंथों के समान वह नहीं है । श्वेतांबर संपदाय के ग्रंथों में परस्पर एक दूसरे से बहुत विरोध है । जो बातें उनके प्राचीन ग्रंथों में नहीं है वह अर्वाचीन ग्रन्थों में हैं । किन्तु दिगम्बर शास्त्रों में ऐसी बात नहीं है । उसमें प्राचीन घटनाक्रम में किंचित भी भेद नहीं मिलता है । श्वेंताबर ग्रंथों में सर्व प्राचीन कल्पसूत्र है; औरं उसमें भगवान के विवाह करने का उल्लेख बिलकुल नहीं है,

परन्तु किन्हीं दिगम्बर जैन शास्त्रों से भी उपरांत के रचे हुए श्वेताम्बर शास्त्रों में भगवान के विवाह करने का उल्लेख है । यह संभवत: श्वेताबर दिगम्बर के पारस्परिक सांप्रदायिक विद्वेष के परिणाम स्वरूप हैं । अस्तु: जो हो यहां पर श्वेताबरों के ग्रन्थों में जो परस्पर भेद है उसको भी प्रगट कर देना अनुचित न होगा ।

श्वेताम्बर शास्त्रों में परस्पर विशेष अन्तर है

कल्पसूत्र में (१४९-१६९) विवाह के अतिरिक्त भगवान के पूर्वभवों का भी उल्लेख नहीं है । उसमें कमठ और नागराज 'धरण' (धरणेन्द्र) का जिकर कहीं नहीं है । शेष माता-पिता, जन्म, नगर, आयु आदि में अन्य चरित्रों में समानता है । किन्तु भावदेवसूरिजी के चरित्र और कल्पसूत्र में जो उनके शिष्यों का वर्णन दिया है, उसमें विशेष अन्तर है । कल्पसूत्र में आठ गण और आठ गणधर - (१) आर्यघोष, (२) शुभ, (३) वशिष्ठ, (४) ब्रह्मचारिण, (५) सौम्य, (६) श्रीधर, (७) वीरभद्र, (८) और यशस लिखे हैं । भावदेवसूरि ने दश गणधर (१) आर्यदत्त, (२) आर्यघोष, (३) वशिष्ठ, (४) ब्रह्मानामक, (५) सोम, (६) श्रीधर, (७) वारिषेण, (८) भद्रयशस, (९) जय, (१०) और विजय बताये हैं । (६) १३५०-१३६०) कल्पसूत्र में आर्यदत्त की संरक्षता में १६००० श्रमण, पुष्पकला आर्यिका की प्रमुखता में ३८००० आर्यिकायें १६४००० श्रावक और ३२७००० श्राविकायें बतलाये हैं । भावदेवसूरि के ग्रन्थ में यह संख्या इस रूप में देखने को नहीं मिली है । शत्रुञ्जय माहात्म्य (१४/१-९७) में भी पूर्वभवों का वर्णन नहीं है । उससे प्रणित कल्पसे भगवान का चरित्र प्रारम्भ किया गया है । इसमें कमठ की शत्रुता का उल्लेख संक्षेप में है। (१४-४२ दशभवारतिः कठासुरः), विवाह का उल्लेख इसमें भी है; परन्तु इस में

पार्श्वनाथजी की पत्नी प्रभावती को प्रसेनजित के स्थान पर नरवर्मन की पुत्री लिखा है। प्रसेनजित नरवर्मन का पुत्र है । भावदेवसूरिजीने प्रभावतीं को प्रसेनजित की पुत्री लिखा है । (५/१४५....) किन्तु बौद्धादि ग्रन्थों से प्रगट है कि प्रसेनजित महात्मा बुद्ध के समकालीन थे ।[१६] इस अवस्था में न वह और न उनके पिता भगवान पार्श्वनाथजी के समय में पहुंच सकते हैं । इस कारण उनका यह कथन नि:सार प्रतीत होता है कि भगवान् पार्श्वनाथजी का विवाह हुआ था। उनके कल्पसूत्रादि प्राचीन ग्रंथों में इसका कोई उल्लेख नहीं है, यह हम पहले ही कह चुके हैं । किंतु इनके उपरान्त के ग्रन्थों में पूर्ववत वर्णन आदि के विशेष उल्लेख संभवत: दिगम्बर सम्प्रदाय के ग्रन्थों के आधार पर इस ढंग से लिखे गए होंगे कि वह स्वतंत्र और यथार्थ प्रतीत हों । अतएव निम्न में दिगम्बर और श्वेताम्बर ग्रन्थों में जो परस्पर भेद है उसको देख लेना भी आवस्यक है ।

दिगंबर और श्वेतांबर शास्त्रों में परस्पर भेद

श्वेताम्बर के भावदेवसूरिकृत पार्श्वचरित से ही हम इस प्रभेद का निरीक्षण करते हैं । पहले मरुमूति भव में विश्वभूति के साधु हो स्वर्गवासी होने पर कमठ और मरुभूति को विशेष शोक करते और हरिश्चंद्र नामक साधु से प्रतिबोधत होने का जो उल्लेख भावदेवसूरि ने किया है वह दिगम्बर शास्त्रों में नहीं है । फिर उन्होंने मरुभूति की स्त्री वसुंधरा को काम से जर्वरित और कमठ के साथ उसके गुप्त प्रेम को मरुभूति भेष बदलकर जान लेने तथा राजा से उसे दंडित कराने इत्यादिक बातें कहीं हैं वह भी दिगंबर शास्त्रों में नहीं हैं । दिगम्बर शास्त्रों में वसुन्धरा पहले शीलवान् ही बतलाई गई है और मरुभूति को भ्रातृप्रेम में संलग्न तथा राजा का कमठ के अन्याय के लिए उसे दंड देने पर मरुभूति का उसे क्षमा करने आदि की प्रार्थना करते बतलाया गया है । दिगम्बर शास्त्र में

राजा अरिविन्द और मरुभूति का एक संग्राम पर जाने का विशेष उल्लेख है । राजा अरिविन्द के मुनि हो जाने पर श्वेतांबराचार्य उन्हें सागरदत्त श्रेष्ठी आदि को जैन धर्मी बनाते और उनके साथ जाते हुये हाथी का उन पर आक्रमण करते लिखते हैं; परन्तु दिगम्बर शास्त्र तीर्थयात्रा पर जाने का उल्लेख करते हैं । दिगम्बर शास्त्र अग्निवेग का जन्म स्थान पुष्कलावती देश का लोकोत्तरपुर नगर और उसकी माता का नाम विद्युत्माला बतलाते हैं; परन्तु श्वेताम्बर शास्त्र में तिलकानगर और तिलकावती अथवा कनकतिलका माता बताई गई हैं । इनमें अग्निवेग का नाम किरणवेग है । वह अपने पुत्र हिमगिरि को राज्य दे मुनि हुआ दिगम्बर शास्त्र बताते हैं । श्वेतम्बर कहते हैं कि उसके पुत्र का नाम किरणतेजस था और वह मुनि हो वैताढ्य पर्वत पर एक मूर्ति के सहारे तपस्या करता रहा ।

श्वेतांबराचार्य आगे वज्रनाभि को जन्म से मिथ्यात्वी और साधु लोकचंद्र द्वारा सम्यक्वी लाभ करते बतलाते हैं । वह उसके पुत्र का नाम शक्रायुध कहते हैं । दिगम्बर शास्त्र उनको जन्म से जैनी बतलाते और उनके पुत्र का नामोल्लेख नहीं करते हैं । वज्रनाभि का जन्मस्थान श्वेतांबर शुभंकरा नगरी बतलाते और उनकी माता का नाम लक्ष्मीवती और स्त्री विजया बताते हैं । दिगम्बर शास्त्रों में जन्म स्थान अपर विदेह के पद्मदेश का अश्वपुर और उनकी माता व पत्नी के नाम क्रमशः विजया और शुभद्रा प्रगट करते हैं । श्वेताम्बर शास्त्र कुरंगक भील को ज्वलन पर्वत में रहते बताते हैं । दिगम्बर शास्त्रों में ज्वलन पर्वत का कोई उल्लेख नहीं है । वज्रनाभि की कुरंग भील के हाथ से मृत्यु हुई बताकर श्वेताम्बर शास्त्र उसे ललितांग स्वर्ग में देव होते और वहां से चयकर सुरपुर के राजा वज्रबाहु की पत्नी सुदर्शना के गर्भ में आते लिखते हैं । इनकी कोख से, जन्म पाकर वह उसे स्वर्णबाहु नामक चक्रवर्ती राजा होते

लिखते हैं । किंतु दिगम्बर शास्त्रों में वज्रनाभि को चक्रवर्ती बताया गया है ।

इस भव में तो मरुभूति का जीव मध्यम ग्रैवेयिक से चयकर आनन्द नामक महामण्डलीक राजा हुआ था, यह दिगंबर शास्त्र कहते हैं । किंतु दोनों सम्प्रदाय के ग्रंथों में इनके पिता का नाम वज्रबाहु ही है । दिगम्बर शास्त्र इनको अयोध्या का राजा बताते हैं और इनकी रानी का नाम प्रभाकरी लिखते हैं । श्वेतम्बर शास्त्र यह भी कहते हैं कि स्वर्णबाहु को एक दफे उनका घोड़ा ले भागा और वह साधुओं के एक आश्रम में पहुंचे । वहां रत्नपुर के विद्याधर राजा की कन्या पद्मा पर वह आसक्त हुये और उसे ले भागे । इस पद्मा के सम्बंधियों की सहायता से वह चक्रवर्ती राजा हुये बताये गये हैं ।

पद्मा हरण की कथा कालिदास कृत बहुत कुछ संस्कृत के शकुन्तला नाटक की वार्ता से मिलती जुलती है । दिगम्बर शास्त्रों में यह कुछ भी उल्लेख नहीं है । इसके स्थान पर उनमें आनन्द राजा को पूजा करते और उनके सूर्यविमानस्थ मंदिरों की पूजा करने से 'सूर्य'का प्रारम्भ होता लिखा है । आनन्द के मुनि होने पर कमठ के जीव शेर ने उनकी जीवन लीला समाप्त कर दी थी । वे भौतिक शरीर छोड़कर आनत स्वर्ग में देव हुये । श्वेताम्बर शास्त्र स्वर्णबाहु के मुनि होने और शेर द्वारा मारे जाने को तो स्वीकार करते हैं, परन्तु उन्हें महाप्रभा विमान में देव होते लिखते हैं । यहां से चयकर यह जीव इक्ष्वाकुवंशी राजा अश्वसेन और रानी वामा के यहां बनारस में श्री पार्श्व नामक राजकुमार होते हैं, यह बात दोनों संप्रदाय के शास्त्र स्वीकार करते हैं । किन्तु श्वेताम्बर शास्त्र में जो उनका पार्श्व नाम इस कारण पड़ा बताया है कि उनकी माता ने अपने 'पार्श्व' (बगल) में एक सर्प को देखा था, दिगंबर शास्त्रों के कथन से प्रतिकूल है । उन में इन्द्र ने भगवान का चमकता हुआ पार्श्व देखकर

उनका नाम पार्श्व रखा था, यह लिखा है ।

दिगम्बर उनके विवाह की वार्ता से भी सहमत नहीं है । श्वेतम्बर शास्त्र में कमठ के जीव को नर्क से निकलकर रोर नामक ब्राह्मण का कठ नाम का पुत्र होते बतलाया है । पर दिगंबर शास्त्र कहते हैं कि कमठ का जीव नर्क में से निकलकर संसार में किंचित रुककर महीपालपुर का राजा महीपाल हुआ, जो भगवान पार्श्वनाथ का इस भव में नाना था । इस प्रकार पार्श्वजी के अंतिम संसारी जीवन में कमठ से उनका सम्बंध पुनः उनके प्रथम भव जैसा हो जाता है। आखिर में दोनों संप्रदाय के शास्त्र कमठ जीव को पंचाग्नि तपता हुआ साधु और उससे भगवान पार्श्व का समागम लिखते हैं । श्वेताम्बर शास्त्र सर्प को पाताल लोक में धारण नामक राजा और कमठ जीव को मेघमालिन असुर होता लिखते है । दिगम्बर शास्त्र सर्प को धरणेन्द्र और कमठ जीव को संवर नामक ज्योतिषी देव हुआ बतलाते हैं । दोनों संप्रदाय भगवान को तीस वर्ष की अवस्था में दीक्षा धारण करते प्रगट करते है; किंतु श्वेतम्बर शास्त्रों में दीक्षा वृक्ष अशोक है और दिगम्बर शास्त्रों में वह बड़ का पेड़ बताया गया है । उसी तरह उनके दीक्षा लेने का कारण भी दोनों आम्नायों के ग्रंथों में विभिन्न है ।

दिगम्बर शास्त्र छद्मस्थावस्था में उन्हें मौन धारण किए हुए बताते हैं; परंतु भावदेवसूरि के चरित में उन्हें तब भी उपदेश देते लिखा है । यह बात उनके आचारांगसूत्र के कथन से भी बाधित है; जिसमें तीर्थंकर भगवान को इस दशा में मौन वृत गृहण किए हुए विचरते लिखा है । उपरांत श्वेताम्बराचार्य असुर द्वारा भगवान पर उपसर्ग हुआ बतलाते हैं और उसके अन्त में उसे भगवान की शरण में आया कहते हैं । किन्तु दिगम्बर शास्त्र समोशरण में उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई बतलाते हैं । उपसर्ग होने के बाद वह काशी पहुंचे थे,

यह श्वेताम्बर कहते हैं । परन्तु दिगंबर शास्त्रों में यह घटना स्वयं काशी में हुई बताई गई है । मोक्ष पाने पर भगवान के निर्वाण स्थान पर देवेन्द्र ने रत्न जटित स्तूप बनाया था, यह भी श्वेताम्बर शास्त्र कहते हैं । दिगंबर ग्रन्थों में शायद कोई ऐसा उल्लेख नहीं है ।

कल्पसूत्र में गर्भ तिथि चैत्रकृष्णा ४ समय अर्ध रात्रि लिखी है । दिगम्बर शास्त्र में यह वैशाखकृष्ण २ समय अर्ध रात्रि बताई गई है । हां, दोनों संप्रदाय के ग्रन्थों में भगवान के पांचों कल्याण कों को विशाखा नक्षत्र में घटित हुआ बतलाया गया है । जन्म तिथि भी दिगम्बर शास्त्र में श्वतेम्बर के पौष कृष्ण १० के स्थान पर पौष कृष्ण एकादशी है । हां दीक्षा तिथि दोनों संप्रदायों में एक मानी गई है । पालकी का नाम कल्पसूत्र में 'विशाला' और दिगम्बर शास्त्र में 'विमला' है । दीक्षा समय दिगम्बर शास्त्र भगवान का दिगंबर मुनि हुआ बतलाते हैं; परन्तु श्वेताम्बर शास्त्र उन्हें देवदृष्य वस्त्र धारण करते हुये लिखते हैं; यद्यपि उनका यह कथन नि:सार है, क्यों कि पहले तो उन्हीं के शास्त्रों में साधु की सर्वोच्च दशा नग्न बताई है और उसका अभ्यास तीर्थंकरों ने किया, ऐसा लिखा है । तिस पर इसके अतिरिक्त बौद्ध और वैदिक मतों के ग्रंथों से भी भगवान महावीर से पहले के जैन साधुओं का भेष नग्न ही प्रमाणित होता है ।[१७]

वैदिक काल के जैन यति अथवा ज्येष्ठ व्रात्य नग्न होते थे, यह हम किंचित ऊपर देख ही चुके हैं । अस्तु: श्वेताम्बर इस कथन पर सहसा विश्वास नहीं किया जा सकता आगे दिगम्बर शास्त्र भगवान् की छद्मस्थावस्था ४ मास और केवलज्ञान प्राप्ति की तिथि चैत्र कृष्ण चतुर्दशी बतलाते हैं ।

दिगम्बर शास्त्र में गण और गणधर दश बताये गए हैं; जैसे भावदेवसूरि ने भी बताये हैं, परन्तु कल्पसूत्र में वे ८ ही हैं । मुनियों की संख्या दिगम्बर

शास्त्रों में भी १६००० बताई गई है; परन्तु आर्यिकाओं की संख्या श्वेताम्बर से विपरीत उनमें ३६००० है । श्रावक भी एक लाख और श्राविका तीन लाख बताये गए हैं । सम्मेद शिखर से मुक्त हुए दिगम्बर शास्त्र भी स्वीकार करते हैं, परन्तु उनका कथन है कि भगवान ने एक मास का योग साधन किया था और श्रावन सुदी ७ को ३६ मुनीश्वरों के साथ मुक्ति लाभ किया था । कल्पसूत्र में उन्हें श्रावण शुल्क ८ को ८३ व्यक्तियों सहित निर्वाण पद पाते लिखा है । इस प्रकार दोनों आम्नाय के शास्त्रों में भगवान् पार्श्व की जीवनी में परस्पर भेद है । श्वेताम्बरों के अर्वाचीन ग्रंथों, जैसे भावदेवसूरि के चरित में जो पूर्वभव वर्णन है, वह संभवत: दिगम्बर शास्त्रों से लिया गया है क्योंकि उसमें कुछ विशेष अन्तर नहीं है और वह वर्णन उनके प्राचीन ग्रन्थों में नहीं मिलता है । तिस पर भावदेवसूरि जो दिगंबराम्नाय के अनुसार दश गणधर बतलाते हैं, वह भी इसी आधार का सूचक है । परन्तु इसको निर्णयात्मक रूप से स्वीकार करना जरा कठिन है । किन्तु अनुमान श्वेताम्बर कथन को दिगम्बर शास्त्रों का ऋणी बतलाता है । यह भी ध्यान रहे कि भावदेवसूरि आदि के पार्श्वचरित दिगम्बरों के पार्श्वचरित आदि से उपरांत की रचना है । अस्तु;

भारतीय साहित्य में ऐसी अन्य कथायें

भगवान पार्श्वनाथजी के पूर्व भव वर्णन में जिस प्रकार मरुभूति और कमठ के भव से परस्पर दो जीवों में दशमें भव तक शत्रुता चली आई बतलाई गई है, वह जीवों के कषाय भावों की तीव्रता और उसके कटुक फल की द्योतक है और भारतीय साहित्य में ऐसे ही अन्य उल्लेख भी मिलते हैं । चित्त और सम्भूत की कथा इसी तरह दो जीवों का जन्मान्तर तक एक दूसरे का [illegible] [illegible] है।[१८] सनत्कुमार की कथा तो बिल्कुल पार्श्वनाथ जी के पूर्व भव

वर्णन के ढंग की है।[१९] उसमें भी वैर भाव की मुख्यता है । यही हाल प्रद्युम्नसूरि की समरादित्य कथा का है; जिसमें राजकुमार गुणसेन और ब्राह्मण अग्निशर्मन के पारस्परिक विद्वेष का खासा दिग्दर्शन कराया गया है । बौद्धों के 'धम्मपद' में (२९१) भी एक कथा इसी जन्म जन्मांतर में वैर भाव की द्योतक है । इसी प्रकार की एक कथा 'कथाकोष' में दो ब्राह्मण भाईयों की दी हुई है; जिसमे एक भाई ने लोभ के वशीभूत हो दूसरे भाई के प्राण लेने की ठानी थी । आखिर पांच भवों तक यह वैर चलता रहा था । सारांशत: इस ढंग की कथा यें भारतीय साहित्य में बहुतायत से मिलती हैं । परंतु हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि मरुभूति और कमठ जैसी पार्श्व कथा से सुन्दर और अनुपम कथा शायद अन्यत्र नहीं है । इसके लिए हम 'पार्श्वाभ्युदय काव्य' के टीकाकार योगिराज पंडिताचार्य के इस श्लोक को उपस्थित किये बिना नहीं रहेंगे -

'श्री पार्श्वात्साधुत: साधु: कमठात्खलत: खल: ।
पार्श्वाभ्युदयत: काव्यं न च क्वचिदपीष्यते ।।१७।।'

अर्थात् - 'श्री पार्श्वनाथ से बढ़कर कोई साधु, कमठ से बढ़कर कोई दुष्ट और पार्श्वाभ्युदय से बढ़कर कोई काव्य नहीं दिखलाई देता है ।' निष्पक्ष विद्वान् के लिये इसमें कुछ भी अतिशयोक्ति नहीं है । यहां पर स्थान और अवसर नहीं है कि हम पार्श्वाभ्युदय जैसे अनुपम साहित्य ग्रंथों का रसास्वादन अपने पाठकों को करा सके ।

जैन पुराण ग्रंथ प्राचीन-काल से उपलब्ध हैं

किन्तु उपरोल्लिखित विवरण से पाठक यह न समझ लें कि ईसा की ५ वीं या ६ठी शताब्दि के पहले कोई जैन ग्रन्थ भगवान पार्श्वनाथजी के दिव्य चरित्र

को प्रकाश में लाने के लिए रचा ही न गया था । यह बात नहीं हैं; क्योंकि भगवान महावीर स्वामी की दिव्य ध्वनि से प्रगट हुए और श्री इन्द्रभूति गौतम गणधर द्वारा ग्रथित प्रथमानुयोग का अस्तित्व ईसा से पूर्व की प्रथम शताब्दि तक रहा था; और उसको लुप्त होता हुआ देखकर ही पूर्वाचार्यों ने उस समय के उपलब्ध अंश से ग्रन्थों को रचकर उन्हें लिपि बद्ध करना प्रारंभ कर दिया था । उसके पहले आगम ग्रंथ ऋषियों की स्मृति में सुरक्षित रहते थे, यह हम पहले बतला चुके हैं । अतएव इस आधार से बने हुये प्राचीन पुराण ग्रंथों के अस्तित्व का पता हमें श्री जिनसेनाचार्यजी के कथनसे चलता है । वे लिखते हैं:

"नमः पुराणकारेभ्यो यद्वक्राब्जे सरस्वती ।
येषामन्यकवित्वस्य सूत्रपातायितं वचः ॥४१॥
धर्मसूत्रानुगा हृद्या यस्य वाङ्मणयोऽमलाः ।
कथालङ्कारतां भेजुः काणभिक्षुर्जयत्यसौ ॥५१॥"

यहां पहले श्लोक द्वारा प्राचीन पुराणकारों को नमस्कार किया है; जिनके वचनों के आधार से दूसरों ने ग्रंथ बनाये हैं और दूसरे में काणभिक्षु नामक कवि की प्रशंसा की है, जिसने कोई कथा ग्रन्थ बनाया था । इतना ही क्यों? श्री जिनसेनाचार्यजी के पहले एक महापुरण गद्य में श्री कवि परमेश्वर द्वारा रचा हुआ मौजूद था, जिसमें २४ तीर्थंकर और अवशेष शलाका पुरुषों के चरित्र वर्णित थे । श्री जिनसेनाचार्य इस बात को स्पष्ट प्रकट करते हैं :

'कविपरमेश्वर निगदितगद्यकथामातृकं पुरोश्चरितम् ।
सकलछन्दोलङ्कृतिलक्ष्य सूक्ष्मार्थगूढपदरचनम् ॥'

अतएव इन उल्लेखों से यह स्पष्ट है कि जैनाचार्य प्रणीत उपरोक्त चरित्र ग्रन्थों के अतिरिक्त प्राचीन काल में और भी ऐसे पुराण ग्रंथ मौजूद थे जिनमें श्री पार्श्वनाथजी का चरित्र वर्णित था । किंतु साम्प्रदायिक विद्वेष और काल महाराज की कृपा से वह आज उपलब्ध नहीं है ।

कमठ जीव का वैर यथार्थ है - रहस्यपूर्ण अलंकार नहीं है

साथ ही यहां पर हम यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक समझते हैं कि पार्श्व चरित्र में जो कमठ जीव के वैर भाव का वर्णन है, वह यथार्थ है । केवल कवियों ने अपने काव्य ग्रन्थों को सुललित बनाने के लिये इसका अविष्कार नहीं किया था । दिगम्बर जैन संप्रदाय के प्राचीन से प्राचीन ग्रन्थ में इस विषय का उल्लेख मौजूद है । कमठ के जीव असुर ने भगवान पर उपसर्ग किया था और उसके अंत में भगवान की केवलज्ञान की प्राप्ति हुई थी । यह बात जैन सम्प्रदाय में एक स्पष्ट घटना के तौर पर प्रख्यात है । इतना ही क्यों ? प्रत्युत भगवान पार्श्वनाथजी की जितनी भी प्राचीन प्रतिमायें मिलती हैं; वह सर्प फण युक्त मिलतीं हैं और वे इस घटना की प्रगट साक्षी हैं । वह फण मण्डल बहुधा सात अथवा नौ फणों का होता है; परन्तु सौ फणावाली प्रतिमायें भी मिली हैं । उड़ीसा और मथुरा की प्राचीन प्रतिमायें भी इस रूप की हैं किंवा विविध स्तोत्रों में इस घटना का उल्लेख किया हुआ मिलता है । विक्रम की दूसरी शताब्दि के दिगम्बर जैनाचार्य श्री समन्तभद्रस्वामी इस घटना का उल्लेख निम्न प्रकार करते हैं:-

'बृहत्फणामण्डलमण्डपेन यं स्फुरत्तडित्पिङ्गरुचोपसर्गिणाम् ।
जुगूह नागो धरणो धराधरं विरागसन्ध्यातडिदम्बुदो यथा ॥'

इसी तरह श्री सिद्धसेन दिवाकर प्रणीत कल्याणमंदिर स्तोत्र में भी यही उल्लेख मौजूद हैं; यथा:-

'यस्य स्वयं सुरगुरुर्गरिमाम्बुराशेः, स्तोत्रं सुविस्तृतमतिर्नविभुर्विधातुम् ।
तीर्थेश्वरस्य कमठस्मयधूमकेतोस्तस्याहमेष किल संस्तवनं करिष्ये ॥
'प्राग्भारसम्मतनभांसि रजांसि रोषादुत्थापितानि कमठेन शठेन यानि ।
छायापि तैस्तव न नाथ हता हताशो ग्रस्तस्त्वमी भिरयमेव परं दुरात्मा ॥३१' '

सोमचंद्र की कठमहोदधि (श्वेताम्बर) में भी इस घटना का उल्लेख है । अतएव इस घटना में संशय करना वृथा है ।

पार्श्वनाथ सम्बन्धी तीर्थ स्थान

जैन समाज में भगवान् पार्श्वनाथ के सम्बन्ध में कई पवित्र स्थान तीर्थरूप में माने जाते हैं । सम्मेद शिखर तो निर्वाणस्थान होने के कारण बहु प्रख्यात है; परन्तु इसके अतिरिक्त और स्थान भी तीर्थ रूप में पूजे जाते हैं । बनारस गर्भ जन्म और केवलज्ञान स्थानरूप में प्रसिद्ध है । किन्तु दिगम्बर संपदाय में न मालूम अहिच्छत्र को किस आधार से केवलज्ञान स्थान माना जाता है ? हमारे ख्याल से वहां पर एक नागराजा ने भगवान की विनय और भक्ति की थी और उनकी पवित्र स्मृति में एक मंदिर और स्वर्णलेप युक्त प्रतिबिंब बनवाई थी, उसी के उपलक्ष में यह स्थान पूज्य माना जाने लगा है । पार्श्वनाथजी के सम्बन्ध में शास्त्र इसके अतिरिक्त और कोई उल्लेख नहीं करते हैं । कलिकुण्ड अथवा कलिकुण्ड पार्श्वनाथ नामक तीर्थ भी दोनों संप्रदायों में मान्य है । यहां पर करकण्डु महाराजाने अनेक जिन मंदिर और रत्नमई पार्श्व प्रतिमा बनवाये थे, यह दिगम्बर शास्त्रों का कथन है । इसके अतिरिक्त श्वेतांबर संप्रदाय में

श्वेतांबरादि संप्रदायों के विषय में कहीं है, वह भी केवल सत्य खोजक भाव को लेकर लिखी गई हैं । इसमें विवश ऐसी परिस्थिती होती है, जिसे एक इतिहास लेखक मेटने और सर्व प्रिय बनाने में असमर्थ रहता है । इससे हमारा भाव किसी का दिल दुखाने का नहीं है और न उनकी मान्यताओं को हेय प्रगट करने का है । इसके साथ ही जो इसमें जैन ग्रन्थों में उल्लेखित स्थानों को यथासंभव आज की दुनियां में खोज निकालने का प्रयत्न किया गया है, वह अनोखा है और इस विषय का प्रथम प्रयास है । आशा है, विद्वज्जन इस पर निष्पक्ष हो विचार करेंगे और उचित सम्मति द्वारा अनुग्रहीत करेंगे । पार्श्वनाथजी के पवित्र जीवन चरित्र को प्रकट करनेवाले इस ग्रन्थ को मैं लिख सका हूं यह केवल धर्म का ही प्रभाव है । वरन् मुझ जैसे अल्पज्ञ की क्या सामर्थ्य थी जो इस गहन विषय में अपनी अयोग्य लेखनी का प्रवेश करा सकता ! अस्तु; जय प्रभु पार्श्व की जय !

पार्श्वनिर्वाण दिवस २४५४ **विनीत - कामताप्रसाद जैन ।**

सन्दर्भ

१ - पुराणमितिवृत्तमाख्यायिकोदाहरणं धर्म्मशास्त्रमर्थ शास्त्रं चेतिहासः-कौटिल्य ।

२ - रेपसन, एन्शियेन्ट इन्डिया पृ. ७० ।

३ - जैनसूत्र S.B. E. XXII. Intor-P. IX.

४ - संक्षिप्त जैन इतिहास पृ. ७० ।

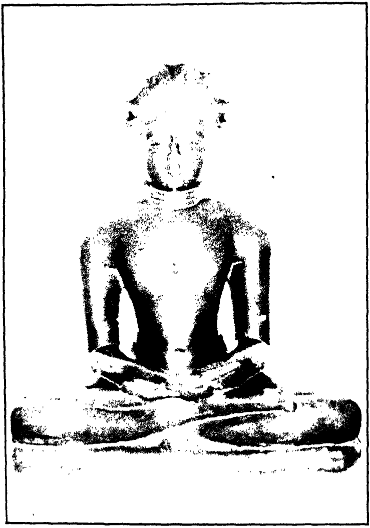
५ - हिन्दी विश्वकोष भा. १ पृ. ५८९ ।

६ - बंगाल, बिहार, ओड़ीसा जैन स्मारक पृ. ८९ ।

७ - जैनस्तूप एण्ड अदर एण्टीक्वटीज आफ मथुरा पृ. १३ ।

८ - भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध पृ. १९९ ।

९ - भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध का परिशिष्ट । बौद्ध शास्त्रों में जैनों का उल्लेख निगन्थरूप में हुआ है । स्वयं जैन ग्रंथों में भी जैन मुनि निगंथ के नाम से परिचित हुए हैं । (मूलाचार पृ. १३) 'निगंथ' का संस्कृत रूप 'निर्ग्रन्थ' है, जिसका भाव निर (=नहीं) + ग्रंथ (=ग्रंथि= गांठ) अर्थात् ग्रंथियों से



श्री सांवलिया पार्श्वनाथ करगुवाँ (झाँसी) उ. प्र.

रहित है। जैकोबी और बुल्हरने निगंथों का भाव जैनों से प्रमाणित किया है। (देखो जैन सूत्र S.B.E. की भूमिका)

१० - जैन लॉ. पृ. २२३.

११ - जैनधर्म विषय में अजैन विद्वानों की सम्मतियां पृ. ५१ ।

१२ - हरिवंशपुराण भूमिका पृ. ६ ।

१३ - स्टडीज इन साउथ इन्डियन जैनीज्म भा. १ पृ. १२ ।

१४ - जैन धर्म का महत्व पृ. १४ ।

१५ - हिस्ट्री ऑफ दी प्री. बुद्धिस्टिक इन्डियन फिलासफी पृ. ३७७ ।

१६ - डर जैनिसगस पृ. १९-२१ ।

१७ - रिलीजन्स ऑफ दी इम्पायर पृ. २०३ ।

१८ - कनारीज लिटरेचर पृ. २० ।

१९ - हार्ट ऑफ जैनीज्म पृ. ४८ ।

२० - ऐसे ऑन दी जैन बाईब्लोग्रेफी ।

२१ - हरिवंश पुराण भूमिका पृ. ६ ।

२२ - अजैन विद्वानों की सम्मतियां, (व्यावर) पृ. २८ ।

२३ - पूर्व पृ. १८ ।

२४ - जैनसूत्र S.B.E. Intro

२५ - Corlyle Heroes & Hero worship.

२६ - Thomas, Jainism-Early Faith of Asoka.

२७ - बंगाल, बिहार, ओड़ीसा के जैन स्मारक पृ. १३८ ।

२८ - जैन स्तूप एण्ड अधर एण्टीक्वटीज आफ मथुरा पृ. २१ -३० ।

२९ - स्टडीज इन साउथ इन्डियन जैनीज्म भाग २ पृ. ४ ।

३० - डायोलाग्स ऑफ दी बुद्ध (S. B. B. Vol. II.) Intro. to Kassapa-Sihanda-Stta.,

३१ - उत्तराध्ययन व्या. २३ ।

३२ - कल्पसूत्र (Stwenson) पृ. ८३ ।

३३ - महर्षि शिवव्रतलाल का. ''जैन धर्म और वैदिक धर्म'' वीर वर्ष ५ पृ. २३५ और प्रिन्सिपल्स ऑफ हिन्दु ईथिक्स पृ. ४४३-४८७ ।

३४ - लाजपतराय, ''भारतवर्ष का इतिहास'' भाग १ पृ. १२९ और भारत गौरव लोकमान्य तिलक का व्याख्यान - जैन विद्वानों की सम्मतियां पृ. १० ।

३५ - सत् शास्त्र ''वीर'' वर्ष ४ पृ. ३५३ ।

३६ - इन्डियन हिस्टारीकल क्वार्टर्ली भाग ३ पृ. ४७३ - ४७५ अवेस्ता डिक्शनरी में 'ऋषभ' शब्द की उत्पत्ति अवेस्तन (Avestan) शब्द 'अरशम' (= नर) से लिखा है, जिसके अर्थ पुरुष, बैल, बहादुर आदि होते हैं । इसी तरह 'वीर' के अर्थ भी बहादुर लिखे हैं । सारांश मि. गोविन्द पैने उक्त पत्रिका में इन दोनों शब्दों को बहु प्राचीन सिद्ध किया है। अवेस्तन भाषा में अर्हत् शब्द भी मिलता है ।

३७ - पूर्व प्रमाण ।

३८ - मेक्षमूलर द्वारा सम्पादित, लन्दन १८६४ की छपी, भा. २ पृ. ५७९ ।

३९ - इन्डियन एण्टीक्वरी भा. ३०, १९०१ और जिनेन्द्रमत दर्पण पृ. २१ ।

४० - ऋग्वेद ३०-३; ३६-७; ३८-७ ।

४१ - युजुर्वेद - ॐ सुपार्श्वमिन्द्रहवे ।'

४२ - वाजस्यनु प्रसव आवभूवेना च विश्वभुवनानि सर्वतः । सनेमिराजा परियात्ति विद्वान् प्रजां पुष्टि वर्धयनमानो । - अस्मेस्वाहा ॥ अ. ९ मं. २५ ॥

४३ - हिस्टॉरीकल ग्लीनिंग्स पृ. ७६ ।

४४ - श्रीयुत पं. अजितकुमारजी शास्त्री ने 'सत्यार्थ दर्पण' में (पृ. ९१) ऋग्वेद आदिसे निम्न उद्धरण दिये है, इनसे जैन तीर्थंकरोंका व्यक्तित्व प्रमाणित : -

''ॐ त्रैलोक्यप्रतिष्ठितान् चतुर्विंशतितीर्थकरान् ऋषभाद्य वर्द्धमानान्तान् सिद्धान् शरणं प्रपद्ये । ॐ पवित्रं नग्नमुपविप्रसामहे एषां नग्ना (नग्नये) जातिर्येषां वीरा । येषा नग्नं सुनग्नं ब्रह्म सुब्रह्मचारिणं उदितेन् मनसा देवस्य महर्षयो महर्षिभिर्जहेति या जकस्य य जंतस्य च सा एषा रक्षा भवतु शांतिर्भवतु, तुष्टिर्भवतु, शक्तिर्भवतु स्वस्तिर्भवतु, श्रद्धाभवतु, निर्व्याजं भवतु ।'' यज्ञेषु मूलमंत्र एष इति विधिकंदल्या) ।

''ज्ञातरमिन्द्रं ऋषभं वदन्ति अतिचारमिन्द्रं तमरिष्टनेमिं । भवे भवे सुभवं सुपार्श्वमिन्द्र हवं तु शक्रं अजितं जिनेन्द्र तद्वर्द्धमानं पुरुहूतमिन्द्रं स्वाहा । नमं सुवीरं दिग्वाससं ब्रह्मगर्भं सनातनम् । दयातु दीर्घायुस्त्वाय वलायवर्चसे सुप्रजास्त्वाय रक्षरक्ष रिष्टनेमि स्वाहा ।'' (बृहदारण्यके)

''आतिथ्यरूपं मासरं महावीरस्य नग्नहु ।
रूपामुपासादभेतात्तिथौ रात्रौः सुरासुताः ॥'' यजुर्वेद अ. १९ भ. १४

''समिद्धस्य प्रगसहाऽग्रे वन्दे तव श्रियं । वृषभो गम्मवानसिममध्वरेष्विध्यसे ॥'' ऋग्वेद ४ अ. ४ भ. ३ व. ६

४५ - ऋग्वेद - ३-३-१४-२१ ।

४६ - वीर भाग-५ पृ. २४० ।

४७ - अजैन विद्वानोंकी सम्मतियां पृ. ३१

४८ - योगवाशिष्ट अ १५ श्लोक ८ और जैन इतिहास सीरीज भाग १ पृ. १०-१३ ।

४९ - उत्तरपुराण पृ.३३५ ।

५० - विश्वकोष भाग १ पृ. २०२ ।

५१ - पञ्चतंत्र ५/१ ।

५२ - जैन इतिहास सीरीज भा. १ पृ. १३ ।

५३ - इंडियन हिस्टोरीकल क्वारटर्ली भा. ३ पृ. ३०७ - ३१५ ।

५४ - वीर वर्ष ५ पृ. २३८ ।

५५ - इन्डो-ईरेनियन मूल ग्रन्थ और संशोधन भा. ३ व 'धर्मध्वज' वर्ष ५ अंक १ पृ. ९ ।

५६ - विशेष के लिये देखो 'वीर' वर्ष ६ में प्रकट होनेवाला 'ऋषि अंगरिस और जैन धर्म' शीर्षक लेख

५७ - जैन सिद्धांत भास्कर भा. १ किरण १ पृ. ५६-५७ ।

५८ - 'मागध्यावंतिका प्राच्या शौरसैन्यर्धमागधी वाहीकी दक्षिणात्या च भाषा: सप्त प्रकीर्तिता: । चर्चासमधान पृ. ३९-४० देखो ।

५९ - संक्षिप्त जैन इतिहास भा. १ पृ. १३ ।

६० - किन्तु अब किन्हीं विद्वानोंका मत है कि प्राचीन शाकटायन जैन नहीं थे । जैन शाकटायन तो राष्ट्रकूट वंशी राजा अमोघवर्ष के समय में हुए बताए जाते हैं ।

६१ - इन्द्रश्चन्द्र: काशकृत्स्नापिशली शाकटायन: ।
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा: जयन्त्यष्टादिशाब्दिका: ॥

६२ - जिनेन्द्रमत दर्पण भा. १ पृ. ५-६ ।

६३ - जैन इतिहास सीरीज भा. १ पृ. १३-१४ ।

६४ - हिस्ट्री एण्ड लिट्रेचर ऑफ जैनीज्म पृ. १० ।

६५ - इन्डयन एन्टीक्वेरी भा. ९ पृ. १६३ ।

६६ - भगावत स्कन्ध ५ अ. ३-६ ।

६७ - भागवत स्कन्ध २ अ. ७ (व्यकंटेश्वर प्रेस) पृ. ७६ ।

६८ - जिनेन्द्रमत दर्पण भा. १ पृ. १० ।

६९ - हिन्दी विश्वकोष भा. ३ पृ. ४४४ और डॉ. स्टीवेन्सन, कल्पसूत्रकी भूमिका पृ. १६ ।

७० - तस्य भरतस्य पिता ऋषभ: हेमाद्रिदक्षिणं वर्ष महद्भारतं नाम शशास ।

७१ - ऋषभो मरुदेव्याग्न ऋषभाद्भरतोऽभवत् । भरताद्भारतं वर्ष भरतात्सभीतस्त्वभूत् ॥

७२ - कैलाशे विमले रम्ये वृषभोऽयं जिनेश्वर. ।

चंकार स्वावतारं च सर्वज्ञ: सर्वग: शिव: ॥।५९ ॥

रैवताद्रौ जिनो नेमिर्युगादिर्विमलाचले ।

ऋषीणां या श्रमादेव मुक्तिमार्गस्य कारणम् ॥

७३ - अं. जैन गजट भा. १४ पृ. ८९-वेणस्य पातकाचारे सर्वमेव वदाम्यहम् ॥ तस्मिन-छासति धर्मज्ञे प्रजापाले महात्मनि । पुरुषः कश्चिदायोत ब्रह्मलिङ्गीधरस्तथा ॥ नग्नरूपो महाकायः सितमुण्डो महाप्रभः। मार्जनीं शिखिपत्राणां कक्षायां स हि धारयन् ॥ पठमानो मरुच्छास्त्रं वेदशास्त्रविदूषकम् । यत्रवेणो महाराजस्तंत्रोपायात्वरान्वितः ॥ अर्हन्तो देवता यत्र निर्गृन्थों गुरुरुच्यते । दया वै परमो धर्मस्तत्र मोक्षः प्रदृश्यते । एवं वेणस्य वै राज्ञः सृष्टिरेव महात्मनः । धर्माचारं परित्यज्य कथं पापे मतिर्भवेत् ॥ R.C. Dutt, Hindu Shastras Pt. VIII. pp.213-22

७४ - अं. जैन गजट भा. १४ पृ. १६२ हाथीगुफावाले शिला लेख में सम्राट के वीरत्व की उपमा राजा वेण से दी है । इससे भी राजा वेण का जैन होना प्रगट है । (देखो जर्नल आफ दी बिहार एण्ड ओरिसा रिसर्च सोसाइटी, भा. १३ पृ. २२४ ।

७५ - सत्यार्थ दर्पण पृ. ८९ ।

७६ - पूर्व पृ. ८७ यथाः- ''अकषष्ठिषु तीर्थेषु यात्रायां यत्फलं भवेत् । आदिनाथस्य देवस्य स्मरणेनापि तद्भवेत् ॥''

७७ - Macdonell's History of Sanskrit.

७८ - Indischen Studien I. 32.

७९ - विष्णु पुराण २-१ ।

८० - आदिपुराण और उत्तरपुराण देखो ।

८१ - शैशवेभ्यस्तविद्यानां, यौवने विषयेशिनाम् ।
वार्धके मुनिवृत्तिनां, योगेना ते तनुत्यजाम् ॥

८२ - भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध का परिशिष्ट और मज्झिमनिकाय भाग १ पृ. २ ।

८३ - पूर्व प्र. पृ. ९८ ।

८४ - पूर्व पृ. ६ ।

८५ - क्षत्रिय क्लैन्स इन बुद्धिस्ट इन्डिया पृ. ८२ ।

८५ - जर्नल रायल ऐशियाटिक सोसाइटी, बंबई, No. LIII. भाग १९

८७ - जैनों की देव शास्त्र गुरूपूजा में जो निम्न मंत्र हैं, वह शायद इसी 'शुद्धाशुद्धिय' मंत्र के द्योतक हैं, जिसको टीकाकार भी श्रमण मंत्र बतलाता है:-

''अपवित्रः पवित्रो वा सुस्थितो दुःस्थितोऽपि वा ।
ध्यायेत्पंचनमस्कारं सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥१॥
अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा ।
यः स्मरेत्पामात्मानं स बाह्याभ्यंतरे शुचिः ॥२॥''

८८ - यहां इन्द्रको 'शुद्धाशुद्धिश्च' मंत्र, जो जैन मंत्र प्रतीत होता है, के स्थानपर प्रजापतिके पास जाते लिखा सो यह भी हमारे इस वक्तव्यका पोषक है कि प्रजापति जैन धर्म प्रणेताका सूचक है । अथर्ववेद के

महाव्रात्य प्रजापति भी जैन और संभवत: श्री ऋषभदेव हैं । इससे भी प्रजापति का जैन सम्बन्ध प्रकट है।

८९ - 'मत्स्यपुराण' के निम्न वर्णन से भी यह बात प्रमाणित होती है कि एक समय अवश्य ही जैनधर्म की इतनी प्रबलता हो गई थी कि इन्द्र का मान और विनय जाता रहा था-

''इन्द्र राज्य विहीन बृहस्पति के पास अपनी फरियाद लेकर पहुंचा । बृहस्पति ने गृहशांति और पौष्टिक कर्म द्वारा इन्द्र को बलिष्ठ बनाया । और जैन धर्म के आश्रय से उसने रजिपुत्रों को, (जिनने इन्द्र को राज्य च्युत किया था) मोहित किया । बृहस्पतिने खूब ही रजिपुत्रोको वेदत्रय भ्रष्ट किया । इसपर इन्द्र ने उन वेद बाह्य और हेतुवादी रजिपुत्रों को वज्रसे नष्ट कर दिया ।'' (मत्स्य पु. आनन्दाश्रम. अ. २४ श्लो. २८-४८ ।

९० - वीर वर्ष ४ पृ. ३७७-३८१ व ४२३-४२७ ।

९१ - सूरीश्वर और सम्राट, पृ. ३९८-३९९ और डिस्क्रिपशन ऑफ एशिया पृ. ११५ व २१३ ।

९२ - यह ध्यान रहे कि व्रात्य शब्द श्रावक और साधु दोनों का सूचक उसी तरह है, जैसे बौद्ध काल में 'निग्रन्थ', मध्यकाल में ''आर्हत'' और आज कल ''जैन'' शब्द है । तिसपर पगड़ी, रथ, धनुष, एक लाल कपड़ा पहनने का उल्लेख गृहपति के सम्बन्ध में हुआ है । (J.R.A. S.1921) इस कारण इन वस्तुओं का सम्बन्ध केवल 'हीन व्रात्यो' (श्रावकों) से समझना चाहिये । 'ज्येष्ठ व्रात्य' (साधु) तो बिलकुल दिगम्बर ही प्रगट किये गये है । जैसे कि हमने भी भगवान पार्श्वनाथ एवं उनके पूर्व के तीर्थंकरों को नग्न वेष धारी प्रगट किया है । सम्भव है कि अयोग्य धनुष को उनके हाथ में बतलाना उपहास सूचक होता जैसे आज कल कोई लोग अहिंसा धर्म को राजनीति का विरोधी बतलाते हैं ।

९३ - यहां भी प्रजापति को एक महाव्रात्य अर्थात् दि. जैन साधु बतलाया है जो सम्भवत: श्री ऋषभदेव ही थे । अतएव इस उल्लेखसे भी प्रजापति परमेष्ठिनूकी वैदिक ऋचाओं में हमारा जैन सम्बन्ध प्रगट करना ठीक है ।

९४ - कैंब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया भाग १ पृ. १५४ ।

९५ - पूर्व पुस्तक पृ. १७४ ।

९६ - क्षत्रिय क्लेन्स इन बुद्धिस्ट इन्डिया,पृ. १२८-१२९ ।

९७ - भगवान महावीर और महात्मा बुद्ध पृ. ६४-६५ ।

९८ - ब्रह्मदत्तकथा-वाइना जर्नल ऑफ ओरियन्टल स्टडीज, भा. ५ व ६ ।

९९ - कथाकोष, पृ. ३१-लाइफ एण्ड स्टोरीज ऑफ पार्श्वनाथ, भू. पृ. १३ ।

❑

भगवान पार्श्वनाथ कालीन परिस्थितियाँ

''कौशाम्ब्यां धनमित्राख्य-धनदन्तादयो मुदा ।
वाणिज्येन वणिक्पुत्रा निर्गता राजगेहकम् ।।''

- आराधना कथाकोष ।

कौशाम्बी से राजगृह को जाते हुये मार्ग में एक गहन वन पड़ता था । जिस समय का हम वर्णन लिख रहे हैं अर्थात् अब से लगभग तीन हजार वर्ष पहले जब कि भगवान पार्श्वनाथ का सर्व सुखकारी जन्म होनेवाला था, तब इस भारतवर्ष में आजकल की तरह रेल-गाड़ियां देश के इस छोर से उस छोर तक दौड़ती नहीं फिरतीं थीं, लोग इस तरह निडर होकर यात्रा नहीं कर सकते थे कि जैसे अब करते हैं । किन्तु यह बात भी नहीं है कि पहले यहां कोई शीघ्र गामी रथ आदि यात्रा वाहन थे ही नहीं ! प्रत्युत हम को स्पष्ट मालूम है कि जनसाधारण की यात्रा निष्कंटक बनाने के लिए स्वयं राजा लोग वन में जाकर डाकुओं और वटमारों को पकड़ने का प्रयत्न करते थे ।[१] तथापि अग्निरथ और वायुयान जैसे शीघ्रगामी सवारियां भी थीं, परन्तु यह निश्चित न हीं है कि वे सर्व साधारण को प्राय: मिल सकती हो ।

ऐसे ही समय में धनमित्र, धनदत्त आदि बहुत से सेठों के पुत्र व्यापार के लिए कौशाम्बी से चलकर राजागृह की ओर रवाना हुये थे यह बात हमें संस्कार आराधना कथाकोष में बताई गई है ।[२]

सेठ लोग अपना व्यापार का सामान गाड़ियों पर लादे चले जा रहे थे । रास्ते में गहन वन पड़ता था, उसी में होकर यह लोग जा रहे थे कि अचानक इन पर एक डाकुओं का दल टूट पड़ा और देखते ही देखते उन्होंने इनके माल

असबाब को लूट लिया । यह बेचारे ज्यों त्यों अपनी जान बचाकर वहां से भागे। डाकुओं के हाथ खूब धन आया, धन पाकर उन सबकी नियत बिगड़ी । सच है इस लक्ष्मी का लालच बड़ा बुरा है । भाई-भाई और पिता पुत्र में इसी की बदौलत शत्रुता बढ़ती देखी जाती है । इन डाकुओं का भी यही हाल हुआ, सब परस्पर में यही चाहने लगे कि सारा का सारा धन उसे ही मिले और किसी के पल्ले कुछ न पड़े । इस बदनियत को आगे रखकर वे एक दूसरे के प्राण अपहरण करने की कोशिश करने लगे । रात को जब वे लोग खाने को बैठे तो एक ने भोजन में विष मिला दिया; जिसके खाने से सब मर गए । यहां तक कि भ्रम में पड़ कर वह भी मर गया जिसने कि स्वयं विष मिलाया था; किन्तु इतने पर भी उन में एक बच गया । यह था एक **सागर दत्त** नाम वैश्यपुत्र दुराचारके वश पड़ा हुआ यह इन डाकुओं के साथ रहता था । परन्तु इसके पहले से ही रात को भोजन न करने की प्रतिज्ञा थी; इसी कारण वह डाकुओं की घात से बाल बाल बच गया । सचमुच यह चंचल सम्पत्ति मनुष्यों के प्राणों की साक्षात दुश्मन है और धर्म परम मित्र है । डाकू लोग धन के मोह में मरे, पर धर्म प्रतिज्ञा को निभानेवाला सेठ पुत्र बच गया । धन और धर्म का ठीक स्वरूप यहाँ स्पष्ट है ।

इस प्राचीन कथा से उस समय के भारत की दशाका परिचय मिलता है । यहां के व्यापारी विशेष धन सम्पन्न और उद्यमी थे । वे दूर-दूर देशों में व्यापार करने जाया करते थे । तथापि इसके अतिरिक्त इस कथा से यह भी स्पष्ट है कि उस समय भी जैन धर्म का प्रचार प्रभाव विशेष था । रात्रि भोजन का त्याग जैनी के बच्चे-बच्चे को होता है । इस कथा में भी इस नियम का महत्त्व प्रगट किया गया है । सचमुच जैन धर्म बौद्ध धर्म के स्थापित होने के बहुत पहले से

भारतवर्ष में चला आ रहा था, जैसे कि हम आगे देखेंगे । यद्यपि यह बात आज सर्वमान्य है ।[३]

उक्त जैन कथा के कथन की पुष्टि अन्य श्रोतों से भी होती है । बौद्ध के यहां भी एक कथा में विदेह को व्यापार का केन्द्र बताया गया है । वहां श्रावास्ती से विदेह को व्यापार निमित्त जाते हुये वन के मध्य एक व्यापारी की गाड़ी का पहिया टूट जाने का उल्लेख है[४] । प्राच्यविद्या विशारद डॉ. हीस डेविर्डस अपनी स्वतंत्र खोज द्वारा इस ओर विशेष प्रकाश डाल चुके हैं और उस समय व्यापार की अभिवृद्धि का जिकर करते हुये वे व्यापार के सुरक्षित मार्गों को इस प्रकार बतलाते हैं :-[५]

(१) एक मार्ग तो **उत्तर से दक्षिण-पश्चिम** की ओर को जो श्रावस्ती से बहुत करके महाराष्ट्र की राजधानी प्रतिष्ठान (पेंडत) तक गया था । इसमें व्यापार के मुख्य नगर दक्षिण की ओर से माहिस्सति, उज्जैन, गोनद्ध, विदिशा, कौशाम्बी और साकेत पड़ते थे ।

(२) दूसरा मार्ग **उत्तर से दक्षिण पूर्व** की ओर को था । यह श्रावस्ती से राजगृह को गया था । श्रावस्ती से चल कर इस पर मुख्य नगर सेतव्य, कपिलवस्तु, कुशीनारा, **पावा**, हत्थिगाम, भन्डगाम, वैशाली, पाटलीपुत्र और नालन्दा पड़ते थे । यह मार्ग शायद गया तक चला गया था और वहां पर यह एक अन्य मार्ग जो समुद्र तट से आया था उससे मिल गया था । यह मार्ग संभवतः ताम्रलिप्ति से बनारस के लिये था ।

(३) तीसरा मार्ग **पूर्व से पश्चिम** को था । यह मुख्य मार्ग था और प्रायः बड़ी नदियों के किनारे-किनारे गया था । इन नदियों में नावें किराये पर चलती

थीं । सेहजति, कौशाम्बी. चम्पा आदि सर्व ही मुख्य नगर इस मार्ग में आते थे।

इस तरह ये व्यापार के विशेष प्रख्यात् मार्ग उस समय के थे । इसमें महाराष्ट्र तक ही सम्बन्ध बतलाया गया है । दक्षिण भारत के विषय में कुछ नहीं कहा गया है । पुरातत्व विदों का मत है कि उस जमाने में उत्तर भारत वालों को दक्षिण भारत के विषय में बहुत कम ज्ञान था - वे उसको 'दक्षिणपथ' कहकर छुट्टी पा लेते थे परन्तु जैन शास्त्रों में हमें इस व्याख्या के विपरीत दर्शन होते हैं। वहां प्राचीन काल से दक्षिण भारत का सम्बन्ध जैन धर्म से बतलाया गया है । भगवान ऋषभदेव के पुत्र बाहुबलि दक्षिण भारत के ही राजा थे[५] इस अपेक्षा जैन धर्म का अस्तित्व वहां वेदों के रचे जाने के पहले से प्रतिभाषित होता है, क्योंकि हिन्दुओं के भागवत में (अ. ५, ४-५-६) ऋषभदेव को आठवां और वामन को बारहवां अवतार बतलाया है और वामन का उल्लेख वेदों में है । इस दृष्टि से भगवान ऋषभदेव का अस्तित्व वेदों के पहले का सिद्ध होता है । इन्हीं ऋषभदेव द्वारा इस युग में पहले-पहले जैन धर्म का प्रचार हुआ था । अतएव जैन धर्म का प्रारम्भ भारत के एक गहरे इतिहासातीत काल में होता है और इस अपेक्षा दक्षिण भारत का परिचय भी जैन शास्त्रों में तब ही से कराया गया है ।

भगवान् नेमिनाथजी के तीर्थ में हुये कामदेव नागकुमार की कथा में भी हम को दक्षिण भारत का पता चलता है । यह उल्लेख भगवान् पार्श्वनाथ से भी पहले का है । वहां कहा गया है कि पांडु देश में दक्षिण मथुरा के राजा मेघवाहन रानी जयलक्ष्मी की पुत्री श्रीमतीने प्रतिज्ञा की है कि जो कोई मुझे नृत्य करने में मृदंग बजा कर प्रसन्न करेगा, वही मेरा पति होगा ।...... श्रीमती की प्रतिज्ञा सुनकर नागकुमार ने **दक्षिण मथुरा** को प्रस्थान किया था । मथुरा में पहुंचकर

नृत्य समय में श्रीमती को मृदंग बजाकर प्रसन्न किया और अन्त में उसके साथ विवाह करके व सुख से वही रहने लगे थे ।[७] यहां से नागकुमार समुद्र के मध्य अवस्थित **तोपावलि द्वीप** में गए थे और वहां से कांचीपुर नगर में पहुंच कर वहां के राजा श्रीवर्मा की कन्या से प्राणिग्रहण किया था । कांचीपुरसे कलिंगदेश के दंतपुर नगर में पहुंचे और फिर वे ऊड़ देश को गए थे ।[८] इस तरह वह दक्षिणभारत के देशों में परिचित रीतिसे विचर रहे थे, यद्यपि वे स्वयं चम्पानगर के निवासी थे ।

इसी प्रकार 'चारुदत्त' की कथा से भी उस समय के भारत के व्यापार की अभिवृद्धि और दक्षिण भारत का दिग्दर्शन स्पष्ट रीति से होता है । कहा गया है कि जब चारुदत्त ने अपना सब धन वेश्या को खिला दिया, तब वह अपने मामा के साथ धन लेकर चम्पा से **उलूखदेश के उशिरावर्त** नामक शहर में पहुंचा था । यहां से कपास खरीदकर वह ताम्रलिप्त नगर को संभवतः उपर्युल्लिखित दूसरे मार्ग से गया था । रास्ते में भयंकर वनी में आग लग जाने से इनकी सारी कपास नष्ट हो गई थी । वहां से यह **पवन द्वीप** को गए थे, परन्तु लौटते समय दुर्भाग्य से इनका जहाज नष्ट हो गया और यह समुद्र के किनारे लगकर किसी तरह राजगृह पहुंचे । वहां एक उज्जैनी का वणिक् पुत्र इनको मिला था जिसने सिंहल द्वीप में व्यापार निमित्त जाकर धन नष्ट कर आनेवाली अपनी दुःखभरी कहानी कही थी। यहां से यह दोनों व्यक्ति रत्नद्वीप को धन कमाने के लिए चल पड़े थे । यहां इनको जैन मुनि का समागम हुआ था ।[९] यह सिंहल द्वीप और रत्नद्वीप विद्वानों ने लंका बतलाये हैं । सिंहल और रत्नद्वीप उसी के नाम थे । इस प्रकार इस कथा में भी दक्षिण भारत के लम्बे छोर तक व्यापारियों के जाने का उल्लेख हमें मिलता है ।

यह संभव है कि साधारण पाठक उपरोक्त जैन कथाओं के कथन पर सहसा विश्वास न करें, परन्तु इसके लिए हम अन्य श्रोतों से भी इस बात को प्रमाणित करेंगे कि दक्षिण भारत में जैन धर्म का अस्तित्व बहुत पहले से रहा है और जैनों को वहां का परिचय भी उतना है पुराना है । प्रोफेसर एम.आर. रामास्वामी अय्यंगर ने राजावली कथा का विशेष अध्ययन किया है और उसके कथन को उन्होंने सत्य पाया हैं । उसमें भी लिखा है कि, विशाखमुनि (ईसा से) तीसरी शताब्दि) ने चोल पाण्ड्य आदि, देशो में विहार करके वहाँ पर स्थित जैन चैत्यों की वंदना की थी और उपदेश दिया था । इस पर उक्त प्रोफेसर लिखते हैं कि इससे यह प्रकट है कि भद्रबाहु अर्थात् ईससे पूर्व २९७ के बहुत पहले से ही जैन लोग, गहन दक्षिण में आन बसे थे ।[१०] और आगे चल कर आप बौद्धों के महावंश नामक ग्रंथ के आधार से कहते हैं कि लंका के राजा पान्डुगाभय ने जब अपनी राजधानी ईसा से पूर्व करीब ४३७ में अनुरद्धपुर बनाई थी तो वहीं एक निर्गन्थ (जैन) उपासक 'गिरि' का भी गृह था और राजा ने निर्गन्थ कुम्बन्ध के लिए भी एक मंदिर बनवाया था[११] । इस से लंका में जैन धर्म का अस्तित्त्व ईसा से पूर्व पांचवी शतब्दि में प्रो. साहब बतलाते है और इसके साथ ही दक्षिण भारत में भी[१२], परन्तु यह समय इससे भी कुछ अधिक होना चाहिए क्योंकि इस समय ही यदि जैन लोग इन देशों में आए होते तो एक विदेशी राजा उनके प्रति इतना ध्यान नहीं देता । वह वहां पर उसके बहुत पहले पहुंचे होंगे तब ही उनका प्रभाव वहां पर इतना जमा होगा कि वहां के राजा का भी ध्यान उनकी और आकर्षित हुआ था । तिस पर इतना तो स्पष्ट ही है कि इन देशों में के बहुत पहले से जैनों का आना जाना यहां अवश्य होता रहा होगा, जैसे कि उपरोक्त जैन कथाओं से प्रकट है । बौद्धों के 'महावंश' से भी प्राचीन

ग्रन्थ 'दीपवंश' में भी यह और लिखा हुआ है कि वह जैन बिहार जो लंका में हुये पहले के इक्कीस राजाओं के समय से मौजूद था, राजा वत्तगामिनी (ई.से. पूर्व ३८-१०) द्वारा नष्ट कर दिया गया था । यह राजा जैनों से रुष्ट हो गया और उसने उनके बिहार को उजड़वा दिया । (दीपवंश १९-१४) इस उल्लेख से लंका से जैन धर्म का प्राचीन सम्बंध प्रगट होता है । अतएव उपरोक्त कथाओं को हम विश्वसनीय पाते हैं ।

इस प्रकार उस समय के भारतवर्ष का व्यापार उन्नतशील अवस्था में था। यहां के व्यापारी दूर दूर तक व्यापार करने जाते थे । जैन कथाओं में अनेकों जैन वणिकों का जहाज द्वारा विदेशों में जाकर व्यापार करने के उल्लेख मिलते हैं।[१३] पुरातत्वविदों ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि ईसा से पूर्व आठवीं शताब्दि से भारत और मेडेट्रेनियन समुद्र के देशों के मध्य व्यापार होता था ।[१४] व्यापार आजकल के व्यापारियों जैसी कोरी दलाली अथवा धोखेबाजी नहीं थी। तब के व्यापारी आज से कहीं इमानदार और संतोषी थे वे भारतीय शिल्प को उन्नत करना अपना फर्ज समझते थे । कल तक इस देश का शिल्प भुवन विख्यात था ।[१५] यही नहीं कि यह व्यापारी विदेशों में जाकर केवल अपनी अर्थ सिद्धि का ही ध्यान रखते हों, प्रत्युत हमें यह भी मालूम है कि इनके द्वारा भारतीय सभ्यता का प्रचार दूर दूर देशों तक हुआ था ।[१६] इस तरह यहाँ का व्यापार भगवान पार्श्वनाथ के जन्म समय अपनी उन्नत दशा में था और यह मानी हुई बात है कि जिस देश का व्यापार अभिवृद्धि पर होगा वह देश अवश्य ही सम्पतिशाली होता है । इसी अनुरूप भारत की आर्थिक अवस्था भी उस समय बहुत ऊंचे दर्जे की थी । आजकल की तरह वह दरिद्र नहीं था ।

भगवान पार्श्वनाथ से कुछ पहले जो जैन शास्त्रों में बताए गए अंतिम चक्रवर्ती सम्राट ब्रह्मदत्त हो गए थे, उनकी विभूति का जो वर्णन जैन शास्त्रों में दिया गया है, उससे भी यहां की समृद्धशाली दशा का परिचय मिलता है । चक्रवर्ती सम्राट की सम्पत्ति जैन शास्त्रों में इस तरह बतलाई गई है - उनकी सेना में चौरासी लाख मदोद्धत हाथी, अठारह करोड़ तीक्ष्णवेग के धारक घोड़े, चौरासी लाख सुंदर रथ और चौरासी करोड़ पयादे लिखे गए हैं । उनके आधीन बत्तीस हजार देश और छियानवे करोड़ गाँव आदि बताए गए हैं । बत्तीस हजार राजा चक्रवर्ती की सेवा करते हैं । इसी तरह और भी अनेक प्रकार की उनकी संपदा बताई गई है । यह सब ही सम्राट ब्रह्मदत्त के यहां मौजूद थी । इससे उस समय के विशेष संपत्तिशाली भारतवर्ष के स्पष्ट दर्शन होते हैं ।

इस तरह की सुख सम्पन्न दशा में यहां के निवासियों के दैनिक जीवन भी बड़े सुख से व्यतीत होते थे । आनन्द के साथ वह पेट भर कर बेफिकरी से अपने परलोक साधन की धुन में रहते थे, परन्तु विप्र लोगों कि प्राबल्य से ये बहुधा उनको पूजकर अथवा और तरह से क्रियाकाण्ड की पूर्ति करके अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेते थे । शेष जीवन भर वह मजेदार सांसारिक रंगरलियां किया करते थे । यहां तक कि ब्राह्मण ऋषि एवं अन्य परिव्राजक साधू आदि स्त्री संसर्ग को बुरा नहीं समझते थे[१] जैसे कि आगे देखेंगे । सचमुच ब्रह्मचर्य की महत्ता लोगों के दिल से कम हो चली थी । इस के साथ ही लोगों को अपनी जाति और कुल का बड़ा घमण्ड था । विप्रों के प्राबल्य से इतर वर्णों के लोगों के मनुष्य के प्रारंभिक हक भी अपहरण कर लिये गये थे ।

जैन शास्त्रों के कथानक भी इन बातों की पुष्टि करते हैं । सम्राट श्रेणिक के पुत्र अभयकुमार का पूर्वभव बतलाते हुए इस जातिभेद का खुला विरोध

ग्रन्थकार को करना पड़ा है । उस समय भी जैनी मौजूद थे, यद्यपि यह अवश्य था कि, उनमें भी समयानुसार शिथिलता प्रवेश कर गई थी ।[१८] परन्तु वह अपने समयकृत्व तक आप्त, आगम, पदार्थ के स्वरूप के समझने से च्युत नहीं हुए थे, यह बात कुमार अभय के पूर्व भव कथन के निम्न अंश से स्पष्ट है । भगवान महावीर के समवशरण में पूज्य गणधर इन्द्रभूति गौतम ने इस सम्बंध में कहा था :

पूर्व भव में तू (अभयकुमार) एक ब्राह्मण पुत्र था और वेद पढ़ने के लिये देश विदेश में फिर रहा था । इसी भ्रमण में तेरा साथ एक जैनी पथिक से हो गया था । देव मूढ़ता आदि को उसके सहवास से तूने छोड़ दिया था । ''तदनंतर वह जैनी उसकी जाति मूढ़ता दूर करने के लिए कहने लगा कि गोमांस भक्षण तथा वेश्यादि सेवन, न करने योग्यों का सेवन करने से व्यक्ति क्षणभर में पतित हो जाता है । इसके सिवाय इस शरीर में वर्ण वा आकार से कुछ भेद भी दिखाई नहीं पड़ता और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों में शूद्रों से भी गर्भाधान की प्रवृत्ति देखी जाती है । इसलिए मनुष्यों में गाय और घोड़े के समान जाति का किया हुआ कुछ भेद नहीं है । यदि आकृति में कुछ भेद हो तो जाति में भी कुछ भेद कल्पना किया जा सकता है ॥ ४९०-४९२ ॥ जिनकी जात, गोत्र, कर्म आदि शुक्ल ध्यान के कारण हैं वे उत्तम तीन वर्ण कहलाते हैं और बाकी सब शूद्र कहलाते हैं ॥४९३॥..... इस प्रकार के वचनों द्वारा उस श्रावक ने जाति मूढ़ता भी दूर की ।'' (पं. लालारामजी द्वारा अनुवादित व प्रकाशित ''उत्तरपुराण'' पृष्ठ ६२६-६२७)[१९]

इससे स्पष्ट है कि भगवान पार्श्वनाथ के समय में जाति मूढ़ता में पड़े हुये लोग ब्राह्मणपने और क्षत्रियपने आदि के नशे में चूर थे । उनके इस

मिथ्याश्रद्धान को दूर करने का प्रयत्न जैनी विद्वान् किया करते थे । आजकल भी जाति मूढ़ता भारत में बढ़ी हुई है । भारतीय नीच वर्ण के मनुष्यों को मनुष्य तक नहीं समझते । उनको घृणा की दृष्टिसे देखते हैं । हत्भाग्य से आज के जैनी भी इसी प्रवृत्ति में बहे जा रहे हैं । वह अपने प्राचीन पुरुषों की भांति भारतीयों की इस जातिमूढ़ता मेटने में अग्रसर नहीं हैं । सचमुच प्राकृत रीति से ही जाति का मद करना वृथा है । ब्राह्मण जैसे उत्तम वर्ण में जन्म लेकर भी अपने नीच आचार द्वारा एक व्यक्ति महापतित और नीच होता हुआ देखा जाता है । तथापि एक नीच वर्ण उच्चवर्ण के साथ सम्बन्ध करके अपने आचरण सुधारता भी इस लोक में दिखाई पड़ता है । यही बात एक अन्य जैनाचार्य स्पष्ट प्रकट करते हैं ।[२०] अतएव जाति का घमण्ड किस बिरते पर किया जाय । उस प्राचीन काल में जाति मद का भूत लोगों के सिर से उतारने का प्रयत्न जैनी करते थे और उस समय भी यह मद लोगों को खूब चढ़ा हुआ था, यह बात जैन ग्रन्थों के उक्त उद्धरण से स्पष्ट है । ऐतिहासिक दृष्टि से भी यह कथन सत्य को लिये हुए प्रगट होता है । महात्मा बुद्ध के समय का जो विवरण हमको मिलता है, उससे कुछ विभिन्न दशा कुछ वर्षों पहले नहीं हो सकती है और वास्तव में जो सामाजिक दशा महात्मा बुद्ध के समय में बताई गई है वह जरूर ही उस व्यवस्था को क्रमकम कर ही पहुंची होगी । क्रांति एकदम उठ खड़ी नहीं होती । जब सामाजिक अत्याचार धर्म सीमा को पहुंच जाता है, तब ही वहाँ क्रांतियों प्रगट होने लगती हैं महात्मा बुद्ध के समय में एक सामाजिक क्रांति ही उपस्थित थी । इसलिए भगवान् पार्श्वनाथ के समय में सामाजिक अत्याचारों की भरमार होना प्राकृत संगत है ।

स्व.मि. हीस डेवेड्रिस साहब ने बौद्धकालीन सामाजिक व्यवस्था पर प्रकाश डालते हुए लिखा था कि ''ऊपर के तीन वर्ण मूल में प्राय: एक हो रहे थे; क्योंकि विप्र और क्षत्रिय पुत्र एक तरह से तीसरे वैश्य वर्ण में के वह व्यक्ति थे जिन्होंने अपने को समाजिक वातावरण में उच्च पद पर पहुंचा दिया था और यद्यपि स्पष्टत: यह कार्य कठिन था, तो भी यह संभव था कि ऐसे परिवर्तन होवें। साधारण स्थिति के मनुष्य राजपुत्र बन जाते थे और दोनों ही ब्राह्मण हो जाते थे। ग्रंथों में इस प्रकार के अनेक उदाहरण मिलते हैं । सुतरां ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं - स्वयं विप्रों के क्रियाकाण्ड के ग्रंथों में - कि जिन में हर प्रकार की सामाजिक परिस्थिति के स्त्री पुरुषों का परस्पर पाणिग्रहण हुआ हो । यह संबंध केवल उच्चवर्णी पुरुष और नीच कन्यायों के ही नहीं है, बल्कि बिलकुल विपरीत इसके अर्थात् नीच पुरुष और उच्च वर्णी स्त्री के विवाह सबंध के भी है।''[२१]

वास्तव में विवाह क्षेत्र भी उस समय इतना सीमित नहीं था जितना कि आज वह संकीर्ण बना लिया गया है । आज तो अपनी वैश्य जाति में भी नहीं, बल्कि वैश्य जाति के भी नन्हें नन्हें टुकड़ों में ही वह बंद कर दिया गया है । आज यदि कोई जैनी अपने ही समान अन्य साधर्मी और सजातीय अर्थात् वैश्य से विवाह सम्बंध कर लेता है तो उसके इस कृत्य को कोई कोई लोग बुरी निगाह से देखते हैं; परन्तु उस समय यह बात नहीं थी । विवाह क्षेत्र अपनी ही जाति या अपने ही साधर्मी भाइयों में ही नियमित नहीं था बल्कि शूद्रों और म्लेच्छों की कन्याओं से भी विवाह किये जाते थे । तथापि ऐसे विवाहों को करनेवाले लोग कभी भी नीची निगाह से नहीं देखे जाते थे । सचमुच वे इतने पूज्य माने गए हैं कि आज भी हम उनके गुणगान शास्त्रों में सुनते हैं । इसलिए

उस समय जाति का अभिमान विवाह करने में बाधक नहीं था । इसका यही कारण था कि उस समय के प्रधान मतावलम्बी विप्रों ने ब्रह्मचर्य पर विशेष जोर नहीं दिया था; जैसे कि हम आगे देखेंगे । वैदिक और जैन ग्रन्थों के निम्न उदाहरण भी हमारी उक्त व्याख्या और विवाह क्षेत्र की विशालता को प्रगट कर देते हैं ।

''मनुस्मृति के ९ वें अध्याय में दो श्लोक निम्न प्रकार पाये जाते हैं -

''अक्षमाला वसिष्ठेन संयुक्ताऽधमयोनिजा ।
शारङ्गी मन्दपालेन जगामाभ्यर्हणीयताम
एताश्चन्याश्च लोकेऽस्मिन पकृष्टप्रसूतय: ।
उत्कर्ष योषित: प्राप्ता:स्वेर्भेतृ गुणै: शुभै: ॥२४॥''

इन श्लोकों में बतलाया गया है कि अधम योनि से उत्पन्न हुई-नि:कृष्ट (अछूत) जाति की अक्षमाला नाम की स्त्री वशिष्ठ ऋषि से और शारंगी नाम की स्त्री मन्दपाल ऋषि के साथ विवाहित होने पर पूज्यता को प्राप्त हुई । इनके सिवाय और भी दूसरी कितनी ही हीन जातियों की स्त्रियां उच्च जातियों के पुरुषों के साथ विवाहित होने पर अपने अपने भर्तार के शुभ गुणों के द्वार इस लोक में उत्कर्ष को प्राप्त हुई और उन दूसरी स्त्रियों के उदाहरण में टीकाकार कल्लूकभट्ट जीने 'अन्याश्च सत्यवत्यादयो' इत्यादि रूप से सत्यवती के नाम का उल्लेख किया है । यह सत्यवती हिन्दू शास्त्रों के अनुसार एक धीवर की कैवर्त्य अथवा अन्त्यज की कन्या थी । इसकी कुमारावस्था में पाराशर ऋषि ने इससे भोग किया और उससे व्यास जी उत्पन्न हुए जो कानीन कहलाते है । बाद को यह भीष्म के पिता राजा शान्तनु से व्याही गई और इस विवाह से विचित्रवीर्य नामक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसे राजगद्दी मिली और जिसका विवाह

राजा काशीराज की पुत्रियों से हुआ । विचित्रवीर्य के मरने पर उसकी विधवा स्त्रियों से व्यासजी ने अपनी माता स्तयवती को अनुमतिसे भोग किया और पाण्डु तथा धृतराष्ट्र नाम के पुत्र पैदा किये जिनसे पाण्डवों आदि की उत्पत्ति हुई।..... एक और नमूना 'ययातिराजा का उशना ब्राह्मण (शुक्राचार्य) की देवयानी' कन्यासे विवाह का भी है । यथा :-

तेषां ययाति पंचानां विजित्य वसुधा मिमां ।
देवयानिमुशनरा: सुतां भार्यासवाप स: ॥

महाभा. हरि. अ. ३०वां ॥

''इसी विवाह से 'यदु' पुत्र का होना भी माना गया है, जिससे यदुवंश चला ।''[२२] इस तरह पर हिन्दु शास्त्रों में हीन जातियों और शूद्र स्त्रियों तक से विवाह संबन्ध करने के अनेकों उदाहरण मिलते हैं; जो हमारे उपरोक्त कथन को स्पष्ट कर देते हैं । साथ ही जैन शास्त्रों में भी विवाह क्षेत्र की विशालता बतानेवाले अनेकों उदाहरण मिलते हैं । यहां हम उनमें से केवल उनका ही उल्लेख करेंगे जो भगवान पार्श्वनाथ के समय अथवा उनसे पहले के हैं । पहले ही बाईसवें तीर्थंकर भी नेमिनाथ के समय के वसुदेवजी को ले लीजिये । यह वसुदेवजी स्वयं क्षत्री थे, परन्तु इन्होंने विश्वदेव नामक ब्राह्मण की क्षत्रिय स्त्री से उत्पन्न सोमश्री नामक कन्या से विवाह किया था । इसका उल्लेख श्री जिनसेनाचार्य प्रणित 'हरिवंशपुराण (२३ वे सर्ग) में इन शब्दों में किया गया है।'

''अन्वयेतत्तु जातेयं क्षत्रियायां सुकन्यका ।
सोमश्रीरिति विख्याता विश्वदेव द्विजन्मिन: ॥४९॥

कराल ब्रह्मदत्तेन मुनिना दिव्यचक्षुषा ।
वेदेजेतुः समादिष्टा महतः सहचारिणी ।।५०।।

इति श्रुत्वा तदाधीत्य सर्वान्वेदान्यदृत्तमाः ।
जित्वा सोमश्रियं श्रीमानुपयेमे विधानतः ।।५१।।"

दूसरा उदाहरण श्रीकृष्ण के भाई गजकुमार का है । श्रीकृष्ण ने इनका विवाह क्षत्रिय राजाओं की कन्याओं के अतिरिक्त सोमशर्मा ब्राह्मण की पुत्री सोमा से भी किया था । इस घटना का उल्लेख श्री जिनसेनाचार्य और ब्रह्मचारी जिनदास दोनों के ही हरिवंश पुराण में मिलता है । ब्र. जिनदासजी के हरिवंशपुराण में इस संबन्धका श्लोक यह है :-

"मनोहतरां कन्यां सोमशर्माग्रजन्मः ।
सोमारव्यां वृत्तवांश्चकी क्षत्रियाणा तथा परा ।।३४-३६।।"

तीसरा उदाहरण ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती का है जो भगवान पार्श्वनाथ के कुछ ही पहले हो गुजरे थे ।[२३] इनकी छियानवे हजार रानियों में से अठारह हजार म्लेच्छ कन्यायें भी थी । प्रत्येक चक्रवर्ती के नियमानुसार ऐसी ही रानियां होती हैं।[२४] इसी समय के प्रसिद्ध राजा नागकुमार का पहला विवाह एक वेश्या की पुत्रियों से हुआ था ।[२५] अस्तु:

जैन शास्त्रों के इन उदाहरणों से भगवान पार्श्वनाथ के जन्म काल में जो सामाजिक उदारता इस भारत भू पर फैल रही थी और जो यहां पर विवाह करने की स्वतंत्रता थी, वह स्पष्ट प्रकट है । हत्भाग्य से आज हम अपने प्राचीन पुरुषों को मनुष्य ही नहीं समझते हैं । हमारा सामाजिक जीवन बिल्कुल हेय और निकम्मा हो गया है । पर भगवान पार्श्वनाथ के समय यह बात नहीं थी;

यद्यपि उस समय भी विप्रों को अपने ब्राह्मणपने का झूठा अभिमान था और अन्य लोगों के धार्मिक अधिकार झंझट में पड़े हुये थे; जिनकी रक्षा करने को ही मानों भगवान पार्श्वनाथ का जन्म हुआ था ।

इस प्रकार उस समय के एक तरह से उदार सामाजिक जगत में लोग अपना जीवन यापन कर रहे थे; परन्तु उनकी आत्मायें धार्मिक वातावरण के अप्राकृत रूप से छटपटा रहीं थी । उनकी उस समय के धार्मिक नियमों और मान्यताओं से बहुत कम संतोष मिलता था, जिस कारण प्राय: नए नए मंतव्य प्रगट होते जाते थे, जैसे कि हम आगे देखेंगे । सामाजिक जीवन के मुख्य अंग विवाह प्रणाली के नियम उदार और आदर्श होने पर भी लोगों को ऊंच नीच भेद अखर रहा था । वे विप्रों के हाथ के कठपुतले बना रहना ठीक नहीं समझते थे और स्वयं ही अपनी धार्मिक जिज्ञासा की पूर्ति करने के लिये शास्त्रों का पठन करना और धार्मिक सिद्धांतों पर गवेषणामय विवाद करना आवश्यक समझते थे । यही कारण है कि भगवान पार्श्वनाथ के उपरांत इस अशांति ने एक क्रांति का रूप धारण कर लिया था और उस समय हर प्रकार की स्थिति के हजारों मनुष्य पुरुष और स्त्री समान रूप में गृह त्याग कर सैद्धांतिक विवाद क्षेत्र में कूद पड़ते थे । संसार भर में यह समय अनोखा और अपूर्व था ।[२६] भगवान पार्श्वनाथ के उपदेश ने उनको इतना साहस दे दिया था कि वे अपने-अपने मन्तव्यों की स्पष्ट रीति से घोषणा करने लगे थे । इसीलिए हमें बतलाया गया है कि उस समय ये साधु लोग वर्षा ऋतु को छोड़कर बाकी वर्ष भर देश में भ्रमण कर के सैद्धांतिक शास्त्रार्थ और वाद में समय व्यतीत करते थे ।[२७] महात्मा बुद्ध ने साधुओं के इस वाद की बड़ी हुई मात्रा को, जिसने कि एक 'अति' का रूप धारण कर लिया था, खुला विरोध किया था और सैद्धांतिक

शास्त्रार्थ को मनुष्य जन्म के उद्देश्य की प्राप्ति में बाधक माना था ।[२८]

भाषायी क्रांति

सैद्धिन्तिक विवेचना के इस बढ़ते हुए युग में संस्कृत भाषा की उन्नति प्राय: नहीं हुई थी; क्योंकि इस समय तो धार्मिक क्षेत्र में अपनी जिज्ञासाओं अथवा सिद्धान्तों को लेकर एक मामूली ग्रामीण तक भी आगे आता था और वह स्वभावत: अपने मन्तव्यों को उसी भाषा में प्रगट करता था जो वह अपने घर में रोजमर्रा बोलता था । उस समय सभी के दैनिक व्यवहार की भाषा भी जनभाषा प्राकृत थी यही कारण है कि उस समय के प्रख्यात धर्म अपने सिद्धान्त शास्त्रों की रचना उन प्राकृत भाषाओं में अपने उपदेश का माध्यम इसी जन भाषा प्राकृत को बनाया तथा जो उनके धर्म के मुख्य स्थानों में प्रचलित थी । इसी के अनुरूप महात्मा बुद्ध ने पालि प्राकृत में अपना उपदेश दिया था । भगवान पार्श्वनाथ और महावीर स्वामी के गणधरों ने प्राकृत भाषा में उनकी द्वादशांग वाणी की रचना की थी तथापि मक्खलिगोशाल के ग्रन्थों की भाषा भी एक अन्य ही प्राकृत थी ।[२९] वस्तुत: उस समय को सर्व साधारण लोगों की दैनिक बोलाचाल की भाषा जिस को कि हर कोई सुगमता के साथ समझता था और जो पश्चिम में कुरुदेश से लेकर पूर्व में मगध तक, उत्तर में नेपाल की तराई में श्रावस्ती और कुशीनारा तक और दक्षिण में एक ओर को उज्जैन तक बोली जाती थी अवश्य ही संस्कृत नहीं थी । साहित्यिक (classical) संस्कृत का जन्म भी शायद उस समय नहीं हुआ था ।[३०] इससे सिद्ध है कि एक तरह से तक्षशिला से लेकर चम्पा तक कोई भी संस्कृत नहीं बोलता था ।[३१] केवल प्राकृत भाषाओं को ही प्रधानता थी जो कि आज तक जैन धर्म और बौद्ध धर्म की प्रमुख आगम की मुख्य भाषायें है।

समाज व्यवस्था

उस समय जब कि भगवान पार्श्वनाथ का जन्म होने वाला था । तब मनुष्यों में केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र रूप में ही भेद थे । इनके अनेकानेक प्रभेद दिखाई नहीं पड़ते थे; जैसे कि आज एक एक वर्ण अथवा जाति अनेक उप-जातियों में बटी हुई दिखाई पड़ती है । उस समय के लोग इन चार वर्णों को संभाले हुए थे, परन्तु विप्रों के जाति मद से इनमें जो परिवर्तन उपारन्त को होने लगे थे इनका दिग्दर्शन हम कर ही चुके हैं । वास्तव में अपनी आजीविका को बदल कर हर कोई अपना वर्ण परिवर्तन भी कर सकता था । उस समय के लोग अपने दोनों जीवन में नाम संज्ञा भी विविध रीति से रखते थे। बौद्धकालीन समय में विविध रीति से किसी व्यक्ति का नामोल्लेख भी होता था । स्वर्गीय मि. ह्वीस डेविड्स उसके आठ भेद इस तरह बतलाते हैं -

''१ - **उपनाम**-जो किसी व्यक्तिगत खासियत को लक्ष्य कर व्यवहार में लाया जाता था । जैसे 'लम्बकण्ण' (लम्बे कानोंवाला) 'कूटदन्त' (निकले हुए दांतवाला), 'ओड्ढ' (खारगोश जैसे होठोंवाला) 'अनाथ पिण्डक' (अनोथों का मित्र), 'दारूपिट्टिक' (काठ का कमण्डल रखनेवाला) इन सबका उपयोग मित्र भाव और बिलकुल छूट के साथ होता था । इस तरह के नाम इतने मिलते हैं कि हर किसी का एक उपनाम होता था ऐसा भान होता है ।

२-**व्यक्तिगत नाम**-जिस को पाली में मूलनाम कहा गया है । इससे किसी व्यक्तिगत खासियत से सम्बन्ध नहीं होता था । यह वैसा ही था जैसे आज कल हम सब के नाम होते हैं । इन नामों में कोई कोई बड़े कठिन और विकृत हैं, परन्तु शेष ऐसे हैं जिनके शुभ अर्थ लगाना सुगम है । उदाहरण के तौर पर देखिए 'तिस्स' यह इसी नाम के भाग्यशाली तारे की अपेक्षा है और भी

देवदत्त भद्दिय, नंद, आनन्द, अभय आदि उल्लेखित किए जा सकते हैं ।

३-गोत्र का नाम-जिस को हम खानदानी अथवा अंग्रेजी में 'सरनेम' (Surname) कह सकते हैं । जैसे उपमन्न, कण्हायन, मोग्गलान, कस्सप, कोन्डण्ण, वासेट्ठ, वेस्सायन, भारद्वाज, वक्खायन ।

४ - वंश का नाम - जो पाली मे 'कुलनाम' कहा गया है , जैसे सक्क, कालाम, बुलि, कोलिय, लिच्छवि, वज्जि, गल्ल आदि ।

५-माताका नाम-जिसके साथ 'पुत्त' लगा दिया जाता था जैसे सारुपुत्त वैदहीपुत्त (अजातशत्रु मगधाधिपका दूसरा नाम), मौदिकपुत्त (= उपक), गोधिपुत्त (=देवदत्त) । परन्तु माता और पिता अपने प्रख्यात् पुत्र की अपेक्षा किसी नाम से परिचित प्राय: नहीं हुए हैं । यदि किसी को पुत्र प्रसिद्ध हुआ भी तो उसके माता-पिता 'अमुक' के माता-पिता को रूप में कहे गए हैं । तथापि पिता के नाम अपेक्षा भी पुत्र का नाम कभी नहीं रखा गया है । माता का नाम भी उसका खास मूल नाम नहीं होता है, बल्कि वह उसके वंश या कुल का नाम होता है ।

''**६ - समाज में प्रतिष्ठित पद की अपेक्षा पड़ा हुआ नाम** - अथवा सम्बोधित व्यक्ति के कर्मानुसार नाम । ऐसे नाम ब्राह्मण, गृहपति, महाराज आदि हैं ।

''**७-शिष्टाचार या विनयरूप सम्बोधन** - जिसका सम्बंध संबोधित व्यक्ति से तनिक भी नहीं हो, जैसे भन्ते, आवुसो, अय्ये आदि ।

''**८-अन्तत: साधारण नाम** - जो किसी व्यक्ति के सम्बोधन करने में व्यहृत नहीं होता है, बल्कि मूल व गोत्र के नाम के साथ जोड़ दिया अथवा

आगे लिखा जाता है, जिससे उसी नाम के एक से अधिक मनुष्यों का बोध हो सके....। इन नामों की किस ढंग से कब व्यवहृत करना चाहिये इसके लिए बतलाया गया है कि बराबर वालों में, जब उनमें मित्रता की पूरी छूट न हो, उपनाम या मूल नाम का व्यवहार में जब उनमें मित्रता की पूरी छूट न हो, उपनाम या मूल नाम का व्यवहार में लाना अशिष्ट समझा जाता था । बुद्ध ब्राह्मणों को ब्राह्मण नाम से उल्लेख करते हैं । परन्तु वह ही अन्य साधुओं को 'ब्रह्मण' नाम से उल्लेख करते हैं । परन्तु वह ही अन्य साधुओं को 'परिव्राजक' न कहकर उनके गोत्र नाम से पुकारते हैं । सच्चक निगन्थ (जैनी) को वह उसके गोत्र 'अग्गि बेस्सायन' के नाम सम्बोधित करते हैं । गोत्र नाम से उल्लेख करने की प्रथा प्राय: बहु प्रचलित थी, परन्तु निगन्थों (जैन मुनियों) के निकट उसकी मनाई थी । (जैकोबी, 'जैनसूत्र' भाग २ पृष्ठ ३०५) वे अपने संघ को ही गोत्र कहते थे । (पूर्व ३२१ - ३२७) और प्रत्यक्षत: किसी अन्य संघ का अस्तित्व मानना सांसारिक समझते थे । बुद्ध अपने संघ के लोगों को मूल नाम से ही पुकारते थे । वस्तुत: उस समय गोत्र नाम अन्य मूल नाम आदि सबसे विशेष गौरवशाली समझा जाता था ।''[३२]

यदि हम जैन शास्त्रों में खोज करके देखें तो उनमें भी सम्बोधन के उपरोक्त भेदों का परिचय अवश्य ही प्राप्त हो जाता है । उदाहरण के तौर पर देखिये 'रक्तमुख' 'श्याममुख' आदि रूप से 'उपनाम' का व्यवहार 'पद्मपुराण' में हुआ मिलता है । व्यक्तिगत नाम तो अनेकों मिलते हैं - ऋषभ, भरत आदि यही मूल नाम हैं । गोत्र नाम का व्यवहार भी जैन शास्त्रों में होता हुआ मिलता है, जैसे भगवान पार्श्वनाथ अपने गोत्र की अपेक्षा 'काश्यपीय' इन्द्रभूति गणधर 'गौतम' और सुधर्माचार्य 'अग्निवैश्यायन' कहलाते थे । वंश

नाम की अपेक्षा स्वयं भगवान महावीर 'ज्ञातृपुत्र' के नाम से परिचित हुये थे। माता के नाम से भी विशेष व्यक्तियों की प्रख्याति जैन शास्त्रों में की गई है, जैसे ऐरानन्दन (शांतिनाथ), वामेय (पार्श्वनाथ) इत्यादि। समाज में प्रतिष्ठित पद की अपेक्षा किसी का उल्लेख करना प्राय: बहु प्रचलित है। उत्तर पुराण में अभयकुमार के पूर्व भव वर्णन में ब्राह्मण पुत्र का उल्लेख इसी तरह हुआ है। शिष्टाचार के शब्दों का प्रयोग सदा सर्वदा होता रहा है। जैन शास्त्रों में भी इसके अनोक उदाहरण मिल सकते हैं। यही दशा साधारण नाम की है। सारांशत: जैन शास्त्रों से भी हमें उस समय की दशा के खासे दर्शन हो जाते हैं।

सन्दर्भ

१ - दी साम्स ऑफ दी ब्रदेरन (थेरगाथा) अंगुलिमाल।

२ - आराधना कथाकोष भाग २ पृष्ठ ११२।

३ - दी अर्ली हिस्ट्री ऑफ इन्डिया (तृतीयावृत्ति) पृ. ३१।

४ - द क्षत्रिय क्लेन्स इन बुद्धिस इंडिया पृ. १४६

५ - बुद्धिष्ट इन्डिया पृ. १०३

६ - आदिपुराण पर्व ३४-३७ और 'वीर' वर्ष ४ पोदनपुर।

७ - पुण्याश्रव कथा कोष पृ. १७५।

८ - पूर्व पृ. १७७।

९ - आराधना कथा कोष भाग २ पृ. ८२-८६।

१० - स्टडीज् इन साउथ इन्डियन जैनीज्म भाग १ पृ. ३२

११ - महावंश पृ. ४९।

१२ - स्टडीज इन साउथ इन्डियन जैनीज्म भाग १ पृष्ठ ३३

१३ - आराधना कथा कोष, पुण्याश्रव आदि ग्रन्थ।

१४ - देखो पंचानन मित्राकी 'प्री-हिस्टॉरिकल इन्डिया' पृष्ठ ३३।

१५ - भारत भारती पृ. १०६-१०७।

१६ - देखो 'प्री-हिस्टॉरिकल इन्डिया' पृ. २७-३३।

१७ - हमारा भगवान महावीर और महात्मा बुद्ध पृ. ४३।

१८ - उत्तरपुराण पृ. ६२५ ।

१९ - तस्य पाखण्डिमौढ्यं च प्रयुक्तिभिः स निराकृतः ।
गोमांस भक्षणागम्यगमाद्यैः पतिते क्षणात् ॥४९०॥

वर्णाकृत्यादि भेदानां देहेस्मिन्नच दर्शनात् ।
ब्राह्मण्यादिषु शूद्राद्यैर्गर्भाधान प्रवर्त्तनात ॥४९१॥

नास्ति जातिकृतो भेदो मनुष्याणां गवाश्ववत् ।
आकृति गृहणात्तस्मादन्यथा परिकल्पते ॥४९२॥

जाति गोत्रादि कर्म्माणि शुद्धध्यानस्य हेतवः ।
येषुतेस्युस्त्रयो वर्णः शेषाः शुद्राप्रकीर्तितताः ॥४५३ ॥इति गुणभद्राचार्यः ।

२० - एकोदूरात्यअतिमदिरां ब्राह्मणत्वाभिमानादन्यः शुद्धः स्वयमहमितिस्नातिनित्यंतयैन ।
द्वावप्यैतौयुगपदुदरान्निर्गतौशूद्रिकायाः शूद्रौसाक्षादपि च चरतो जातिभेद भ्रमेण ॥१॥३॥

- श्री अमितगतिः

वर्तमानकाल के दिग्गज विद्वान स्याद्वादकेसरी, न्याय वाचस्पति स्व. पं. गोपालदासजी बरैयाने भी शास्त्राधारोंसे यही मत प्रगट किया है । वे अपने एक लेखमें, जो 'जैनहितैषी' भा. ७ अंक ६ (वीर नि. सं. २४३७) में प्रगट हुआ है, स्पष्ट लिखते है कि, ''ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीन वर्णों के वनस्पतिभोजी आर्य मुनि धर्म तथा मोक्षके अधिकारी है; म्लेच्छ और शूद्र नहीं है : परन्तु म्लेच्छों और शूद्रों के लिये भी सर्वथा मार्ग बन्द नहीं है । क्योंकि त्रैस जीवों की संकल्पी हिंसासे आजीविका का त्याग करनेसे कुछ काल में म्लेच्छ आर्य हो सकता है और शुद्र की आजीविका के परिवर्तन से शूद्र द्विज हो सकता है । इत्यादि ।''

२१ - देखो बुद्धिस्ट इन्डिया पृष्ठ ५५-५९ ।

२२ - विवाहक्षेत्र प्रकाशसे

२३ - केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया भाग १ पृ. १८० ।

२४ - पार्श्वपुराण पृ. ५७।

२५ - नागकुमार चरित्र पृ. १९ ।

२६ - बुद्धिस्ट इन्डिया पृ. २४७ ।

२७ - हिस्टारकील ग्लानिजास पृ. ९ ।

२८ - सुत्तनिपात (SBE) ८३०

२९ - आजीविन्गख भाग १ पृष्ठ ४५ ।

३० - बुद्धिस्ट इन्डिया पृ. १४७ ।

३१ - पूर्व पुस्तक पृ. २११

३२ - डायोलॉग्स ऑफ बुद्ध में महालि सुत्तकी भूमिका पृ. १९३-१९६ ।

राजनैतिक परिस्थितियाँ

अब देखना यह रहा कि उस समय की राजनैतिक दशा क्या थी ? इसके साथ ही 'धार्मिक परिस्थिति' का परिचय पाना भी जरूरी है, परन्तु हम उसका दिग्दर्शन एक स्वतंत्र परिच्छेद में आगे करेंगे । अस्तु, यहां पर केवल राजनैतिक अवस्थापर एक नजर और डालना बाकी है । जैन पुराणों पर जब हम दृष्टि डालते हैं तो उस समय सर्वथा स्वाधीन सम्राटों का अस्तित्व पाते हैं । सार्वभौमिक सम्राट ब्रह्मदत्त भगवान पार्श्वनाथ के जन्म से कुछ पहले यहां मौजूद थे ।[१] किंतु ऐसा मालूम होता है कि उनकी मृत्यु के साथ ही देश में उच्छृङ्खलता का दौरदौरा हो गया था । छोटे छोटे राज्य स्वाधीन बन बैठे थे और विदेशी लोग भी आकर जहाँ तहाँ अपना अधिकार जमा लेने लगे थे ।[२] इस तरह की राज्य व्यवस्था में ऐसे भी उल्लेख मिलते हैं जिनसे यह घोषित होता है कि जनता खास अवसरों पर स्वयं एक योग्य व्यक्ति को अपना राजा चुन लेती थी ।[३] यह उपरान्त के प्रजसत्तात्मक राज्य जैसे लिच्छावि, मल्ल आदि का पूर्व रूप कहा जाये तो कुछ अनुचित नहीं है । जैन दृष्टि से जो यह हालत राजकीय क्षेत्र में मिलती है, वह अन्यथा भी सिद्ध है । प्राचीनतम भारतीय मान्यता इस पक्ष में है कि पहले एक व्यक्ति को जनता राजा के रूप में चुन लेती थी और वह जनता के हित के लिये राज्य करता था । हिन्दुओं के महाभारत में राजा वेण और पृथु की कथा से यही प्रकट होता है ।[४] स्वयं ऋवेद में 'समिति' और 'परिषद' शब्दों का उल्लेख मिलता है; जिससे स्पष्ट है कि प्रजासत्तात्मक राज्य की नींव वैदिक काल में ही पड़ चुकी थी ।[५] यद्यपि मानना पड़ता है कि उस समय की प्रजा स्वाधीन राजाओं के ही आधीन थी । स्पष्टत: ऋग्वेद में ऐसा कोई उल्लेख स्पष्ट रीति से नहीं है कि जिससे किसी अन्य प्रकार की राज्य व्यवस्था का

अस्तित्व प्रामाणित हो सके । ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर 'राजन्' रूप में एक नृपका उल्लेख मिलता है और यह राज्य प्रणाली अवश्य वंश परम्परा में क्रमशः चली आ रही थी । राजा होना तब के राजाओं का परम्परागत हक था, किन्तु वह पूर्ण स्वाधीन भी नहीं थे कि मनमाने अत्याचार कर सकें, क्योंकि ऐसा करने में उनके मार्ग में समिति या सभा के सदस्य आड़े आते थे ।'[६] इस कारण यह मानना ही पड़ता है कि प्रजा सत्तात्मक राज्य के बीज भारत में ऋग्वेद के जमाने से ही वो दिये गये थे । जैन शास्त्र भी सर्व प्रथम राजाओं का साधारण जनता में से चुना जाना ही बतलाते हैं ।[७] अतएव इसमें कोई आश्चर्य नही, यदि भगवान पार्श्वनाथजी के समय में भी दोनों तरह के राज्यों का अस्तित्व किसी न किसी रूप में मौजूद हो ।

बौद्ध साहित्य पर जब दृष्टि डाली जाती हैं तो वहां पर महात्मा बुद्ध के पहले से सोलह राज्यों का अस्तित्त्व भारतवर्ष में मिलता है । बेशक महात्मा बुद्ध के जीवन काल में भी इन सोलह राज्यों का और इनके साथ अन्य प्रजासत्तात्मक राजाओं का अस्तित्व मिलता है; परन्तु ऐसी बहुत सी बाते हैं जो इन सोलह राज्यों का अस्तित्त्व महात्मा बुद्ध से पहले का प्रमाणित करती हैं। महात्मा बुद्ध के जीवन में कौशल का अधिकार काशीपर हो गया था; अङ्ग पर मगधाधिपतिने अधिकार जमा लिया था और अस्सक लोग संभवतः अवन्ती के आधीन हो गये थे, किन्तु उपरोक्त सोलह राज्यों में ये तीनों ही देश स्वाधीन लिखे गये हैं । इसीलिए इनका अस्तित्त्व बौद्ध धर्म की उत्पत्ति के पहले से मानना ही ठीक है । यह बात दीघनिकाय (२-२३५) और महावस्तु (३) २०८-२०९) के उल्लेखों से भी प्रमाणित है; जिन में बौद्ध धर्म के पहले केवल सात मुख्य देशों अर्थात् (१) कलिंग, (२) अस्सक, (३) अवन्ती,

(४) सौवीर,[७] (५) विदेह, (६) अङ्ग और (७) काशी का नामोल्लेख है। इसमें भी कलिङ्ग के साथ अस्सक अङ्ग और काशी का उल्लेख स्वतंत्र रूप में है। इस अवस्था में कहना होगा कि भगवान पार्श्वनाथजी के समय से ही सोलह राज्यों का अस्तित्त्व भारत में मौजूद था।[८]

इस प्रकार की राज्य व्यवस्था के दर्शन हमें भगवान पार्श्वनाथ के समय में होते हैं और उस समय की सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितिका दिग्दर्शन करके आइए पाठकगण एक नजर तत्कालीन धार्मिक परिस्थिति पर भी डाल लें।

सन्दर्भ

१ - उत्तरपुराण पृ. ५६४ और कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया भाग १ पृ. १८०।

२ - उपरान्त के नागकुमार चरित और करकण्डु चरित्र आदि ग्रंथों के पढ़ने से वही दशा प्रकट होती है। अनेक छोटे-छोटे राज्य दिखाई पड़ते हैं और विद्याधर को आनकर यहां पर राज्य करते बतलाया गया है।

३ - दत्तपुर की प्रजाने करकण्डु को अपना राजा चुना था। करकुण्डु चरित देखो।

४- महाभारत शांतिपर्व ६०।९४।

५ - समक्षत्री ट्राइब्स ऑफ एन्शियन इंडिया पृ. ९९।

६ - कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंन्डिया भाग १ पृ. ९४।

७ -आदिपुराण अ. १६।२४१-२७५।

८ - कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया भाग १ पृ. १७३।

धार्मिक परिस्थितियाँ

''कश्चिद्विप्रसुतो वेदाभ्यासहेतोः परिभ्रमन् ।
देशांतराणि पाखंडिदेवतातीर्थजातिभिः ॥४६६॥

लोकेन च विमुह्याकुलीभूतस्तत्प्रशसन ।
तदाचारितमत्त्युच्चैरनुतिष्ठन्नयेच्छया ॥४६७॥''

- उत्तरपुराण ।

एक मनुष्य आकुल व्याकुल हुआ दृष्टि पड़ रहा है । कपिरोमा बेल के पत्ते अब भी उसके हाथ में हैं । वह रह रह कर अपने सारे शरीर को खुजलाता है । खुजली के मारे वह घबड़ाया हुआ है । देखने में सुडौल-सौम्य-युवा है । उसका उन्नत भाल चन्दन चर्चित है । सचमुच ही वह एक ब्राह्मण पुत्र है, परन्तु इस तरह यह बावला क्यों बन रहा है ? कपिरोमा बेल के पत्ते इसके हाथ में क्यों है ? रह रह कर अपनी देह को वह क्यों खुजला रहा है और खिजाई हुई दृष्टि से वह अपने साथी की ओर क्यों घूर रहा है ?

इन सब प्रश्नों का ठीक उत्तर पाने के लिये, पाठकगण जरा भगवान महावीरजी के समवशरण के दृश्यका अनुभव कीजिए । अनुपम गंधकुटी में सर्वज्ञ भगवान अतरीक्ष विराजमान थे । भूत, भविष्यत्, वर्तमान का चराचर ज्ञान उनको हस्तामलकवत् दर्शता था । सामने रक्खे हुये दर्पण में ज्यों प्रतिबिम्ब साफ दिखाई पड़ता है उसी तरह परमहितू-रागद्वेष रहित वीतराग भगवान के ज्ञानरूपी दर्पण में तीनों लोक का त्रिकालवर्ती बिम्ब स्पष्ट नजर पड़ रहा था ! कोई बात ऐसी न थी जो वहां शेष रही हो । उन परमयोगी-साक्षात्

परमात्मा के निकट सब जीव मोदभाव को धारण किय हुए बैठे थे । देव मनुष्य, तिर्यंच सब ही वहां पर तिष्ठे भगवान के उपदेश को सुनकर अपना आत्म कल्याण कर रहे थे । भगवान के मुख्य शिष्य प्रधान गणधर इन्द्रभूति गौतम एवं अन्य मुनिराज और आर्यिकाएं भी वहां विराजमान थे । मनुष्यों के कोठे में उस समय के प्रख्यात सम्राट श्रेणिक बिम्बसार भी बैठे हुए थे । उनके निकट उनका विद्वान् और यशस्वी पुत्र अभयकुमार बैठा हुआ था ।

यही सुंदर राजकुमार विनम्र हो खड़ा हो गया है - परम गुरू को नमस्कार करके दोनो करों को जोड़े हुये निवदेन कर रहा है । वह अपने पूर्व भवों को जानने का इच्छुक है । दयागंभीर गणधर महाराज भी इसके अनुग्रह को न टाल सके । वे भगवान महावीर की दिव्यवाणी के अनुरूप कहने लगे कि ''इससे तीसरे भव में तू भव्य होकर भी बुद्धिहीन था । तू किसी ब्राह्मण का पुत्र था और वेद पढ़ने के लिए अनेक देशों में इधर उधर घूमता फिरता था । पाखंड मूढ़ता, देव मूढ़ता, तीर्थ मूढ़ता और जाति मूढ़ता से सब को विमोहित कर बहुत ही आकुलित होता था तथा उन्हीं की प्रशंसा के लिये उन्हीं कामों को अच्छी तरह करता था । किसी एक समय वह दूसरी जगह आ रहा था । उसके मार्ग में कोई जैनी पथिक भी जा रहा था । मार्ग में पत्थरों के ढेर के पास एक भूतों का निवास स्थान पेड़ था । उसके समीप जाकर और उसे अपना देव समझकर बड़ी भक्ति से उस ब्राह्मण पुत्र ने उसकी प्रदक्षिणा दी और प्रणाम किया । उसकी इस चेष्टा को देखकर वह श्रावक हंसने लगा । तथा उसकी अवज्ञा करने के लिए वृक्ष के कुछ पत्ते तोड़कर मीड़कर अपने पैर की धूल से लगा लिये और उस ब्राह्मण से कहा कि देख, तेरा देव जैनियों का अनिष्ट करने में बिल्कुल समर्थ नहीं है । इसके उत्तर में उस ब्राह्मण ने कहा कि अच्छा ऐसा ही सही, इसमें हानि ही क्या

है ? मैं भी तेरे देवका तिरस्कार कर सकता हूं । इस विषय में तू मेरा गुरू ही सही । इस तरह कह कर वे दोनों एक देश में जा पहुंचे । वहां पर कपिरोमा नाम की बेल के बहुत से वृक्ष थे । उन्हें देखकर वह श्रावक कहने लगा कि देखो यह हमारा देव है और यह कहकर उसने बड़ी भक्ति से प्रदक्षिणा दी और नमस्कार कर अलग खड़ा हो गया । यह ब्राह्मण पहले से क्रोध कर ही रहा था, इसलिए उसने भी हाथ से उसके पत्ते तोड़े और मसल कर सब जगह लगा दिये, परन्तु वे खुजली करने वाले पत्ते थे इसलिये लगाते ही उसे असह्य खुजली की बाधा होने लगी तथा वह डर गया और श्रावक से कहने लगा कि इसमें अवश्य ही तेरा देव है । तब हंसता हुआ श्रावक कहने लगा कि इस संसार में जीवों को सुख दुख का देनेवाला पहिले किये हुये कर्मों के सिवाय और कुछ नहीं है कर्म ही इसके मूलकारण हैं । इसलिये तप, दान, आदि सत्यकार्यों द्वारा तू अपना कल्याण करने के लिए प्रयत्न कर और इस प्रकार की देव मूढ़ता को कि देवता ही सब करते है निकाल फेंक । बाद को वह फिर कहने लगा कि जो मनुष्य पुण्यवान है उनके देव लोग स्वयं आकर सहायक हो जाते हैं । पुण्यरूपी कंकण के रहते हुये देव कुछ हानि नहीं कर सकते । इस प्रकार समझाकर अनुक्रम से उसकी देवमूढ़ता दूर की ।"[१]

पाठकगण, जिस महापुरुष के विषय में हम प्रारम्भ में कितने ही प्रश्न कर आए हैं, उसका सम्बन्ध गणधर भगवान द्वारा बतलाई गई उक्त घटना से है । भगवान महावीर स्वामी के समय के अभयकुमारका जीव ही अपने पहले के तीसरे भव में ब्राह्मपुत्र था । अभयकुमार का यह तीसरा भव भगवान पार्श्वनाथ के जन्म काल से पहले हुआ समझना चाहिये; क्योंकि ब्राह्मणभव से वह स्वर्ग गया था और स्वर्ग से आकर अभयकुमार हुआ था ।

इस प्रकार अभयकुमार के उपरोक्त पूर्वभव वर्णन में हमें भगवान पार्श्वनाथ के समय, बल्कि उसके पहले से स्थित धार्मिक वातावरण के दर्शन होते हैं । इसी महत्व को दृष्टिकोण करके यह कथा यहां पर दी गई है । इस कथा के अब तक के वर्णन से यह स्पष्ट है कि उस समय देव मूढ़ता, तीर्थ मूढ़ता आदि का विशेष प्रचार था । दूसरे शब्दों में ब्राह्मण लोगों का प्राबल्य अधिक था । देव मूढ़ता यहां तक बड़ी हुई थी कि लोग भूत, यक्षादि का वास पेड़ों पर मानकर उनकी पूजा करत थे, उनको अपना देव मानते थे । यही कारण है कि उक्त कथा में श्रावक के कपिरोमा बेल को अपना देव बताने पर ब्राह्मण पुत्र ने कुछ भी आगा पीछा न सोचा और उसके कहने पर विश्वास कर लिया । साथ ही वेदानुयायियोंने जो देव-ईश्वर को सुख दुख का दाता घोषित किया था, उसका भी इस समय प्रचार था, यह भी इस कथा से स्पष्ट है ।

संभव है कतिपय पाठकगण, जैन कथा के उक्त विवरण को विश्वास भरे नेत्रों से न देखें, उनके लिये हम अन्य श्रोतों से जैन कथा के विवरण की स्पष्टवादिता को प्रकट करेंगे । बौद्ध श्रोतों का अध्ययन करके मि. ह्रीस डेविड्स इसी निष्कर्ष को पहुंचे थे कि बुद्ध के समय में पहले से चली आई हुई पेड़ों की पूजा भी प्रचलित थी । उन्हीं पेड़ों के नाम के चैत्य आदि भी बने हुए थे ।[२] एक अन्य विद्वान् भगवान महावीर और महात्मा बुद्ध के समय की धार्मिक स्थिति के विषय में लिखते हैं कि ''पहले यहां एक प्राकृतिक धर्म था जो बाद में हिन्दू धर्म या ब्राह्मण धर्म के नाम से ज्ञात हुआ । इस धर्म में बहुत प्राचीन मनुष्यों की मान्यतायें, पित्रजनों की पूजा, क्रियाकांड, प्रचलित पौराणिक वाद आदि गर्भित थे । यह बिल्कुल ही प्रकृति (Nature) की पूजा का धर्म था और जब तक मनुष्य चुपचाप प्राचीन रीतियों को मानते हुए रहे तब तक इस बात की

किसी को फिकर ही न हुई कि सैद्धान्तिक मन्तव्य किस के क्या हैं ।''[1] इस तरह इससे भी यह बात प्रकट है कि पहले यहां वृक्ष जल आदि प्राकृतिक वस्तुओं की पूजा भी प्रचलित थी । परन्तु तब यहां क्या केवल यही एक धर्म था, इसके लिए इस उक्त विद्वान के कथन को नजर में रखते हुए हम आगे विवेचन करेंगे । यहां पर उपरोक्त जैन कथा के शेष भाग को देखकर हम उस समय के धार्मिक वातावरण के जो और दर्शन होते है, वह देख लेना उचित समझते हैं ।

उक्त जैन कथा में आगे कहा गया है कि ''वह श्रावक उस ब्राह्मण के साथ गंगानदी के किनारे गया । भूख लगने पर उस नदी के जल को मणिगंगा नाम का उत्तम तीर्थ समझकर स्नान किया और इस तरह तीर्थ मूढ़ता का काम किया । तदनंतर जब वह ब्राह्मण खाने की इच्छा करने लगा तब श्रावकने पहले खाकर उस बचे हुये उच्छिष्ट भोजन में गंगा नदी का वही पानी मिलाकर उस ब्राह्मणको दिया और हित बतलाने के लिये कहा कि गंगा का जल मिल जाने से यह भोजन पवित्र है इसे खाओ । उसे देखकर वह ब्राह्मण कहने लगा कि उच्छिष्ट भोजन मैं कैसे खाऊं, तब उस श्रावक ने कहा कि तू जो इस तरह कह रहा है सो तुझे क्या मालूम नहीं है कि इस में गंगा का जल मिला हुआ है । यदि यह गंगा जल इस भोजन के उच्छिष्ट दोष को भी दूर नहीं कर सकता तो फिर इन तीर्थों के जल से पापरूपी मल किस तरह दूर हो सकता है । इसलिये तू अपने मूढ़ चित्त से इन निर्मूल विचारों को निकाल दे । यदि जल से ही बुरी वासनाओं के पाप दूर हो जांय तो फिर तप, दान आदि अनुष्ठानों का करना व्यर्थ ही हो जायेगा । सब लोग जल से ही पाप दूर कर लिया करें क्योंकि जल सब जगह सुलभ रीति से मिलता है । मिथ्यात्व, अविरत्त, प्रमाद, कषाय इससे पाप कर्मों का बंध होता है और सम्यकत्व ज्ञान, चारित्र तपसे पुण्य कर्मों

का बंध होता है । तथा अंत में इन्हीं चारों से मोक्ष होती है । इसलिये अब तू श्री जिनेन्द्रदेव का मत स्वीकार कर,'' इस प्रकार श्रावक ने कहा ।

उस श्रावक का यह उपदेश सुनकर उस ब्राह्मण ने तीर्थ मूढ़ता भी छोड़ दी। इसके बाद वहीं पर एक तपस्वी पांच अग्नियोंके मध्य में बैठकर दु:स्सह तप कर रहा था । जलती हुई अग्निमें छहों प्रकार के जीवों का निरंतर घात हो रहा था और वह प्रत्यक्ष जान पड़ता था । उस श्रावक ने उस तपस्वी का मानने की पाखंडि मूढ़ता भी बड़ी युक्तियों से दूर की । इसके बाद वह श्रावक फिर कहने लगा 'कि इस वट वृक्ष पर कुबेर रहता है, ऐसी बातों पर श्रद्धान रखकर राजा लोग भी उसके योग्य आचरण करने लग जाते हैं अर्थात् पूजने लग जाते हैं । क्यों वे जानते नहीं कि लोक का यह बड़ा भारी प्रसिद्ध हुआ मार्ग छोड़ा नहीं जा सकता' इत्यादि ऐसे लोक प्रसिद्ध वचनों को कभी ग्रहण नहीं करना चाहिए क्योंकि ऐसे वचन सर्वज्ञ प्रणीत शास्त्र के बाहर हैं और मदोन्मत पुरुषके वाक्य के समान हैं । इस प्रकार समझाकर उसने उसकी लोकमूढ़ता भी दूर की।''[४]

आगे 'साख्य' और 'मीमांसक' मत का निर्सन करते हुये हेतुवाद से आप्त की सिद्धि को भी उक्त कथा में प्रमाणित किया गया है ।[५] इस तरह उक्त विवरण से उस समय गंगानदी में पुण्यहेतु स्नान करना पंचाग्नि आदि रूप मूढ़ तप को साधन करना, यक्ष-कुबेर आदि की पूजा का प्रचलित होना प्रगट होता है ।[६] आज से करीब दो हजार वर्ष पहले के लिखे हुये बौद्ध शास्त्रों से भी उस समय गंगास्नान ब्राह्मणों के निकट धर्म कार्य था यह प्रकट है । इसी तरह पंचाग्नि आदि कुतप में लीन तापस लोग उस समय मौजूद थे, यह आज सर्व प्रकट है।

ब्राह्मणों के 'बृहद् आरण्यक उपनिषद' (४/३/२२) में 'श्रमण और तापसों' का उल्लेख है । श्रमण वे लोग थे जो वेद विरोधी थे और वह मालूम ही है कि यह शब्द मुख्यत: जैन और बौद्ध साधुओं के लिए व्यवहृत होता था। इस लिये उस समय जैन श्रमण होना ही संभाव्य है और इस अवस्था में उक्त प्रकार श्रमण भक्त श्रावक का ब्राह्मण पुत्र को मिथ्यात्व छुटाने की उपरोक्त कथा ऐतिहासिक सत्य को लिए हुए प्रतीत होती है । तापस लोग वेदानुयायी थे और वे मुख्यत: विविध वैदिक मत-मतान्तरों में विभक्त थे । हमें उनके विषय में बतलाया गया है कि "वे नगरों के निकट अवस्थित जगलों में विविध दार्शनिक मतों के अनुयायी होकर साधु जीवन व्यतीत करते रहते थे । वे अपना समय अपने मत की क्रियायों के अनुकूल बिताते थे अर्थात् या तो वे ध्यान मग्न रहते थे, अथवा यज्ञादि करते थे, या हठयोग में लीन रहते थे अथवा अपने मत के सूत्रों के पठन पाठन में व्यस्त होते थे । उनका अधिक समय भोजन के लिए फलों और कन्द मूलों के इकट्ठे करने में बीतता था ।"[७] इस प्रकार उस समय के तापसों का स्वरूप था । तथापि उस समय यक्षादि की पूजा भी प्रचलित थी, यह बात भी इसे यथार्थता को लिए प्रकट होती है । जब हम देखते हैं कि भगवान महावीर अथवा महात्मा बुद्ध के जन्म काल में बहुत से यक्ष मंदिर आदि मौजूद थे ।

वैशाली के आसपास ऐसे कितने ही चैत्य मंदिर थे । यह चैत्य चापाल, सप्ताम्रक, बहुपुत्र, गौतम, कपिनह्य मर्कट ह्रदतीर आदि नाम से विख्यात थे ।[८] बौद्ध लेखक, बुद्धघोष अपनी 'महापरिनिब्बाण सुत्तन्त की टीका में 'चैत्यानि' को यक्षचैत्यनि रूप में बतलाते है और 'सारन्ददचैत्य' के विषय में कहते हैं, जहां कि बुद्ध ने धर्मोपदेश दिया था, कि यह वह बिहार जो यक्ष सारन्दर के

पुराने मंदिर के उजड़े स्थान पर बनाया गया था ।[९] इस तरह उस समय यक्षादि की पूजाका प्रचलित होना भी स्पष्ट व्यक्त है । लिच्छवि क्षत्रिय राजकुमारों के इनकी मान्यता थी, यह भी प्रकट है ।[१०] अब रही बात हेतु वाद से आप्तकी सिद्धि करने की सो यह भी बौद्ध शास्त्रों से प्रमाणित है कि उस समय ऐसे साधु लोग विद्यमान थे जो हेतुवाद से अपने गन्तव्योंकी सिद्धि करते थे और वर्षभर में अधिक दिन वाद करने में ही बिताते थे ।[११]

इस प्रकार उपरोल्लिखित जैन कथा द्वारा जो भगवान पार्श्वनाथ के समय के धार्मिक वातावरण का परिचय हमें मिलता है, वह प्राय: ठीक ही विदित होता है और हमें उस समय की धार्मिक परिस्थिति के करीब करीब स्पष्ट दर्शन हो जाते हैं । इस धार्मिक स्थिति का दर्शन करते हुए आइए पाठकगण इससे पूर्व की धार्मिक दशाका भी परिचय प्राप्त कर लें जिससे इसका और भी स्पष्ट दृश्य प्रगट हो जाय और पूर्वोल्लिखित विद्वान के वर्णन क्रम का दिग्दर्शन प्राप्त हो जाये।

डॉ. वेणीमाधव बारुआ ने अपनी 'ए हिस्ट्री ऑफ प्री-बुद्धि-स्टिक इंन्डियन फिलासफी' नामक पुस्तक में हमें भारत के धार्मिक विकास का अच्छा दिग्दर्शन कराया है । आपने पहले ही वेदों के ऋषियों को प्राकृत धर्म (Natural) निरूपण करने वाला बतलाया है और आपके दृष्टिकोण से वह प्राय: ठीक है । परन्तु यदि हम वेदों के मंत्रों को शब्दार्थ में ग्रहण न करें और उन्हें अलंकृत भाषा के आत्मा संबंधी राग ही मानें, तो भी उनका अर्थ और अधिक स्पष्टत: से ठीक बैठ जाता है । वह वैदिक ऋषिगण 'कवि' नाम से परिचित भी हुए हैं ।[१२] तथापि यह भी स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में अलंकृत भाषा का व्यवहार होता था ।[१३] और हिन्दुओं के वेद उस भाषा से अलग किसी

दूसरी भाषा में नहीं लिखे गये हैं ।[१४] इस दशा में उनको शब्दार्थ में ग्रहण करना कुछ ठीक नहीं जँचता है । जैन शास्त्रों में यह स्वीकार किया गया है कि स्वयं भगवान ऋषभदेव के समय से ही पाखण्ड मतों की उत्पत्ति मारीचि द्वारा हो गई थी ।[१५] और इधर वेद भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि उनके साथ साथ उनका विरोधी मत भी कोई मौजूद था ।[१६] अतएव वेदों को शब्दार्थ में ग्रहण करके और फिर उनसे ही उपरान्त जैन, बौद्ध आदि धर्मों की उत्पत्ति मानना कुछ ठीक नहीं जँचता है । जबकि जैन धर्म हिन्दू धर्म के समान ही प्राचीनतम धर्म होने का दावा करता है, जिसका समर्थन हिन्दूओं के पुराण ग्रंथ भी करते हैं ।[१७] तिसपर स्वयं ऋग्वेद में जो 'प्रजापति परमेष्ठिन्' के मन्तव्यों का विवेचन किया गया है, उनसे इस विषय की पुष्टि होती प्रतीत होती है, यदि हम उन्हें शब्दार्थ में ग्रहण न करें । परमेष्ठिन् की मान्यता द्वैधरूप (Dynamiatic) और संशयात्मक (Sceptic) कही गई है ।[१८] इसी तरह भगवान महावीर के धर्म को भी द्वैधरूप (Dynamietiu) और स्याद्वादात्मक कहा है;[१९] जो परमेष्ठिन की मान्यता से सादृश्यता रखता है । तिस पर स्वयं 'परमेष्ठिन्' शब्द ही खास जैनियों का है । जैन धर्म के पूज्य देव-अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु-पंच 'परमेष्ठी' के नाम से विख्यात हैं इतर धर्मों में इस शब्द का व्यवहार इस तरह से किया हुआ प्राय; नहीं ही मिलता है । इस कारण संभव है कि जैन धर्म के सिद्धान्त को व्यक्त करने के लिए अथवा उसी ढंग को बताने के वास्ते 'प्रजापति परमेष्ठी' के मंत्रों का समावेश ऋग्वेद में किया गया है । 'प्रजापति' शब्द से यदि स्वयं भगवान ऋषभदेव का अभिप्राय हो तो भी कुछ आश्चर्य नहीं है, क्योंकि कर्मयुग के प्रारम्भ में प्रजा की सृष्टि करने और उसकी रक्षा के उपाय बताने की अपेक्षा वे 'प्रजापति' नाम से भी उल्लिखित हुए हैं ।[२०] इस तरह स्पष्टत: हमें इन सूत्रों में जैन धर्म का संबंध झलक जाता है ।

अब जरा इनके मंत्रों को भावार्थ में ग्रहण करके देख लीजिए कि वह क्या बतलाते हैं ? इनके मन्तव्य ऋग्वेद मंत्र १०।१२९ मे दिये हुये हैं । पर हम यहां पर मि. बारुआ के उल्लेखों के अनुसार विचार करेंगे । सबसे ही पहले परमेष्ठिन् ने जो 'सिद्धान्त' (Philosophy) का स्वरूप बतलाया है, वह दृष्टव्य है । वे कहते हैं कि 'सिद्धान्त कवियों की आभ्यन्तरिक खोज का परिणाम है जो वे सत्तात्मक और असत्तात्मक वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्ध को अपने विचार द्वारा जानने के लिये करते हैं ।[२१]' जैन धर्म में भी सिद्धान्त के स्वरूप को ऐसे ही स्वीकार किया गया है । वहां सिद्धान्त की उत्पत्ति ऋषभदेव द्वारा ध्यान मग्न होकर विचार-तारतम्यकी परमोच्च सीमा में केवली दशा में पहुंच करके होने का उल्लेख है । वहां सिद्धान्त को किसी परोक्ष ईश्वर आदि की कृति नहीं मानी है, बल्कि यही कहा है कि मनुष्य जब ध्यान द्वारा अपनी विचार-दृष्टि को बिल्कुल निर्मल बना लेता है तब उसके द्वारा सैद्धान्तिक विवेचन प्राकृत रूप में होता है । परमेष्टिन का भी भाव यही है; यद्यपि वह पूर्ण स्पष्ट नहीं है ।

प्रजापति परमेष्टिन के समय में कहा गया है कि दो तरह के मत प्रचलित थे । एक का कहना था कि 'व्यक्ति' (Being) उत्पत्ति 'अ-व्यक्ति' (Non-Being) में से हुई है । दूसरा कहता था कि 'व्यक्ति' (Being) व्यक्ति में से ही उत्पन्न हो सकता है ।[२२] उन दोनों के बीच में प्रजापति ने मध्य का मार्ग ग्रहण किया था, यह कहा गया है । उनके निकट 'मुख्य वस्तु' का समावेश व व्यक्ति में था और न अव्यक्ति में । (For him the original matter comes neither under the definition of Being nor that of non-Being)[२३] प्रजापति ने समझाने के लिए पानी (सलिल) को मुख्य माना था । उनका कहना था कि पानी से ही सब वस्तुएं बनी है; सब सत्तात्मक वस्तुओं का मूल द्रव्य पानी है ।

इसके आगे उन्होंने और कुछ न बतलाया और इसी अपेक्षा उनका मत संशयात्मक माना गया है ।[२४] उनके निकट गहन-गंभीर पानी ही सब कुछ था और वह भी क्या था ? वह एक वस्तु थी स्वास रहित पर अपने ही स्वाभाव में स्वासपूर्ण थी (आनीदवातं स्वधयातद एकम् तस्माद्धान्यन न परः किश्चन नास'')[२५] वह अमूर्तिक भी थी (ऋग्वेद १०/१२९,५) अंधकार (तमस) भी था और इस तमस अंधकार में पहले 'पानी' अपने अव्यक्त रूप (अप्रकेतम्) में छुपा हुआ था । पानी ही यह था जो सत्ता में था (सर्वम् इदं)[२६] यानी यहां पर सिवाय आत्मद्रव्य के और कुछ न था । संसार में आत्म को 'पानी' के नाम से संज्ञित करना ठीक भी है क्योंकि पानी एक मिश्रित रूप है और संसार में आत्मा भी अज्ञान से वेष्टित संयुक्तावस्था में है यद्यपि मूल में वह अपने स्वभाव पर ही जीवित है अर्थात् अपने स्वभाव से वह अब भी च्युत नहीं हुआ है । हम और अमूर्तीक ही है । वही अपना संसार अपने आप बनाता है इस कारण सब वस्तुओं का कर्ता भी वही है । इस प्रकार प्रजापति परमेष्ठिन के मन्तव्य को हम भावार्थ रूप में प्रायः जैन धर्म के समान ही पाते हैं । बल्कि जिनसेनाचार्यजी कृत 'जिनसहस्त्रनाम' में भगवान ऋषभदेवका स्मरण 'सलिलात्मक' रूप से किया हुआ मिलता है ।[२७] यह भी 'सलिल' के अर्थ 'आत्मा' की पुष्टि करता है, क्योंकि ऋषभदेव परमात्मा रूप में ग्रहण किय गये हैं और परमात्मा एवं आत्मा में मूल में कुछ अन्तर नहीं है । अस्तुः

प्रजापति ने पुद्गल (Matter) और मुख्य शक्ति-आत्मा (Motive Power) में यहां पर कोई भेद भी न बताया[२८] इसका कारण यही है कि वह पहले ही आत्मा को 'पानी' मानकर इस भेद को प्रगट कर चुके थे । 'व्यक्ति' उनके निकट 'पर्याय' ही थी ।[२९] 'पानी' अर्थात् आत्मा की पर्याय - पलटन

उस में गरमाई (तपस) के कारण होती थी ।[१०] यह गरमाई जैन दृष्टि से 'विभाव' कही जा सकती है जिससे 'काम' की उत्पत्ति होना ठीक ही है । काम ही सांसारिक परिवर्तन में मुख्य माना गया है, जो मन से ही जायमान (मनसो रेतः) था । यह मन अन्ततः 'सूर्य' बतलाया गया है । जो संसार में प्रथमजन्मा स्व-विज्ञान और प्रत्यक्ष संसार में व्यक्ति रूप है ।[११] जैन धर्म से भी पर्याय धारण करने में मुख्य कारण कामादि जनित इन्द्रियलिप्सा ही मानी गई है और मन एक अलग पदार्थ माना गया है जिसका खास संम्बध आत्मा से है । उसको अन्ततः सूर्य रूप कहना कुछ गलत नहीं है, क्योंकि सूर्य आत्मा की शुद्ध दशा का द्योतक है । स्वयं ऋग्वेद में उसे अमरपने का स्वामी (अम्रितत्वष्येशानो १०-९०, ३) कहा गया है । इस तरह प्रजापति परमेष्ठिन के नाम से जो सिद्धान्त ऋग्वेद में दिये गये हैं वह जैन धर्म से सादृश्यता रखते हैं तथापि पहले बताये हुए नाम के भेद को दृष्टि में रखते हुए यह कहना कुछ अत्युक्ति पूर्ण न होगा कि इन मंत्रों में वेद ऋषियों ने भगवान ऋषभदेव द्वारा प्रतिपादित जैन धर्म का किञ्चित विवेचन किया है । इसलिये भारत में प्रारंभ से एक प्राकृत धर्म जो उपरान्त ब्राह्मण धर्म कहलाया केवल उसका ही अस्तित्व बतलाना ठीक नहीं है । इस एवं अन्य श्रोतों से यह प्रमाणित है कि भारत में जैन धर्म का अस्तित्व वेदों से भी पहले का है ।[१२]

वेदों के अन्य देवी देवताओं और मानताओंका अलंकृत घूंघट 'असहमत संगम' आदि पुस्तकों में अच्छी तरह खोल दिया गया है, सो अधिक वहां से देखना चाहिए । किंतु वेदों के समय को जो हिंदुओं ने ब्रह्मरूप माना गया है[१३] यह ठीक है । जैनाचार्य कुन्द कुन्दस्वामी भी 'समय' का अर्थ 'आत्मा' ही करते हैं ।[१४] इस तरह वेदकाल पर दृष्टि डालकर आइए पाठक

डा. साहब के अनुसार अवशेष काल के वर्णन पर एक दृष्टि डाल लेवें; जिसमें भी अवश्य ही जैन धर्म यहां मौजूद रहा है ।

डाक्टर साहब वेदों के बाद ऐतरेय, तैत्तिरीय आदि ब्राह्मण दर्शनों का समय आता हुआ बताया है । यह काल महीदास ऐतरेय से याज्ञवल्क्य तक माना है । इस काल में सैद्धान्तिक विवेचना का केन्द्र 'ब्रह्मऋषि देश' से हटकर 'मध्यदेश' में आ गया था, जो हिमालय और विन्ध्या पर्वतों के बीच का स्थल था । यह परिवर्तन क्रम कर हुआ ही खयाल किया जा सकता है । इस काल में धर्म की विशुद्धता जाती रही और पुराण-क्रियाकाण्ड आदि का समावेश हो चला था । ललित कविता का स्थान शुष्क गद्य ने ले लिया था । इस समय के तत्वान्विषिकों के समक्ष यही प्रश्न था कि "मैं ब्रह्म में कब लीन हो सकता हूं ।[३५]" और इसी लिए योग की प्रधानता भी इस जमाने में विशेष रही थी । जैन शास्त्रों में भी भगवान शीतलनाथ के समय तक अविच्छन्न रूप से धर्म का उद्योत बने रहने का उल्लेख है । उसी समय से ब्राह्मणों में लोभ की मात्रा बढ़ने का उल्लेख किया गया है और बतलाया गया है कि उन्होंने नए शास्त्रों की रचना भी की थी ।[३६] इसके बाद मुनिसुव्रतनाथ भगवान के समय में वेदों में पशु यज्ञ की आयोजना की गई थी, यह बतलाया है ।[३७] सचमुच जैन शास्त्रों की यह क्रम व्यवस्था ऐतिहासिक अनुसन्धान से प्राय: बहुत कुछ ठीक बैठ जाती है । ऊपर जो वेदों के बाद कलिकाल में क्रियाकाण्ड आदिका बढ़ना बतलाया है वह जैन शास्त्र के वर्णन के बहुत कुछ अनुकूल है । इस अवस्था में जैन शास्त्रों का यह कथन भी विश्वसनीय सिद्ध होता है कि जैन धर्म भी एक प्राचीन काल से स्वयं ब्राह्मणों की उत्पत्ति के पहले से बराबर चला आ रहा था । यह व्याख्या अन्यथा भी प्रमाणित है, यह पुन: बतलाना वृथा है ।

इस काल का प्रारंभ, महीदास ऐतरेय से किया गया है; जो स्पष्टतः एतरेय दर्शन के मूल संस्थापक कहे जा सकते हैं । छान्दोग्य उपनिषद् में इनकी उमर ११६ वर्ष की बतलाई गई है और यह ब्राह्मण ही थे । इनकी मां का नाम इतरा था । इसी कारण इनका दर्शन ऐतरेय कहलाया था । इनके सैद्धान्तिक विवेचन के स्पष्ट दर्शन प्रायः कहीं नहीं होते हैं । तो भी इन्होंने लोक में पांच द्रव्य जल, पृथ्वी, अग्नि, वायु और आकाश-माने थे, इन्हीं से व्यक्ति का अस्तित्व माना गया है । सृष्टि के कार्य आदि का मूल कारण इन्होंने (परमात्मा को) ही माना था । (ऐतरेय आरण्यक १/३/४/९) आत्मा का संबंध परमात्मा से ही बतलाया था । एक स्थान पर वह उसे शरीर से अलग नहीं बतलाते हैं परन्तु अन्यत्र प्राणों की स्वाधीनता स्वीकार करते हैं । (ऐतरेय आरण्यक, २/३/१/१ और २/१/८/१२-१३) इन्होंने मनुष्य के शारीरिक अवयवों का वर्णन खासी रीति से किया था और अमली जीवन के लिए विवाह और संतान का होना जरूरी समझा था । (ऐत.आर. १/३/४/१२-१३) पुत्र हीन पुरुष का जीवन ही, उनकी नजरों में कुछ नहीं था । (नापुत्र्य लोको स्तिति) इस प्रकार महीदास ऐतरेय का मत था ।[३८]

इनके बाद मुख्य ब्राह्मण ऋषि गार्गायण माने गये हैं । इन्होंने कहा था कि 'जो ब्राह्मण है वही मै हूं ।' (कौषीतकि उपनिषद १/६) और ब्राह्मण इनके निकट संत था । इनके उपगन्त प्रतरदनकी गणना की गई है । यह काशी के राजा दिवोदास के पुत्र थे । इन्होंने संयमी जीवन बिताने के लिए आंतरिक अग्निहोत्र (आन्तरम् अग्निहोत्रम्) का विधान किया था । यह वैदिक यज्ञ वाद का एक तरह से सुधार ही था । प्रज्ञात्मा (Congnitive Soul) के मूल प्राण को इन्होंने संसार का पोषक, सबों का स्वामी, शरीर रहित और अमर बतलाया

था; इसलिए वह सांसारिक पुण्य-पाप से रहित था। (कोषीतकि उप. ३/९)। किसी भी व्यक्ति के किसी कार्य से 'उसके जीवन को हानि नहीं पहुंचती है, माता, पिता के मार डालने से भी कुछ नहीं बिगड़ता है; न कुछ हानि चोरी से या एक ब्राह्मण के मारने से होती है। यदि वह कोई पाप करता है तो भी चेहरे से प्रकाश नहीं जाता है।' (कौ. ३०३।९) इस तरह उनकी शिक्षा में स्पष्टतः पुण्य-पापका लोप ही था। इनके इस सिद्धांत का विशेष आन्दोलन नचिकेत, पूरणकस्सप, पकुढकाच्चयन और भगवद्गीता के रचयिता द्वारा हुआ था।[३९]

प्रतरदन के पश्चात् उद्दालक आरुणी के हाथों से ब्राह्मण मत में एक उलटफेर ला उपस्थित की गई थी। उद्दालक अरुण ब्राह्मण का पुत्र और श्वेतकेतु का पिता था। इनका नत 'मन्थ' नाम से ज्ञात था, जिस में विवाह का करना मुख्य था। जैन ग्रन्थ राजवार्तिक में मान्थनिकों की गणना क्रियावादियों में की गई है। श्वेतांबरियों के सूत्रकृताङ्ग में भी (१।१।१।७-९) इनके मत का उल्लेख है। इनको ज्ञान की पिपासा उत्कट थी। इनका सैद्धान्तिक विवेचन प्रायः महीदास जैसा ही था। इन्होंने पुद्गल का उल्लेख 'देवता' के रूप में किया था तथापि पुद्गलाणुओं का मिलना और विघटना भी स्वीकार किया था।[४०]

उपरान्त वरुण द्वारा तैतरीय मत का प्रारंभ हुआ था। उद्दालक ने अग्नि, जल और पृथ्वी तीन ही द्रव्य माने थे, परन्तु वरुण के निकट वह आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी थे। ब्रह्म को ही इनके मुख्य और सर्व का प्रेरक माना था। तथापि वही उनके निकट अन्तिम ध्येय भी था जिसमें स्थाई आनन्द का उपभोग था। आत्मा की क्रियाशीलता के विषय में इनकी सादृश्यता महीदास से थी। मनुष्य के प्रत्येक कार्य में आनन्द को ही इन्होंने मुख्य माना था। मानुषिक आनन्द का प्रारभ रसना इन्द्रिय से करके वह उसका अन्त

ध्यानावस्था में करते हैं । इसमें स्त्री, पुत्र, धन, सम्पत्ति आदि को भी गिन लेते हैं । यह भी उनके निकट आनन्द के कारण हैं ।[४१]

वरुण के उपरान्त बालाकि और आजातशत्रु उल्लेखनीय है बालाकि एक ब्राह्मण और याज्ञवल्क्यका समकालीन था । अजातशत्रु राजपुत्र थे और विदेह के राजा जनक के समय में हुए थे । राजा जनक फिलासफरों के प्रेमी व संरक्षक थे और राजा अजात शत्रु राजपुत्र थे और विदेह के राजा जनक के समय में हुए थे । राजा जनक फिलासफरों के प्रेमी व संरक्षक थे और राजा अजात शत्रु स्वयं फिलासफर थे । बालाकि और अजातशत्रु में शास्त्रार्थ हुआ था । मुख्य विषय आत्मा का स्वरूप और जगत् एवं मनुष्य में उसका स्थान निर्णय करना था । बालाकि सूर्य में आत्मा का ध्यान करना उचित समझता था, पर अजातशत्रु उसे प्रकृति (Nature) का एक अंग ही मानता था ।[४२]

इनके साथ ही याज्ञवल्क्य की प्रधानता रही थी । कहा जाता है कि यह बौद्ध काल से बहुत ज्यादा पहले नहीं हुये थे । इनका नेति नेति धर्म विख्यात् है । इन्हीं के कारण राजा जनक का नाम चिरस्थाई हो गया है । याज्ञवल्क्य के निकट आत्म काम (Self-love) ही मुख्य था । इस ही को उन्होंने शेष कामों (Love) का उद्गम स्थान माना था । इसका प्रारंभ अपने आत्म-रक्षाके भावसे होकर परमात्मा के प्रेम में अंत को पहुंचता है । दाम्पत्य प्रेम, संतान प्रेम, धन, पशु, जाति, देवता, धर्म आदि प्रेम सब ही विविध अंशों में आत्म-काम (Self-love) ही हैं । इनका संबंध भी परमात्मा से है क्योंकि जब हम अपने व्यक्तित्व से प्रेम करेंगे तो परमात्मा से भी करेंगे, यह उनका कहना था । इसीलिए उन्होंने इच्छा (Desining) को बुरा न माना था - फिर चाहे पुत्रों-सम्पत्ति या ब्राह्मण की ही वाञ्छा क्यों न की जाय ! इस तरह इन्होंने भी प्राचीन

वैदिक मार्ग का एक तरह से समर्थन करना ही ठीक माना था । त्याग अवस्था में भी स्त्री, पुत्र, धन, सम्पत्ति आदि उपभोग की वस्तुओं को बुरा नहीं बतलाया था ।[४३] सचमुच उपरान्त के इन ऋषियों द्वारा यद्यपि वेदों के विरुद्ध भी आवाज उठाई गई थी, परन्तु वे उसके मूल भाव के खिलाफ नहीं गए थे । आत्म-ज्ञान को विधि रीतियों से प्राप्त करने का प्रयत्न इनमें जारी हो गया था । परिणाम इसका यह हुआ कि अन्ततः वेद और वैदिक क्रिया काण्ड को लोग बिल्कुल ही हेय दृष्टि से देखने लगे । उनको अविद्या और नीचे दर्जे का ज्ञान समझने लगे ।[४४] पर यह सब हुआ तब ही जब जैन तीर्थंकरों-श्रमण धर्म के प्रणेता[४५] जीवित परमात्माओं ने इन वैदिक ऋषियों के सिद्धान्तो के विरुद्ध समय समय पर नितान्त वस्तु स्वभावमय धर्म का निरुपण किया था । अवश्य ही आधुनिक विद्वान् इस व्याख्या से सहसा सहमत नहीं होते हैं, पर यह हम देख ही चुके है कि स्वयं वेदों में ही वेद विरोधियों का अस्तित्व बतलाया गया है । ये वेद विरोधी अवश्य ही जैन श्रमण थे ।

याज्ञवल्क्य के सिद्धांतों ने वैदिक धर्म में उपरांत ईश्वरवाद को उत्तेजना दी। इसमें ब्राह्मणों का पुराना ही श्रद्धान था, परन्तु याज्ञवल्क्यके सिद्धांतों ने इसके लिये नया क्षेत्र ही सिरज दिया । बृहद् आरण्यक उपनिषद के प्रथम अध्याय में इस मत का निरूपण किया हुआ मिलता है । 'पुरुष-विधि ब्राह्मण' के कर्ता आसुरी अनुमान किए गए हैं । आसुरी ही इस जागृति में मुख्य व्यक्ति थे । बौद्ध शास्त्रों में आसुरी का उल्लेख मिलता है । वहां इनके बारे में कहा गया है कि सूर्य को ही इन्होंने प्रथम जन्मा माना था और वही इनके ईश्वर, कर्ता, निर्माता, श्रेष्ठ, संजिता, वर्तमान और भविष्यत का पिता था ।' उसके मन में इच्छा होते ही मन शक्ति से (मनोपनिधि) उसने सृष्टि रच दी थी । यही भाव

'पुरुष-विध-ब्राह्मण' में दिया हुआ हैं ।[१९] यही आसुरी संभवत: निरीश्वर सांख्य मत के उपदेशक हैं । श्वेताम्बर जैन ग्रन्थ के अनुसार वह भगवान ऋषभदेव के समय मरीचि नाम भृष्ट जैन मुनि और सांख्य मत के प्रणेता के शिष्य कपिल के अनुयायी थे । कपिल को आसुरी अपना गुरू मानते थे और उन्होंने ही 'षष्टि-तंत्र' नामक मान्य सांख्य ग्रन्थ रचा था । (देखो आवश्यक बृ. नियुक्ति गा. ३५०-४३९) किंतु 'आदिपुराणजी' में कपिल को मारीचि का शिष्य नहीं लिखा है । वहां 'त्रिदंडी मार्ग' निकालने का उल्लेख है (पृ. ५३७) । जो हो, इससे यह प्रकट है कि आसुरी का सम्बन्ध अवश्य ही सांख्य दर्शन से था किन्तु हमारा अभिप्राय यहां पर इन वैदिक ऋषियों के सिद्धांतो पर विवेचना करने का नहीं है और न हमारे पास इतना स्थान ही है कि हम उनकी विवेचना यहां कर सकें । यहां मात्र वैदिक-धर्म के विकास क्रम पर प्रकाश डालना इष्ट है, जिससे भगवान पार्श्वनाथ के समय के धार्मिक वातावरण का स्पष्ट रङ्ग-ढंग मालूम हो सके । वैसे जैन शास्त्रों में इन वैदिक मान्यताओं की स्पष्ट आलोचना मौजूद ही है । अस्तु ! हमें अपने उद्देश्यनुसार केवल इन वैदिक ऋषियों के सैद्धांतिक इतिहास क्रम पर एक सामान्य दृष्टि डाल लेना ही उचित है ।

आसुरी का अस्तित्व संभवत: भगवान नेमिनाथ के तीर्थ में रहा होगा और इन्हीं के धर्मोपदेश से यह प्रभावित हुआ होगा, यही कारण है कि वह हमारे लिये आत्मा या परमात्मा को प्राप्त करना अन्य कार्यों से सुगम समझता है (God or soul nearer to us than anything else: dearer than a son, dearer than wealth, dearer than all the be rest) और पुत्र, सम्पत्ति एवं अन्य सब वस्तुओं से प्रिय बतलाता है । जहां पहले पुत्र की प्रधानता रही थी, वहां वह अब आत्म को ला उपस्थित करता है । पर साथ ही वह अन्य कर्तव्यों

को पालन करना भी जरूरी खयाल करता है जो उसके निकट सिर्फ तीन ये हैं, (१) ब्राह्मण, (२) यज्ञ, (३) और संसार । अपने पुरखाओं के सामाजिक, नैतिक और आत्मिक कार्यों को करना भी वह उचित बतलाता है । इन कर्तव्यों की पूर्ति करने को वह तीन लोक-देव, पितृ और नृलोक निर्दिष्ट करता है । नृलोक की प्राप्ति केवल पुत्र द्वारा ही उसने मानी है । इस तरह वह भी प्राचीन मान्यता स्त्री और पुत्र की प्रधानता को छोड़ नहीं सका है । देव और पितृ लोक का लाभ क्रमशः ज्ञान और यज्ञ द्वारा उसने बतलाया है । सामाजिक जीवन के सम्बन्ध में वह कहता है कि मूल में मनुष्यों में कोई जातीय भेद विद्यमान नहीं थे परंतु उपरान्त सामाजिक बढ़वारी और भलाई के लिहाज से जातीय भेद स्थापित किये गये थे । जैन दृष्टि भी कुछ-कुछ इसी तरह की है । भोग भूमि के जमाने में वह भी मनुष्यों में कोई भेदभाव नहीं बतलाते हैं परन्तु कर्तव्य युग के आने पर आदि ब्रह्मा भगवान ऋषभदेव ने चार वर्ण या जातियां स्थापित की थी, यह कहते हैं किन्तु जैन धर्म में जातियों की उच्चता आदि पर उतना अभिमान नहीं माना गया है, जितना कि हिंदू ऋषियों के निकट रहा है । जैन दृष्टि से जातिमद एक दूषण है पर आसुरी इन जातीय भेदों को आवश्यक मानता था । भविष्य जन्म के श्रद्धान को भी वह मुख्यता देता था ।[४७]

इस प्रकार वैदिक धर्म में प्रारम्भ से ही गृहस्थ की तरह साधु को भी नियमित रीति से सांसारिक भोगोपभोग का आस्वाद ले बुरा नहीं माना गया था। स्वयं वेदों में ही संतान को मनुष्य का मुक्तिदाता बतलाया गया था । (प्रजातिः अमृतम) उनको निकट अमरपने को प्राप्त करना केवल विवाह द्वारा संभव था । विवाह बिना वे मनुष्य का 'मिट्टी में मिलना और गारत होना' मानते थे ।[४८] ऐतरीय और तैतरीय काल में भी इस मान्यता की प्रधानता रही थी । सब

ही वेदानुयायियों के निकट, (१) वैदिक साहित्य का अध्ययन करना, (२) वैदिक रीति रिवाजों का पूर्ण पालन करना, (३) पारम्परिक धर्म में किंचित उन्नति करना, (४) देवताओं और पित्रों की पूजा करना एवं (५) विवाह करना मुख्य कार्य रहे हैं ।[४९] यज्ञ करने, पंचाग्नि तप ने और विवाह करने पर वे भगवान् पार्श्वनाथ के समय तक जोर देते रहे थे । यद्यपि आसुरी ने भगवान् नेमिनाथ के उपदेश के प्रभावनुसार इस श्रद्धान में किंचित फेरफार भी किया था, परन्तु वह भी मूलभाव से विचलित नहीं हुआ था । सारांश यह कि वेदानुयायी ऋषियों ने गृहस्थ जीवन का नियमित उपभोग करना बुरा नहीं माना था और हठयोग को भी बेढब बढ़ाया था । ब्रह्मचर्य से तो वह बुरी तरह भयभीत थे । ब्राह्मण ऋषि बौद्धायन और विशिष्ट ने स्पष्ट कहा था कि पुत्र द्वारा मनुष्य संसार पर विजय पाता है; पौत्र से अमरत्व लाभ करता है और प्रपौत्र को पाकर परमोच्च स्वर्ग को प्राप्त करता है ।[५०] इसी लिए एक ब्राह्मण का जन्म तीन प्रकार के ऋणों से लदा हुआ होना बतलाया गया है । अर्थात् छात्रावस्था का ऋण तो उसे ऋषियों को देना होता है; यज्ञों को करके देवताओं के ऋण से वह उऋण होता है और एक पुत्र द्वारा वह संसृति (Manes) को संतोषित करता है ।[५१]

जैनों के 'उत्तरपुराण' में भी वैदिक ऋषियों के इस धर्म विकास सम्बन्धी क्रम के किश्चित् दर्शन हमें मिलते हैं, यह हम ऊपर कह चुके हैं। सचमुच वहां पहले यही कहा गया है कि यद्यपि स्वयं भगवान ऋषभदेव के समय में ही मरीचि द्वारा पाखंड मतकी उत्पत्ति हो गई थी परन्तु धर्म की विच्छित्ति भगवान शीतलनाथ तक प्राय; नहीं हुई थी । हां, इन शीतलनाथ तीर्थंकर के अंतिम समय में आकर अवश्य ही जैन धर्म का नाश हो गया था और भूतिशर्मा ब्राह्मण के पुत्र मुंडशालयन ने मिथ्या शास्त्रों की रचना कर पृथ्वी, सुवर्ण का

दान देना सर्व साधारण के लिए आवश्यक बतलाया था ।[५२] उपरांत श्रेयांसनाथ भगवान द्वारा जैन धर्म का उद्योत पुन: हो गया था परन्तु भगवान मुनिसुव्रतनाथ के तीर्थकाल में जाकर अहिंसा धर्म के विरुद्ध पुन: ऊधम मचा था । राजा वसु के राजत्वकाल में पर्वत आदि ने हिंसाजनक यज्ञों की आविष्कृति की थी । 'अज' शब्द के अर्थ 'शालि धान्य' के स्थान पर इन्होंने 'बकरा' मानकर पशुओं का होमना वेदोक्त बतलाया था और फिर नरमेध तक रच दिया था ।[५३] परन्तु इसके पहले अरनाथ तीर्थंकर के समय में ब्राह्मण साधु स्त्री सहित रहने लगे थे, यह भी बतलाया गया है । अयोध्या के राजा सहस्रबाहु के काका शतुविंद की स्त्री श्रीमती से उत्पन्न जमदग्नि द्वारा इस प्रथा का जन्म हुआ था । यहां पर इस वेद वाक्य का उल्लेख जैन शास्त्र में किया गया है कि पुत्र बिना मनुष्यकी गति नहीं होती है । (अपुत्रस्यगतिर्नास्तीत्यार्ष किं न त्वया श्रुतं) जमदग्निने अपने मामा पारत देश के राजा की छोटी पुत्री से विवाह किया था जिससे उनके दो पुत्र इन्द्रराम और श्वेतराम हुये थे । सहस्रबाहु ने जब उनकी कामधेनु गाय जमदग्नि को मारकर छीन ली थी तब इन्होंने क्षत्री वंश को नष्ट करने का प्रयत्न किया था । शांडिल्य ऋषि ने सहस्रबाहु की एक रानी चित्रमती को सुबन्धु नामक निग्रन्थ मुनि के पास रख दिया था, जिसके गर्भ से सुभौम चक्रवर्ती का जन्म हुआ था । इन्हीं सुभौम ने अपने वंशके वैरी परशुराम - जमदग्नि के दोनों पुत्रों को नष्ट किया था ।[५५] भगवान् मुनिसुव्रतनाथ के तीर्थ में ही भगवान् रामचन्द्र आदि हुये थे और विद्वानों के आश्रय दाता जनक भी इस काल में मौजूद थे जनक ने पशु यज्ञ का विचार किया था, परन्तु वह विद्याधरों, जिन में रावण मुख्य था, से भयभीत थे तो पशु आदि यज्ञ के घोर विरोधी खलाफ और सम्यग्दृष्टी थे । जनक के मंत्री अतिशयमति ने इसका विरोध भी

किया था ।[५५] अन्तत: राम-लक्ष्मण की मदद राजा जनक ने ली थी । उपरान्त गौतम, जठरकौशिक, पिप्पलाद आदि का भी उल्लेख इस पुराण में है । इस तरह जैन शास्त्रों से भी वैदिक धर्म के विकास क्रम का पता चल जाता है ।

अतएव यहां तक के इस सब वर्णन से हम भगवान पार्श्वनाथजी के जन्म काल के समय जो धार्मिक वातावरण इस भारतवर्ष में हो रहा था, उसके स्पष्ट दर्शन पा लेते हैं । देख लेते हैं कि ब्राह्मण ऋषियों को प्रधानता से पशु यज्ञ, हठयोग और गृहस्थ दशामय साधु जीवन बहु प्रचलित थे । ब्रह्मचर्य का प्राय: अभाव था । तथापि देवताओं की पूजा और पूर्वजों की रीतियों के पालन करने के भावसे देव मूढ़ता और तीर्थ मूढ़ता आदि भी फैल रहे थे वातावरण ऐसा दूषित हो गया था कि जनभाषा प्राकृत उसको सुधारने की आवश्यकता थी अवश्य ही इस समय बाईसवें तीर्थंकर भगवान नेमिनाथजी के तीर्थ के जैन मुनि भी विद्यमान थे और वे भी जैन धर्म का प्रचार कर रहे थे और बहुसंख्य जैनी भी मौजूद थे; परन्तु वैदिक मत के सामने उनका महत्त्व बहुत कम था । अस्तु अब आइये पाठक गण काशी और उसके राजाका परिचय प्राप्त कर ले जहां भगवान पार्श्वनाथ का जन्म हुआ था ।

सन्दर्भ

१ - श्री गुणाभद्राचार्य प्रणीत 'उत्तरपुराण' का पं. लालाराम कृत हिन्दी अनुवाद से । मूल श्लोक परिच्छेद के प्रारंभ में दिये हुओं को छोड़कर इस प्रकार हैं :-

''तदनुग्रहबुध्यैवमाहासौ भव्यवत्सल: इतो भयातृतीयेत्र भवे भव्योपि स कुधी: ॥४६५॥ केनचित्पथिकोनामा जैनेन पथस व्रजन् । पाणाणराशि संलक्ष्यभूताधिष्ठित भृरूह: ॥४६८॥ समीपं प्राप्य भक्त्यातो देवमेतदिति द्रुतं । परीत्य प्राणमद् दृष्टवा तच्चेष्टां श्रावक: स्मिती ॥४६९॥ तस्यावमितिदिध्यर्थं तद्द्रुमादात्तपल्लवै: । परिनृज्य स्वपादाक्तधूलिं ते पश्य देवता ॥४७०॥ नार्हतानां विधाताय समर्थेत्य वदद् द्विजं । विप्रेणानु तथैवास्तु को दोषस्तव देवतां ॥४७१॥ परिभूतपदं नेष्याम्युपाध्यायस्त्वमत्रमे । इत्युक्तस्तेन तस्मात्स प्रदेशांतरमाप्तवान् ॥४७२॥ श्रावक: कपिरोमाख्यवल्लीजालं समीक्ष्य मे । देवमेतदिति व्यक्तमुक्त्वा भक्त्यां परीत्य तत् ॥४७३॥ प्रणम्य

स्थितवान् विप्रोव्याविष्कृतरुषोत्युकः । कराभ्यां तत्समुच्छिंदन् विनृदंश्चसंमततः ॥४७४॥ तत्कृतासह्यकंडूकाविशेषेणातिबाधितः । एतत्सन्निहितं देवं त्वदीयमिति भीतान ॥४७५॥ सहासो विद्यते नान्यद्विधातृ सुखदुःखयोः । प्राणिनां प्राक्तनं कर्म मुक्तास्मिन्मूलकारणं ॥४७६॥ श्रेयो वाप्तुं तत्तो यत्न तपोदानादि कर्मभिः । कुरुत्वमिति तन्मौढ्य हित्वा दैवं निवंधनं ॥४७७॥ देवाः खलु सहायत्व यांति पुण्यवतां नृणां । तके किंचित्कराः पुण्यवलये भृत्यसन्निभाः ॥४७८॥ इत्युक्त्वास्तद्विजोदूभूतदेवमौढयस्ततः क्रमात् ।....

२ - बुद्धिस्ट इन्डिया और 'डॉयलग्स आफ दी बुद्ध' भाग २ पृ. ११० फुटनोट तथा भि. आर. पी. चन्दा की मेडीविल स्कल्पचर इन ईस्टर्न इन्डिया Cal Univ Journal (Arts), Vol III.

३ - दी हिस्ट्री ऑफ प्रो-बुद्धिस्टिक इन्डियन फिलासफी पृ. ३६५

४ - उत्तरपुराण पृष्ट ६२५-६२६ । मूल श्लोक ये हैं :-

''श्रावकस्तेन विप्रेण गंगातीरं समागमत् ॥४७९॥ बुभुक्षुस्तत्र विप्रोसौ मणिगंगाख्यमुत्तमं । तीर्थमेतदिति स्नात्वा तीर्थमूढं समागमत् ॥४८०॥ अथास्मै भोक्तुकामाय भुक्त्वा स श्रावकः स्वयं । स्वोच्छिष्टं सुरसिंध्वंबुमिश्रितं पावनं त्वया ॥४८१॥ भोक्तव्यमिति विप्राय ददौ ज्ञापयितुं हितुं । तं दृष्टवाहं कथ भुंजे तवोच्छिष्ट विशिष्टतां ॥४८२॥ किं न वेत्सि मयैव त्वं वक्तेति स तमब्रवीत् । कथं तीर्थजलं पापमलापनयने क्षमं ॥४८३॥ यद्यद्योच्छिष्टदोष चेन्नापनेतुं समीहते । ततो निर्हेतुकामेतां प्रध्येयां मुग्धचेतसां ॥४८४॥ त्यज दुर्वासनापापं प्रक्षाल्यमिति वारिणा । तथैवं चेत्तपोदानाद्यनुष्ठानेन किं वृथा ॥४८५॥ तेनैव पापं प्रक्षाल्यं सर्वत्र सुलभं जलं । मिथ्यात्वादिचतुष्केण बध्यते पापमूर्जितं ॥४८६॥ सम्यक्त्वादिचतुष्केरण पुण्यं प्रांते च निवृतिः । एतजैनेश्वरं तत्वं गृहणित्यवदत्पुनः ॥४८७॥ श्रुत्वा तद्वचनं विप्रस्तीर्थमौदयं निराकरोत् । अथ तत्रैव पंचाग्निमध्येन्यैर्दुस्सहं तपः ॥४८८॥ कुवेतस्तापसत्योग्रैः प्रज्वलद्वन्हिसंहतौ । व्यंजयत्प्राणिनां घातं षड्भेदानामनारत ॥४८९॥ वटेस्मिन खलु वित्तेशो वसतीत्यैवमादिकं ॥४९६॥ वाक्यंश्रद्धाय तद्योग्यमाचरंतो महीभुजः । किन्न जानंति लोकस्य मार्गोयं प्रथितो महान् ॥४९७॥ न त्यक्तुं शौक्य इत्यादि न ग्राह्यं लौकि कं वचः । आप्तोक्तागम बाह्यत्वान्मदोन्मतवाक्यवत् ॥४९९॥

५ - उत्तरपुराण ४९९-५०६ ।

६ - बुद्धजीवन (S.B.E. XIX) पृ. १३१-१४२ १४३ ।

७ - बुद्धिस्ट इन्डिया पृ. १४०-१४१ ।

८ - डॉयलाग्स ऑफ दी बुद्ध भाग ३ पृ. १४ और दिव्यावदान २०१ ।

९ - पूर्व पुस्तक भाग २. पृ. ८० नोट २-३ ।

१० - दी क्षत्रिय क्लैन्स इन बुद्धिस्ट इन्डिया पृ. ७९-८२ ।

११ - बुद्धिस्ट इन्डिया पृ. १४१-वितंडा तर्क न्याय मीमांसा बताए है ।

१२ - ऋगवेद १।१६४, ६; १०।१२९. ४।२

१३ - हिन्दी विश्वकोष भाग १ पृष्ठ ६०-६७ ।

१४ - मि. अय्यर ने अपनी ''दी परमानेन्ट हिस्ट्री ऑफ भारत वर्ष'' में व्यक्त किया है तथापि वि. वा. पं. चम्पतरायजीने 'असहमतसंगम' आदि ग्रंथों में यही प्रकट किया है । स्वयं हिन्दू ऋषि 'आत्मरामायण के कर्ताने भी इस व्याख्यो को स्पष्ट कर दिया है । ये ग्रंथ देखना चाहिए ।

१५ - आदिपुराण पर्व १८-१९-२० । ३-२१७

१६ - ऋग्वेद १०।१३६।

१७ - भागवत ५।४।, ५, ६, तथा विष्णुपुराण पृ. १०४ ।

१८ - ए हिस्ट्री ऑफ प्री-बुद्धिस्टिक इन्डियन फिलॉसफी पृ. १५।

१९ - पूर्व पृष्ठ ३६२ ।

२० - जिनसहस्रनाम अ. २ श्लो-३

२१ - प्री. बुद्धिस्टक इन्ड. फिल. पृष्ट ६ - "Prajapati Parmesthin seems to speak of philosophy as search carried on by poets within their heart for discovering in the light of their thought the relation of existing thiugs to the non-existent. (Rig. X. 192, 4 संसोबंधून असति)

२२ - ए हिस्ट्री ऑफ प्री.बुद्ध इन्ड. फिल. पृष्ठ १२ ।

२३ - पूर्व प्रमाण

२४ - पूर्व पृ. १२ ४ - पूर्व पृ. १.

२५ - Water was that One things brenthless, breathed by its own nature

२६ - पूर्व पृष्ठ १३ ।

२७ - जिनसहस्रनाम अ. ३ श्लोक ५ ।

२८ - ए हिस्ट्री पृ. १३ ।

२९ - पूर्व पृष्ठ १४

३० -पूर्व प्रमाण ।

३१ - पूर्वप्रमाण।

३२ - जैन ला परिशिष्ट २२४-२३५ ।

३३ - ए हिस्ट्री प्री.बुद्ध फि. पूर्व पृष्ठ २०३ ।

३४ - समयसार पृष्ठ २ ।

३५ - ए हिस्ट्री ऑफ प्री-बुद्धि इन्डं. फिला. पृष्ठ ३९ ।

३६ - उत्तर पुराण पृष्ठ १०० ।

३७ - पूर्व पृष्ठ ३५१-३६०।

३८ - ए हिस्ट्री ऑफ प्री-बुद्ध इन्डं. फिला. पृष्ठ ५१-९६

३९ - पूर्व पृष्ठ १११-१२३ ।

४० - ए हिस्ट्री ऑफ प्री-बुद्ध इन्डं. फिला. पृष्ठ १२४-१४२

४१ - पूर्व प्रमाण पृ. १४३-१५० ।

४२ - पूर्व पृ. १५१-१५२।

४३ - पूर्व पृ. १५३-१८० ।

४४ - पूर्व. पृ. १९३ ।

४५ - कल्पसूत्र पृ. ८३ ।

४६ - ए हिस्ट्री ऑफ प्री-बुद्ध इन्डं. फिला. पृ. २१३-२१७ ।

४७ - पूर्व पृ. २१०-२२५ ।
४८ - पूर्व. पृ. २४९ ।
४९ - पूर्व पृ. २४६ ।
५० - ए हिस्ट्री ऑफ प्री. बुद्ध इन्ड फिला. पृ. २४७ ।
५१ - बौद्धायन २।९।१६।६, विशिष्ट १७।५.
५२ - उत्तरायण पृष्ठ १००
५३ - पूर्व पृष्ठ ३३९-३५१ ।
५४ - पूर्व. पृ. २९२-३०० ।
५५ - पूर्व ०१ १०-३४०-३६४ ।

❑

वाराणसी और काशी नरेश महाराजा विश्वसेन

भरत खंड छह खंड समेत, धनुषाकार विराजत खेत ।
तामें सब सुख धर्म निवास, काशी देश कुशल जनवास ।।३१।।
गांव खेट पुर पट्टन जहां, धन-कन भरे बसै बहु तहां ।।
निवसें नागर जैनी लोय, दया धर्म पाले सब कोय ।।३२।।

पार्श्वपुराण ।

वाराणसी : ऐतिहासिक परिपेक्ष्य

काशी नाम से विख्यात यह महारमणीक देश है । ऊंचे पर्वत, सलिल सरितायें और कलकल निनादपूर्ण झरने वहां के दृश्य को बड़ा ही मनमोहक बना रहे थे । उसके मध्य के बड़े २ गहन वन पथिक जनों को भयभीत करनेवाले थे; परन्तु वही मुनिजनों के लिये ध्यान के अपूर्व स्थान थे वहां की गिरि कन्दरायें और नदी तट मुनि जनों के निवास से पवित्र बन चुके थे । साथ ही थोड़ी २ दूर के फासले पर स्थित ग्राम और नगर वैसे ही वहां शोभ रहे थे जैसे आकाश में तारा गण चमकते नजर आते हैं । उन नगरों और ग्रामों के बीच में जैन मंदिरों की उन्नत शिखरें ध्वजादि सहित दूर से ही दिखती ऐसी मालूम पड़ती थीं मानों वे भव्य जनों की त्रिलोक वन्दनीय वीतराग भगवान के पूजन भजन करने के लिये आह्वानकर्ता ही हों । प्रजा जन भी वहां के बड़े ही दयालु सद्धर्मरत और व्यसनों से विरक्त थे । वह नियमित रीति से अपने धर्म का पालन करते थे और सुमति से रहते थे । इसी कारण उनमें धन-सम्पत्ति की प्रचुरता थी । उनका गोधन अपूर्व था । श्रावक जन सब ही प्रकार अपने धर्म कार्यों में व्यस्त थे । उनकी भव्यता ऐसी थी कि अमरेश भी वहां जन्म लेने की तृष्णा भरे नेत्रों से विकल होते थे ।[1]

वस्तुत: यह देश इस भरतवर्ष में ही था और यह आज से करीब पौने तीन हजार वर्ष पहले 'काशी देश' के नाम से विख्यात था । इसकी राजधानी वाराणसी नगरी थी; जो बहुत ही प्राचीन काल से भारतीय इतिहास में प्रख्यात रही है । जैन शास्त्रों में इस समय इसे बड़ा ही भव्य नगर बतलाया गया है । उसकी समानता का और कोई नगर उस समय धरातल पर नहीं था । वह तेईसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ का अपूर्व जन्मस्थान था । उसके देखते साथ ही मनुष्यों की तो बात क्या स्वर्गलोक के देवों के मन भी मोहित हो जाते थे । वह प्राचीन काल से ही यह देश तीर्थराज के रूप में तब भी प्रसिद्धि पा चुका था ।[१] पार्श्वनाथ के बहुत पहले हुये सप्तम् तीर्थंकर श्री सुपार्श्वनाथ तथा इसकी समीपवर्ती नगरी इन्द्रपुरी मे अष्टम तीर्थंकर चन्द्रप्रभु एवं सिंहपुरी सारनाथ में ग्यारहवें तीर्थंकर श्रेयांसनाथ भी इस नगरी को पहले ही अपने जन्म से पवित्र कर चुके थे ।[२] इनसे भी पहले यहा धर्म का शांतिदायक प्रकाश फैल चुका था ।

यही नहीं इस नगर का जन्म ही स्वयं प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव की आज्ञा से हुआ था और यहां के सर्व प्रथम राजा अकंपन नामक इक्ष्वाकुवंशीय महान् क्षत्री थे,[३/४] यह जैन धर्म की मान्यता है, और इस पवित्र तीर्थराज का विशद वर्णन जैन शास्त्रों में काफी मिलता है । भगवान पार्श्वनाथ के समय इसकी विशालता प्रकट करने को जैन कवियों के पास पर्याप्त शब्द ही नहीं थे । उनको यही कहना पड़ा था कि :-

''शोभा जाकी कही न जाय, नाम लेख रसना शुचि थाय।''

आज का बनारस ही यह पवित्र धाम है । आज भी उसकी जी प्रख्याति है वह उसके पूर्व गौरव की प्रत्यक्ष साक्षी है ।

जैन शास्त्रों में कहा गया है कि इस अवसर्पिणी काल के तीन काल जब गुजर चुके थे और चौथा प्रारम्भ हुआ ही था तब वहां पर सभ्यता की सृष्टि भगवान ऋषभदेव द्वारा हुई थी । ऋषभदेव के पहले तीन काल में यहां भोग भूमि की प्रवृत्ति थी जिस में युगल दम्पति के उत्पन्न होते ही उनके माता-पिता देहावसान कर जाते थे और वे दम्पति युवावस्था को प्राप्त होकर उस समय के अलौकिक कल्पवृक्षों से भोगोपभोग की मनमानी सामग्री प्राप्त करके सांसारिक आनन्द में मग्न रहते थे । उनको आजीविका आदि की कुछ भी फिकर नहीं थी, परन्तु ज्यों समय बीतता गया त्यों २ उन कल्पवृक्षों का ह्रास होता गया और अन्ततः ऋषभदेव के समय में ऐसा अवसर आ गया कि लोगों को परिश्रम करके अपने पुरुषार्थ के बल जीवन यापन करने के लिये मजबूर होना पड़ा । इसी समय ऋषभदेव ने सब प्रकार के असि, मसि, कृषि आदि कर्म जनता को सिखाये थे और उनके वर्णादि स्थापित करके दैनिक जीवन शांतिमय व्यतीत करने के उपाय बतलाये थे और इसी समय इन्हीं विधाता ऋषभदेव की आज्ञा से इंद्र ने विविध देशों पर्व नगरों की रचना की थी ।

जैन धर्म में काल के उत्सर्प्पिणी और अवसर्पिणी दो भेद करके इनमें प्रत्येक को छह कालों में विभक्त किया है । उत्सर्पिणी काल में प्रत्येक वस्तु की क्रमशः उन्नति होती जाती है और अवसर्पिणी में ह्रास होते-होते एकदम सबकी हानि हो जाती है । अवसर्पिणी के छट्ठे काल के अन्त में एक प्रलय सी उपस्थित होती है, जिस में कतिपय बड़े भाग्यवान जीव ही गिरि कंदराओं में छिपकर अपने प्राण बचा लेते हैं । यही लोग उत्सर्पिणी के छठे काल के प्रारम्भ होने पर गुप्त स्थानों से निकल कर संसार क्रम प्रारम्भ करते हैं । उत्सर्पिणी के कालों की गिनती अवसर्पिणी से बरअक्स छठे काल से प्रारम्भ

होती है । इस प्रकार के क्रम से इस संसार का अनादि निधनपना जैन शास्त्रों में निर्दिष्ट किया गया है ।[५]

भगवान पार्श्वनाथ इस अवसर्पिणी के चौथे काल के अंतिम समय में हुये थे । आज कल इसी का पंचमकाल जो दु:खकर पूर्ण है व्यतीत हो रहा है । इसी अवसर्पिणी के अथवा कर्म युग के प्रारंभिक दिनों में काशी और वाराणसी की सृष्टि हुई थी । आज वाराणसी और काशी केवल बनारस नगर के ही नाम है; परन्तु प्राचीन काल में काशी एक प्रख्यात् जनपद था और वाराणसी उसकी राजधानी थी ।

पाणिनि के व्याकरण के अनुसार 'वर' और 'अनस' शब्द से वाराणसी की उत्पत्ति हुई बतलाई जाती है । अर्थात् वर माने सर्वोत्तम और अनस माने पानी; जिसका सम्बंध बनारस का गंगा नट पर अवस्थित होना है । कुछ लोग इस नाम को 'वरुण' और 'असि' नामक दो नदियों (झरनों) के बीच में इस नगरी के बसे होने के कारण इक वाराणसी नामकरण निर्णीत करते हैं । ग्रीक (यूनानी) लोगों को भी बनारस का किंचित् परिचय था । उनका प्रसिद्ध भूगोलवेत्ता टोलमी (Ptolemy) काशी को 'कस्सिद्धिया' (Cassidia) नाम से उल्लेख करता है । उनके अनुसार पहले काशी की राजधानी भी इसी नाम की थी। उपरान्त प्राचीन काशी नगर का विध्वंश जब बच्छू लोगों (Baeehus) द्वारा हो गया था, जैसे कि ड्योनिसियस पेरीगेटस (Dionvsius Periegetes) बतलाता है, तब प्राचीन नगर के ध्वंशावशेषों से किंचित हटकर वाराणसी बसाई गई थी । ग्रीक लोग वाराणस को 'ओरनिस' (Aornis) अथवा 'अवरनस' (Avernas) नाम से परिचित करते हैं । मुगल लोगों ने इसी का नाम बनारस रखा था ।[६]

वैदिकों के 'शङ्करप्रादुर्भाव' में वाराणसी के राजा दिवोदास का उल्लेख है। उसमें कहा गया है कि 'पद्मकल्प' नामक काल के मध्य समय में ऐसा अकाल पड़ा कि संसार के अधिकांश मनुष्य अपने प्राणों से हाथ धो बैठे । यहां तक कि स्वयं ब्रह्मा को इस तबाही पर बड़ा दु:ख हुआ । उस समय रिपुञ्जय नामक राजा कुश द्वीप के पश्चिम भाग में राज्य करता था । उससे भी अपनी प्रजाकी दुर्दशा देखी न गई और वह अपने शेष दिन व्यतीत करने के लिये काशी में आ गया । ब्रह्मा ने रिपुञ्जय को सारे संसार का राज्य दे दिया और काशी उसकी राजधानी बना दी तथापि उसे इधर उधर भटकती फिरती त्रसित मनुष्य जाति को एकत्रित करने और उसको उचित स्थानों पर बसाने की आज्ञा दी । साथ ही उसका नाम दिवोदास रख दिया । राजा इस उत्तरदायित्व को स्वीकार करने में पहले तो आना कानी करने लगा, पर इन शर्तों पर उसने यह भार ग्रहण कर लिया कि जो भी प्रसिद्धि उसे प्राप्त हो वह ठेठ उसी की हो और कोई भी देवता उसकी राजधानी में न रहने पावे । हठात् ब्रह्मा ने यह शर्तें मजूर कर ली; और स्वयं महादेव अपने प्रिय स्थान काशी को छोड़कर गंगा के मुहाने पर मंदार गिरी ऊपर जा बिराजे । दिवोदास का राज्य विशेष बल पूर्वक प्रारम्भ हुआ, जिससे देवताओं के भी कान खड़े हो गए । इसने सूर्य और चन्द्र को सिंहासन च्युतकर दिया और अन्यों का उनके स्थानपर नियत किया । साथ ही एक अग्नि का किला भी बनाया परन्तु काशी की प्रजा उसके पुण्यमयी राज्य बड़ी सुखी थी । देवता ही उसके ईर्षालु थे और महादेव अपने प्रिय स्थान को लौटने की लिए छटपटा रहे थे । उन्होंने देवताओं को राजा देवीदास को डिगाने के लिए उकसाया । चौसंठ योगिनी और बारह आदित्य इस प्रयास में असफल हुये । आखिर महादेव के भेजे गणेशजी एक ज्योतिषि के स्वरूप में आए ।

वैनायिकियों की सहायता से उन्होंने काशी की प्रजा की रुचि बदलना प्रारम्भ की और उनको होनेवाले तीन अवतार के लिए तैयार किया ।

पहले ही विष्णु 'जिन' के स्वरूप में आये, जिन्होंने वेदों में बताए हुए यज्ञों, प्रार्थनाओं, तीर्थयात्रा और क्रियाकांडों का विरोध किया और बतलाया कि सत्य धर्म किसी जीवित प्राणी को न मारने में ही है । इनकी सहगामिनी (consort) जयादेवी ने इस नये धर्म का प्रचार अपनी जाति में किया । काशी के निवासी संशय में पड़ गये । इनके बाद महादेव अर्हन् या महिमन के रूप में अपनी पत्नी, महामान्य के साथ आए । महामान्य के अनेकों पुरुष स्त्री सेवक थे। इन्होंने 'जिन' प्रणीत सिद्धांतों का समर्थन किया और अपने को ब्रह्मा और विष्णु से बढ़ चढ़कर बतलाया । स्वयं 'जिन' ने यह बात स्वीकार की । फिर दोनों ने ही मिलकर सारे संसार का भ्रमण और अपने सिद्धातों को फैलाने का उद्योग किया । आखिर को ब्रह्मा से भी न रहा गया और वह 'बुद्ध' के रूप में आ अवतीर्ण हुए । इनकी सहगामिनी 'विज्ञ' थी । इन्होंने भी अपने पूर्व के दो अवतारों के अनुसार उपदेश दिया और ब्राह्मण की स्थिति से राजाको बरगलाना शुरू कर दिया । दिवोदास ने बड़ी रुचि से इनका उपदेश सुना । परिणामत: उसे अपने राज्य से हाथ धोने पड़े । महादेव खुशी २ काशी लौट आए । दिवोदास ने गोमती के किनारे एक दूसरा नगर बसाया । महादेवजीने काशी के लोगों को समझाने के प्रयत्न किये, परन्तु सब वृथा ही । इसलिए उन्होंने 'शङ्कराचार्य' का रूप धारण किया और लोगों को वेद समझाना शुरू किये । इन्होंने जैनों के मंदिर का विध्वंश किया उनके शास्त्रों को जलाया और उन सब को तलवार के घाट उतारा जो इनके मार्ग में आड़े जाए ।[६]

इस तरह यह ब्राह्मणों की गढ़ी हुई राजा दिवोदासकी कथा है । यद्यपि यह एक कथा ही है, पर इसका आधार ऐतिहासिक सत्य होना संभवित है । हमें मालूम है की जैन धर्म के तेइसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ की ही आजकल बहुत से लोग जैनधर्म का संस्थापक ख्याल करते हैं; परन्तु वास्तव में जैन धर्म का अस्तित्व इनसे भी पहले प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के समय से प्रमाणित हुआ है, यह प्रकट है । उपरोक्त कथा में भी कुछ ऐसा ही प्रयत्न किया गया मालूम होता है । ब्राह्मण ग्रन्थकार भगवान पार्श्वनाथ, महावीर स्वामी और महात्मा बुद्ध का वर्णन यहां एक साथ करते प्रतीत होते हैं और आपसी द्वेष के कारण जैन धर्म का संस्थापक ख्याल करते है; परन्तु वास्तव में जैन धर्म का अस्तित्व इनसे भी पहले प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के समय से प्रमाणित हुआ है, यह प्रकट है । उपरोक्त कथा में भी कुछ ऐसा ही प्रयत्न किया गया मालूम होता है । ब्राह्मण ग्रन्थकार भगवान पार्श्वनाथ, महावीर स्वामी और महात्मा बुद्धका वर्णन यहां एक साथ करते प्रतीत होते हैं और आपसी द्वेष के कारण जैन धर्म के प्राचीन इतिहास का उल्लेख करना भी आवश्यक नहीं समझते हैं । साथ ही वह जैन धर्म और बौद्ध धर्म को एक ही बतलाते हैं । इसका कारण इन दोनों का अहिंसामयी और समता मूलक उपदेश का प्रचार ही कहा जा सकता है; यद्यपि जैन धर्म और बौद्ध धर्म दोनों ही अलग अलग धर्म है ।[९]

ब्राह्मण कथाकार का अभिप्राय 'जिन' शब्द से भगवान पार्श्वनाथ से ही है[१०] यह इसी से प्रकट है कि वह उनके जन्म स्थान बनारस को उन्होंने अपनी कथा का मुख्य स्थान बतलाता है तथापि जिन और अर्हन् का मिलकर संसार में उपदेश देने का उल्लेख भी इसी भाव का समर्थक है, क्योंकि भगवान

पार्श्वनाथ और महावीर स्वामी का धर्म कहीं अलग अलग नहीं रहा । कतिपय विद्वान् तो भगवान पार्श्वनाथ के मुख्य शिष्यों का महावीर स्वामी के संघ में सम्मिलित होना, स्पष्ट उल्लेखों के द्वारा बतलाते हैं ।[११] वस्तुत: यह है भी ठीक, क्योंकि एक तीर्थंकर के निर्वाण उपरान्त दूसरे तीर्थंकर के उत्पन्न होने तक पहले के तीर्थंकर का शासन काल जैन शास्त्रों में बतलाया गया है । इसके उपरान्त नये तीर्थंकर का शासन काल व्याप्त हो जाता है और पूर्व तीर्थंकर के अनुयायी नये तीर्थंकर की शरण में स्वभावत: पहुंचते हैं । उदाहरण रूप में भगवान महावीर के पहले तक भगवान पार्श्वनाथ का शासन चल रहा था, परन्तु महावीर स्वामी के तीर्थंकर होने पर उनका शासन चल निकला । तीर्थंकरों के उपदेश में भी कोई अन्तर प्राय: नहीं होता है ।

इसी कारण पूर्वागामी तीर्थंकर के अनुयायी नवीन तीर्थंकर की शरण में आते जरा भी नहीं हिचकते हैं; प्रत्युत वह तो बड़ी भारी उत्सुकता से नवीन तीर्थंकर के आगमन की वाट जोहते हैं, क्योंकि पहले के तीर्थंकर की दिव्यध्वनि से वह आगामी होने वाले तीर्थंकर का विवरण जान लेते हैं । अतएव इसी अपेक्षा ब्राह्मण कथाकार उपरोक्त उल्लेख करता है तथा कहता है कि अर्हन् ने भी वैसा ही उपदेश दिया था । भगवान महावीर का शासन उनके समय से चला आ रहा है और इनके अनुयायियोंको ब्राह्मणों ने 'आर्हत' नाम से निर्दिष्ट किया है[१२], यह भी स्पष्ट है, इस अपेक्षा अर्हत् से अभिप्राय उक्त कथा में भगवान महावीर से ही है बुद्ध शब्द का व्यवहार वह महात्मा बुद्ध को लक्ष्य करके करता प्रतीत होता है, यही कारण है कि वह उनको भी जिन और अर्हन् के साथ संसार भर में भ्रमण करता और उपदेश देता नहीं बतलाता है । यहां वह बिल्कुल ही ऐतिहासिक वार्ता कह रहा है, क्योंकि हमें मालूम है कि बौद्ध

धर्म का विकाश भारत के बाहर सम्राट अशोक के पहले नहीं हुआ था । 'अर्हत्' को ब्राह्मण कथाकार 'महिमन्' या 'महामान्य' नाम से उल्लिखित करता है । 'जिनसहस्रनाम' में हमें एक ऐसा ही नाम तीर्थंकर भगवान का मिल जाता है ।[१३]

इस कारण हम इस शब्द को भी जैन तीर्थंकर के लिये व्यवहृत हुआ पाते हैं । सहगामिनी जो उक्त कथा में बतलाई गई हैं वह तीर्थंकरों की शासन देवता है; क्योंकि नागोद राज्य के पटैनी देवी के जैन मदिर में जो जैन देवियों की मूर्तियां और उनके नाम लिखे है उनमें जया और महामनुसी नामक देवियां भी हैं। (देखो मध्यभारत प्राचीन जैन स्मारक पृ. १२३) ब्राह्मण कथाकार भी जया और महामान्य को जैन तीर्थंकारों की सहगामिनी बतलाता है । अस्तु; उपरान्त जो जैन धर्म का विशेष प्रकाश होने पर उसका नाश शङ्कराचार्य द्वारा होते बतलाया गया है, वह भी ऐतिहासिक सत्य है । इस तरह ब्राह्मणों के बनारस अधिपति दविदास का वर्णन है, जिसका सम्बन्ध भगवान पार्श्वनाथ से प्रकट होता है । उससे भी भगवान का जन्म स्थान बनारस सिद्ध होता है और यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उस समय वह अवश्य ही संसार भर में सर्वात्तम नगर था कि ब्रह्मा ने उसे ही संसार भर के राज्य की राजधानी नियत की, तथापि यह भी प्रकट है वहां से ब्राह्मण धर्म का प्रभुत्व हट गया था और जैन धर्म की प्रधानता थी ।

सचमुच ब्राह्मण काल में उत्तर भारत के कुरु, पाञ्चाल, कौशल, काशी और विदेह ही विख्यात् राज्य थे । इनमें से कुरु और पाञ्चालों की तथा दूसरी और कौशल, काशी और विदेहों की आपस में मित्रता थी । कुरु पाञ्चालों और शेष तीनों राज्यों का पारम्परिक सम्बन्ध कटुता लिए था ।[१४] उपारन्त बौद्ध

काल में काशी वज्जियन संघ में सम्मिलित थी, यह बात हमें 'कल्पसूत्र' के कथन से विदित होती है । उसमें कहा गया है कि जिस रात को भगवान महावीर निर्वाण लाभ कर सिद्ध बुद्ध मुक्त हुए उस रात्रि को काशी कौशल के अठारह संयुक्त राजा, नौ लिच्छवि, और नौ मल्लिकों ने अमावस के रोज दीपोत्सव मनाया था ।[१५]

बौद्धों का सम्बन्ध भी बनारस से बहुत कुछ रहा है । उनके शास्त्रों में भी इसका वर्णन खूब मिलता है । स्वयं महात्मा बुद्ध ने बौद्ध धर्म का नींवारोपण यहीं से किया था । सम्बुद्ध होने पर वह सीधे यहां आये थे, और यहां पर जो उनके पहले साथी तपस्या कर रहे थे उनको अपने मत में दीक्षित किया था ।[१६] यह घटना भगवान पार्श्वनाथ के निर्वाण होने के उपरांत की है । वैसे इससे पहले के भी उल्लेख बौद्ध शास्त्रों में है; जहां वे महात्मा बुद्ध के पूर्व भवों का जिक्र करते हुये बनारस का सम्बन्ध प्रगट करते हैं । शाक्य वंश की उत्पत्ति में भी काशी का सम्बन्ध करके 'महावस्तु' नामक शास्त्र में बतलाया गया है,[१७] तथापि कोल्यिवंश के विषय में भी ऐसा ही उल्लेख उनेक शास्त्रों में है । 'सुमंगलाविलासिनी' (पृ. २६०२६२) में लिखा हुआ है कि राजा ओक्काक की बड़ी पुत्री को कुष्ठ रोग हो गया । उसके भाई इस संक्रामक रोग से भयभीत हुये। उन्होंने अपनी बहिन को ले जाकर एक गहन वन में कैद कर दिया । उधर बनारस के राजा राम को भी कुष्टरोग हो गया । वह घर को छोड़कर उसी वन में भटकने लगा । अकस्मात् वन वृक्षों के फल खाने से उसका रोग नष्ट हो गया । इसी बीच में उसने ओक्काककी पुत्री को पा लिया । उसे भी उसने उस वनवृक्ष के फल खिलाकर अच्छा कर लिया और उसको अपनी पत्नी बना लिया । राजा ने उसी वन में एक कोल वृक्ष को हटाकर नगर बसा लिया और उसी में रहने

लगा । अन्ततः वह नगर कोलनगर कहलाने लगा और उसकी सन्तान 'कोल्यि' नाम से प्रसिद्ध हुई ।[१८]

परन्तु बौद्धों के 'महावस्तु ग्रन्थ में इससे विभिन्न एक अन्य कथा इस वंश की उत्पत्ति में दो हुई हैं ।[१८] अस्तुः इतना प्रगट है कि काशी में भी कोई राम नामक राजा हो चुके हैं । जैनियों के उत्तरपुराण में राजा दशरथ के पुत्र रामचंद्र के विषय में कहा गया है कि वे काशी में राजा दशरथ की आज्ञा लेकर राज्य करने लगे थे।[२०] संभव है इन्हीं को लक्ष्य कर बौद्धों ने उक्त कथा रची हो ।

बौद्धों की जातक कथाओं में एक राजा ब्रह्मदत्त का विशेष वर्णन मिलता है और उनकी राजधानी वहां बनारस बताई गई है, जैसे कि 'पलाई जातक' मैं उल्लेख है ।[२१] इसमें बनारस के राजा ब्रह्मदत्त बतलाये है और बोधिसत्त (बुद्ध का पूर्वभवी जीव) तक्षशिला के राजा कहे गये हैं । इनका आपस में युद्ध होते होते बच गया था: किन्तु 'कोसियजातक' में बनारस के राजा तो ब्रह्मदत्त ही बताये हैं, पर बोधिसत्त को एक ब्राह्मण पुत्र बतलाया है, जो तक्षशिला से वेदादि पढ़कर बनारस में एक प्रख्यात् पंडित हो गया था ।[२२] इसके साथ ही 'दुम्मेधजातक' में स्वयं बनारस के राजा ब्रह्मदत्त की पट्टरानी के गर्भ से बोधिसत्त का जन्म होना लिखा है और उसका नाम ब्रह्मदत्तकुमार बतलाया है।[२३] फिर 'असदिस जातक' में बोधिसत्त को बनारस के राजा असदिसका पुत्र बतलाया गया है और इनके भाई ब्रह्मदत्त कहे गये है ।[२४] इन विभिन्न कथनों को देखते हुये स्पष्टतः नहीं कहा जा सकता है कि किन राजा ब्रह्मदत्त का उल्लेख किया जा रहा है और क्या सचमुच उनकी राजधानी बनारस ही थी ? जैन शास्त्रों में 'ब्रह्मदत्त' नामक अंतिम चक्रवर्ती सम्राट् भगवान पार्श्वनाथ से किञ्चित पहले हुये बतलाये गये हैं; तथापि वह कपिल के राजा ब्रह्मा के पुत्र

कहे गये हैं ।[२५] उपरोक्त 'दुम्मेध जातक' में भी ब्रह्मदत्त राजा के ब्रह्मदत्त कुमारका जन्म होना लिखा है । संभव है कि जैन शास्त्र के ब्रह्मदत्त को लक्ष्य करके ही उक्त कथन हो ।

इसके साथ ही बौद्धों की कथाओं से यह भी प्रगट होता है कि काशी और कौशल देशों में पारस्परिक मनमुटाव भी चला आ रहा था । कभी काशी की विजय हो जाती थी तो कभी कौशल की ! संभवत: इसी कारण वैदिक साहित्य में 'काशी-कौशल' का एकत्रित उल्लेख कई बार मिलता है ।[२६] एक जातक में कहा गया है कि एकदा बनारस के राजा ने कौशल पर चढ़ाई कर दी और कौशल के राजा को मारकर वह उसकी रानी को अपनी स्त्री बनाने के लिये ले आया, पर कौशल का युवराज किसी तरह बच गया । उसने कलांतर में काशीपर धावा कर दिया । अपनी माता के गुप्त आदेश से वह काशी का घेरा ढालकर बैठ गया । परिणामत: काशीकी प्रजा घबड़ा गई । उसने राजा को प्राण रहित कर दिया और युवराज को राजा बना लिया ।[२७] ऐसे ही एक दूसरे जातक में लिखा है कि बनारस के राजा के एक मंत्री ने अन्त:पुर में कोई अनुचित कार्य किया जिसके कारण राजा ने उसे राज्य बाह्य कर दिया । वह कौशल पहुंचा और वहां के राजा को काशी पर चढ़ा लाया, पर अन्तत: कौशल के राजा ने इनसे क्षमा याचना की और जो राज्य ले लिया था वह वापिस दिया, तथापि मंत्री को काशीराज के सुपुर्द कर दिया ।[२८]

इसी तरह एक अन्य जातक में कौशल के राजा दब्बसेन द्वारा काशी के एक राजा के पकड़े जाने का उल्लेख है । दब्बसेन ने राजा को हथकड़ी बेड़ी डलवा कैद कर दिया था, परन्तु वह अपने ध्यान के बल ऊपर आकाश में बैठे नजर आए । यह देखकर दब्बसेन ने उनसे क्षमा प्रार्थना की और उनका राज्य

उन्हें वापिस दे दिया ।[२९] एक दूसरे जातक में लिखा है कि कौशल के राजकुमार दीघायु ने काशी के राजा को बन में सोता पाकर पकड़ लिया । इस राजा ने यद्यपि दीघायु के माता-पिता को तलवार के घाट उतारा था, पर इसने उसको मारा नहीं; प्रत्युत जरा ही धमकाकर उसे मुक्त कर दिया । इसपर राजाने उसे अपनी पुत्री परणा दी और उसका राज्य उसे वापस दे दिया ।[३०]

सारांशत: इन जातक कथाओं से काशी-कौशल का पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट प्रगट है । जैन शास्त्र के इस कथन से कि रामचन्द्रजी कौशलाधीश दशरथ की आज्ञा से काशी में राज्य करने लगे थे, यह स्पष्ट हो जाता है कि अवश्य ही एक समय काशी पर कौशल का अधिकार था ।[३१] फिर प्रथम तीर्थंकर *ऋषभनाथजी के तीर्थकाल में भी काशी कौशलाधिपति सम्राट भारत के* आधीन थी,[३२] परन्तु भगवान पार्श्वनाथ के समय में इनमें आपस में मित्रता थी और वे स्वतंत्र थे, यह प्रकट होता है; क्योंकि अयोध्या के राजा जयसेन का पार्श्व भगवान को मित्रवत भेंट भेजने का उल्लेख जैन शास्त्रों में मिलता है ।[३३] इस प्रकार काशी और कौशल का पारस्परिक सम्बन्ध उस जमाने में था ।

काशी के योद्धा बड़े वीर और बलवान होते थे यह 'सतपथ ब्राह्मण' के एक कथन से प्रमाणित है । वहां राजा जनक के दरबार में याज्ञवल्क्य एवं अन्य ऋषियों के मध्यवर्ती संवाद में गार्गी यह कहती है कि मैं उसी तरह केवल दो प्रश्न पूछूंगी जिस तरह काशी अथवा विदेहों के योद्धा अपने तरकस को संभालते हुए धनष पर शत्रु भेदी दुफला बाण चढ़ाकर संग्राम के लिये उद्यमी होते हैं ।[३४] इन वीर योद्धाओं से परिपूर्ण काशी का राज्य भगवान पार्श्वनाथ के समय अवश्य ही विशेष प्रख्यात था । मद्रदेस (पंजाब) के मद्रवंशीय क्षत्रियों से भी इस राज्यका प्राचीन सम्बन्ध था[३५] और नागवंशी राजा भी यहां के राजा को

अपने नाग भवन में बड़े आदर से ले गये थे ।[३६]

भगवान पार्श्वनाथ के समय काशी और उसकी राजधानी वाराणसी बहुत ही विख्यात थे, यह हम देख चुके हैं । वारणसी में बड़े २ ऊंचे भव्य जैन मंदिर और सुन्दर कई कई खन्ड के राजमहल अपूर्व शोभा देते थे[३७] । वहां के बाजार सर्व प्रकार की वस्तुओं से परिपूर्ण थे । जौहरी लोग करोड़ो रुपयों का व्यापर प्रतिदिवस किया करते थे । स्त्री और पुरुष भी बड़े ही शिष्ट और धर्मवत्सल थे। इसी कारण वहां हर कोई सुखी सुखी कालयापन करता था । किसी को सहसा यही नहीं मालूम होता था कि संसार में दु:ख भी कोई वस्तु है । उन लोगों के पुण्य-प्रभाव से नगर भी खूब उन्नति को प्राप्त था और राजा भी उन्हें न्याय निपुण, बुद्धिमान और प्रजा हितैषी मिल गये थे । धर्म के साम्राज्य में भला कमी किस बात की रह सकती है । वहां तो स्वयं त्रिलोक पूज्य तीर्थंकर भगवान का शुभागमन हुआ था । क्षेत्र के भाग्य खुल गये थे । उसका नाम दुनिया के कोने कोने में फैल गया था । सो भी तब ही के लिये नहीं बल्कि अनन्तकाल के लिये । आज भी भारतीय काशीधाम का नामोच्चारण करके अपने को धन्य समझते हैं ।

ईसवी सन् ६२९ और ६४४ के मध्यवर्ती समय में इस देश का पर्यटन करने ह्यूनत्सांग नामक एक चीन देश का यात्री आया था । सारे भारत का उसने परिभ्रमण किया था और पवित्र काशीराज के भी उसने दर्शन किये थे । इस पावन-स्थान को उसने उस समय तीन मील लम्बा और एक मील चौड़ा गंगा के पश्चिम तट पर स्थित बतलाया था ।[३८]

काशी नरेश महाराजा विश्वसेन

इस मध्य नगर में उस समय महाराजा विश्वसेन राज्य करते थे । कुछ शास्त्रों में इनका नाम महाराजा अश्वसेन भी मिलता है । यह इच्क्ष्वाक वंशीय काश्यप गोत्री महान् क्षत्री थे । बड़े ही धीरवीर और गंभीर प्रजापालक नृप थे । बलवान, सुंदर सौम्य शरीर के धारक दूसरे कामदेव ही जान पड़ते थे । जैनाचार्य इनके विषय में कहते हैं कि :-

तत्पतिर्विश्वसेनाख्योख्योप्यभूद्विश्वगुणैकभूः
काश्यपाख्यसुगोत्रस्थ इक्ष्वाकुवंशखां शुमान् ।।३६ ।।

संशशी चकलाधारस्तेजस्वी भानुमानिव ।
प्रभुरिंद्रइवाभीष्टः फलं कल्पशाखिवत् ।।३७ ।।

जिनेन्द्रपादसंसक्तो गुरुसेवापरायणः ।
धर्म्माधार सदाचारी रुपेण जितमन्मथः ।।३८ ।।

दात्ताभोक्ता विचारज्ञो नीतिमार्गप्रावर्तकः
गुणी प्रजाप्रियो दक्षः ज्ञानत्रयविभूषितः ।।३९ ।।[३९]

वहां के राजा विश्वसेन सचमुच चंद्रमा के समान कलाधर थे और उनका तेज सूर्य के समान था । वह कल्प वृक्षों की तरह सब को संतृष्ट करनेवाले थे । जिनेन्द्र भगवान के चरण-कमलों में परम आसक्त थे । भगवान नेमिनाथ के पवित्र तीर्थ में विचरते हुये सर्व हितैषी, तिलतुषमात्र परिग्रह रहित परम विवेकी निर्गंथ गुरुओं की वह सदा सेवा किया करते थे । मुनिराजों को विधिपूर्वक पड़गाह कर भक्ति से गदगद होकर वह राजा पुण्य के द्वारा आहार दान को दिया करते थे । उन सद्‌गरूओं के वचनामृत का पान तृषित चातक की भांति वह

नित्य ही करते था । धर्माचरण और सदाचार के पालन में वह कोई कोर कसर उठा न रखते थे । कामदेव को लजानेवाले रूप को धारण किये हुये वह दान देने के लिये दाता थे । भोगोपभोगकी सामग्री का उपभोग करने के लिये भोक्ता थे और राज्य रक्षा का समुचित प्रबंध करेने के लिये विचारज्ञ थे । फिर भला ऐसे धर्मवत्सल नृप का प्रवर्तन नीति मार्ग में होना स्वाभाविक ही था । वह गुणी था- प्रजाप्रिय था और पूर्ण दक्ष था । और तो और मति, श्रुति और अवधि इन तीन ज्ञानों से विभूषित था । इसलिये वह साधारण मनुष्यों से कुछ विशेष था ।

इन प्रजा वत्सल महाराज विश्वसेन की पट्टरानी का नाम ब्रह्मदत्ता था । कहीं कहीं महारानी का नाम वामा देवी भी मिलता है । वह महीपालपुर के राजा महीपाल की पुत्री थी । जैसे ही राजा विश्वसेन रूप और गुणों में अद्वितीय थे वैसी ही वह उनकी प्रिय अर्द्धांगिनी थीं । उनको पाकर राजा के निकट 'सोने में सुगंधि' की उक्ति चरितार्थ हुई थी । वह रानी महा शीलवान और गुणों की खान थी । जिस तरह वह अपने सौन्दर्य में एक थी वैसे ही वह विद्या और कलाओं में परम प्रवीण थी । नृप विश्वसेन के चंचल मन को वह अपने रूप और गुणों से स्थिर करने में चतुर थी । उनकी महिमा का वर्णन जैन कवि के निम्न पद्यों द्वारा करना ही पर्याप्त है :-

''नखसिख सहज सुहागिनि नार, तीन लोक तियतिलक सिंगार ।
सकल सुलच्छन मंडित देह, भाषा मधुर भारती येह ।।
रंभा रति जिस आगे दीन, गेहिनिरूप लगे छवि छीन ।
इन्द्र वधू इमि दीसै सोय, रविदुति आगे दीपक लोय ।।
जनम हरष बढ़ावन एम, कार्तिक-चन्द्र-चंद्रिका जेम ।
सकल सार गुनमनिकी खानि, सीलसम्पदाकी निधि जानि ।।

सज्जनताकी अवधि अनूप, कला सुबुधिकी सीमारूप ।
नाम लेत अब तजै समीप, महा-पुरुष-मुक्ताफल-सीप ।।
त्रिभुवननाथ रत्नकी मही, बुधिबल महिमा जाय न कही ।
बहुविध दम्पति संपति जोग, करैं पुनीत पुन्य फल भोग ।।''[४०]

इन ललना-ललाम महाराणी ब्रह्मदत्ता की संगति में महाराज विश्वसेन आनन्द से काल यापन कर रहे थे । समुचित रीति से प्रजा का पालन करते थे और धर्माचरण एवं शास्त्र मनन द्वारा आत्म कल्याण करते थे । बनारस की प्रजा भी उनकी छत्र छाया में परम सुखी थी । श्रावकों के षडावश्यक कर्मों का उस नगर में खूब पालन होता था । अहिंसा धर्म का प्रभाव वहां चहुं ओर व्याप्त था। सोने के कलशों से मंडित अपूर्व कारीगरी के जिन मंदिरों में प्रतिदिवस आत्मरूप की सुध दिलानेवाली, चंचल मन को सर्वत्र भगवान के गुणों में अनुरक्त करने वाली एवं महापुरुषों की नीतिकृतज्ञता ज्ञापनकी मर्यादा को बतलाने वाली स्वर्ग और मोक्ष का साक्षात् कारण जिन पूजा बड़े भक्ति भाव से होती थी । उस समय के बनारस का सलौना दृश्य सब का ही मन हरनेवाला था। सब ही वहां आनन्दमग्न रहते थे । धर्म के प्रियकर धवल आलोक में वहां किसी बात की बाधा नहीं थी । आज भी पुरातन वार्ता को प्रकट करने वाला एक जैन मंदिर भैलूपूरा में विद्यमान है । इस प्रकार बनारस और उसके राजा विश्वसेन के दिग्दर्शन करके हम कृतार्थ हो जाते हैं ।

सन्दर्भ

१ - 'पार्श्वपुराण' में यही कहा गया है, यथा: 'अपुनीत सब ही विध देस । जहां जनम चाहें अमरेश' इसके अतिरिक्त सकलकीर्ति आचार्य के 'पार्श्वचरित' में भी इसका विशद विवरण मिलता है । श्री चंद्रकीर्त्याचार्य प्रणीत 'पार्श्वचरित में इसका उल्लेख इन शब्दों में किया गया है :'-

'अथास्ति भारतं क्षेत्रं द्वीपे जम्बुद्रुमांकिते । गंगासिन्धुसुवैद्य तो पटषक्षीज्ञत भूतले ।।२।। तन्मध्ये विषयो वर्ष: काशाख्यो विषयार्पक: । जनानां च चकास्तिस्म बिडंवितसुरालय: ।।३।। यत्राजस्त्रं प्रमोदिन्यो निरीत्यवग्रहे वसत् । अज्ञपचसद्धान्ये प्रजा: स्वर्ग्रता इव ।। ४।। कुर्कुये त्यात सद्भ्रामै : कासैर्विक चौप्तलै: शस्यदै: सीमभिर्नित्यं यश्च कास्ति समंतत ।।५।। प्रत्यग कुसुर्मामौदैर्य: सदामोदयत्सलं, दिश: समंतत: ।।५।। कर्तुस्वभूवं सार्थकामिव ।।६।। विभ्राणै मर्हदुदंडापि छत्र विंसदा ।। यत्प्रदेशावभु पुगद्रुमैर्भू धाईवोन्नते ।।७।। सधर्माक्ष धरंत्यर्थ सततयै कामसेवनं । परलोका क्रियासक्ता यत्र निर्व्यसना जना: ।।८।। सदांगमेषु विभ्रामै: पथिका: स्फोटयितभ्रमा: । यत्राद्धान प्रभन्यंते गृहाजिर बिभेसदा ।।९।। इत्यादि

२ - बौद्धों ने भी बनारस को प्राचीन काल से ऋषियों का स्थान बतलाया था ।

३ - उत्तरपुराण पृष्ठ ५१०

४ - आदिपुराण पर्व १६/१२८-१६० व २४१ - २७५ ।

५ - आदिपुराण पर्व ३ श्लोक १४-२३९ पर्व ९३४-८८ ।

६ - बुद्धिस्ट इन्डिया पृष्ठ २३।

७ - एशियाटिक रिसर्चेज भाग ३ पृष्ठ १९२ ।

८ - एशियाटिक रिसर्चेज भाग ३ पृष्ठ १९१-१९४ ।

९ - देखो हमारा भगवान महावीर और म. बुद्ध नामक ग्रंथ ।

१० - आईने अकबरी जैन की वंशावली में हिन्दुओं के अनुसार 'जिन' का काल ईसा से पूर्व ९५० लिखा है और उन्हें ७७ या २५७ वर्ष जीवित रहा कहा है । (Asiatick Researches Vol IX.p. 209)इससे भी 'जिन' से भाव भगवान पार्श्वनाथजी का ही निकलता है, क्योंकि ईस्वी से पूर्व ९५० में उन्हीं का अस्तित्व प्रमाणित है ।

११ - जैन सूत्र (S B.E.) भूमिका, चैरपेन्टियरके उत्तराध्ययन सूत्र की भूमिका

१२ - ए. हिस्ट्री ऑफ प्री. इन्डि. फिला. पुष्ठ ३७७ ।

१३ - महामुर्नि महामौनी इत्यादि छठा अध्याय देखिये ।

१४ - पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन इन एनशियेन्ट इन्डिया पृ. ५४-५५

१५ - कल्पसूत्र (S.B.E Vol. XXII) पृ. २६६।

१६ - देखो 'भगवान महावीर और म. बुद्ध' पृ. ७७ ।

१७ - सम क्षत्रिय ट्राइब्स ऑप-एनशियेन्ट इन्डिया पृ. १७४-१७५ ।

१८ - पूर्व पुस्तक पृ. २०६ ।

१९ - पूर्व. पृ. २०७ ।

२० - उत्तरपुराण पृ. ३६९ ।

२१ - फॉसबेल, जातक, भाग २ पृ. २१७-२१८ ।

२२ - पूर्व. भाग १ पृ. ४६३ ।

२३ - पूर्व. भाग १ पृ. २८५ ।

२४ - पूर्व भाग २ पृ. ८७ ।

२५ - पद्मपुराण पृ. ३३२ ।

२६ - इन्डियन हिस्टॉरीकल क्वार्टरली भाग १ पृ. १५४ ।
२७ - कावेल, जातक, भाग १ पृ. २४३ ।
२८ - पूर्व. पृ. १२८-१३३ ।
२९ - जातक भाग ३ पृ. २०२ ।
३० - जातक भाग ३ पृ. १३९ - १४० ।
३१ - उत्तरपुराण पृ. ३६९ ।
३२ - आदिपुराण पर्व २६-३३ ।
३३ - पार्श्वपुराण (बंबई) पृ. ११४ ।
३४ - सम क्षत्रिय ट्राइब्स इन एशि. इन्डिया पृ. १३६ ।
३५ - पूर्व पुस्तक पृ. २२३ ।
३६ - पूर्व पृष्ठ २४१ ।
३७ - लाला लाजपतराय अपने 'भारतवर्ष के इतिहास' (भाग १ पृ. ११६) पर लिखते हैं कि ईसा से पूर्व ८०० से भारत में ७-८ खनके मकान बनने लगे थे ।
३८ - कर्निंघमं, जारारफी ऑफ ऐन्सियेण्ट इन्डिया 'नया' पृ. ४९९ ।
३९ - श्री सकलकीर्ति आचार्य विरचित 'पार्श्वचरित' सर्ग १० श्लो. ३६-३९
४० - कविवर भूधरदास कृत 'पार्श्वपुराण' पृ. ८३ ।

❑

भगवान पार्श्वनाथ के पूर्व भव

प्रथम भव

एक बार राजा अरविंद अपने राजपुरोहित मरुभूति के साथ युद्ध भूमि में गये हुए थे । तभी पापाचारी कमठ के जीव ने छोटे भाई मरुभूति की पत्नी के साथ दुराचार का प्रयत्न किया । युद्ध से लौटने के पश्चात् राजा को जब कमठ के दुराचरण का पता लगा तो उन्होंने कमठ का मुण्डन करके एवं काला मुख कराकर गधे पर बैठाकर नगर में घुमाया और देश से निकाल दिया । अपनी दुर्दशा के कारणवश कमठ के मन में यहीं से अपने भाई मरुभूति के प्रति तीव्र प्रतिशोध (बदले) की भावना का जन्म हुआ ।

इसके बाद दण्ड से खिन्न कमठ खोटे तापसियों के समूह में शिलोद्धरण नामक कृत्य करने वाला खोटा (मिथ्यावादी) तापस हो गया ।

मरुभूति ने जब अपने तापस भाई की यह अवस्था देखी, तो वह दु:खी हुआ एवं इस तापस भाई को समझाने गया । कमठ ने मरुभूति की सलाह मानना तो दूर रहा, अन्त में उल्टे छोटे भाई द्वारा प्रणाम करते समय मरुभूति के मस्तक पर शिला पटक दे, जिससे उनकी इहलीला समाप्त हो गई ।

द्वितीय भव

मरुभूति का जीव अगले भव में मलयदेश के कुब्जक नामक सल्लकी के विशाल वन में बज्रघोष नामक विशालकाय हाथी हुआ, जबकि वही कमठ का जीव अपने क्रूर परिणामों एवं अपने छोटे सज्जन भाई की हत्या के फलस्वरूप कुक्कुट जाति का 'सर्प' हुआ ।

इधर मलयदेश के राजा अरविन्द ने अपने मंत्री का मरण सुना तो उसे वैराग्य हो गया । वे मुनिपद धारणकर जंगल में तपस्या करने लगे । उसी वन में बज्रघोष हाथी मदमस्त हो घूम रहा था । यद्यपि वह वृक्षों को उखाड़ता एवं रौंदता हुआ फिर रहा था, किन्तु मुनिश्री के सामीप्य के कारण पूर्वभव का स्मरण होने से वह शांतिपूर्वक जंगल में विचरण करने लगा ।

तीसरा भव

तीसरे भव में मरुभूति का जीव जिसने वज्रघोष के जीव के रूप में धर्म ध्यान पूर्वक शांतभाव से प्राणों का परित्याग किया था, वह सहस्रार नामक बारहवें स्वर्ग के स्वयंप्रभ विमान में शशिप्रभ नामक ऋद्धिधारी देव हुआ । उधर कमठ का जीव, जिसने कुक्कुट सर्प के रूप में वज्रघोष को डसा था, वह धूमप्रथा नामक पाँचवें नरक में नारकी हुआ । वह पाँचवें नरक की असहनीय वेदना को झेलता रहा, किन्तु उसके स्वाभव में कोई परिवर्तन नहीं हुआ ।

चौथा भव

अगले भव में मरुभूति का जीव विजयार्द्ध पर्वत के त्रिलोकोत्तम नगर में विद्याधर राजा विद्युतगति एवं उनकी पत्नी विद्युतमाला के यहाँ रश्मिवेग नामक पुत्र हुआ । रश्मिवेग ने अच्छा राज्यपाट किया । इसे पूरी प्रजा खूब चाहती थी। यौवनावस्था में ही संसार की नि:सारता को जानकर मुनिपद धारण कर लिया और हिमगिरि पर्वत की गुफा में ध्यानरूढ़ हो गये ।

उधर कमठ का जीव पाँचवें नरक की आयु पूर्ण कर उसी पर्वत की गुफा में विशालकाय 'अजगर' (सर्प) हो गया । पूर्वभव के बैर को स्मरण कर अजगर रूप में स्थित कमठ के इस जीव ने क्रोधवश शांति सुधारस के सागर

मुनि महाराज के रूप में ध्यानारूढ़ रूप रश्मिवेग को निगल लिया । बाद में अजगर भी दावानल में जलकर मर गया एवं छठें नरक में उत्पन्न हुआ ।

पाँचवां भव

शुभ भावनाओं की आराधना करते हुए, अजगर द्वारा किये गये घोर उपसर्ग में समताभाव धारणकर प्राणों का उत्सर्ग करने वाले रश्मिवेग मुनि (मरुभूति के जीव) अच्युत स्वर्ग के पुष्कर विमान में विद्युतप्रभ नाम के ऋद्धिधारी देव हुए । वहीं कमठ का जीव छठे नरक की घोर वेदना में पड़ा ।

छठा भव

अगले भव में मरुभूति का जीव जो पूर्वभव में विद्युतप्रभ था, उसने पदम नामक देश के अश्वपुर नगर के महाराजा वज्रवीर्य एवं महारानी विजया के घर वज्रनाभि नामक पुत्ररत्न के रूप में जन्म लिया ।

युवावस्था को प्राप्त वज्रनाभि के रूप में (मरुभूति के जीव ने) छ: खण्डों को जीतकर अतुल सम्पदा के स्वामी बनकर वज्रनाभि चक्रवर्ती कहलाये ।

संसार की असारता को जानने वाले आत्मकल्याण के इच्छुक मरुभूति के जीव को वज्रनाभि चक्रवर्ती के रूप में भी लक्ष्मी सुख न दे सकी । इस कारण समस्त परिग्रहों का परित्याग कर अनन्त सुख को प्रदान करने वाली मुक्ति रूपी लक्ष्मी को वरण करने के लिए क्षेमंकर मुनिराज से संयम धारण कर मुनि बन गये तथा वे वन में तपस्या करने लगे ।

दूसरी तरफ कमठ का जीव छठें नरक के दारुण दु:खों को झेलने के बाद 'कुरंग' नामक क्रूर प्रकृति का भील हुआ । कुरंग के रूप में (कमठ के) इस

जीव को पूर्वभव का स्मरण होने पर उसका बैरभाव पुन: जाग गया एवं क्रोध के वशीभूत होकर ध्यानारूढ़ वज्रनाभि मुनि (मरुभूति के जीव) पर अनेक बाणों की बौछार रूप में उपसर्ग किया, जिससे ध्यानस्थ मुनि की समाधि हो गई और कमठ का जीव अपने दुष्कृत्य से सातवें नरक में चला गया ।

सातवाँ भव

पिछले भव में वज्रनाभि मुनि (मरुभूति के जीव) के कुरंग नामक इस क्रूर भील (कमठ) के द्वारा किये हुए दुष्कर उपसर्गों को जिस शांतभाव एवं वैराग्य पूर्ण परिणामों के साथ सहन किया, उसके फलस्वरूप आराधना करते हुए वे मध्यम ग्रैवेयक के मध्यम सुभद्र विमान में सम्यग्दृष्टि अहमिन्द्र हुए । उनकी आयु सत्ताईस सागर की थी । दूसरी तरफ कमठ का जीव जिसने भील 'कुरंग' के रूप में मुनिश्री पर घोर अत्याचार किया था वह महातम:प्रभा नामक सप्तम नरक में नारकी हुआ और नरक रूप दु:खों के महासागर में इसने घोर यातनायें सही ।

आठवाँ भव

मरुभूति का जीव जिसने पिछले भव में अहमिन्द्र पद धारण किया था उसने अगले भव में कौशल देश में अयोध्या नगर के महाराजा बज्रबाहू की रानी प्रभंकरी के यहाँ 'आनन्द' नामक रूपवान् एवं गुणवान् पुत्र के रूप में जन्म लिया । कुमार आनन्द यथानाम तथागुण को सार्थक करते हुए अपने माता-पिता एवं बाल-सखाओं के साथ बालक्रीड़ा द्वारा सभी के स्नेह-पात्र बने हुए थे।

कालान्तर में पिता के विशाल राज्य के उत्तराधिकारी आनन्द ने पुरुषार्थ से महामण्डलेश्वर राजा का प्रतिष्ठित पद प्राप्त किया । कुछ दिन बाद महामण्डलेश्वर राजा आनन्द अपने महामंत्री स्वामीहित की प्रेरणा से वहाँ विराजमान विपुलमति नामक मुनिराज के सपरिवार दर्शन करने गये । मुनिराज ने जिनेन्द्र प्रतिमा एवं जिन-मन्दिर की महत्ता का वर्णन करते हुए इन्हें पुण्यबन्ध का समर्थ साधन बताया तथा इसी सन्दर्भ में उन्होंने सूर्य विमान में स्थित जिनेन्द्र देव के मन्दिर की विभूति का वर्णन किया । राजा आनन्द इससे इतना प्रभावित हुए कि वे दोनों समय सूर्य विमान में स्थित जिन प्रतिमाओं की स्तुति करने लगे ।

बाद में उन्होंने कलाकारों द्वारा श्रद्धावश मणि एवं स्वर्ण खचित सूर्य विमान बनवाया और उसके भीतर अत्यन्त कान्तिमान जिन मन्दिर बनवाया । राजा को इस रूप में सूर्य की पूजा करते देखकर प्रजाजन भी तभी से भक्तिपूर्वक उसी रूप में सूर्यमण्डल की स्तुति करने लगे । ऐसी मान्यता है कि भारत वर्ष में सूर्योपासना तभी से प्रचलित हुई ।

एक दिन राजा आनन्द दर्पण में मुख देख रहे थे कि अपने सिर में एक सफेद बाल देखा । यौवन की यह क्षण-भंगुरता देखकर उन्हें संसार, शरीर एवं भोगों के प्रति मोह भंग हो गया और उनके अन्दर वैराग्य का बीज प्रस्फुटित हो गया । उन्होंने अपने पुत्र को राज्य देकर समुद्रगुप्त नाम के मुनिराज से मुनिदीक्षा (जैनेश्वरी दीक्षा) ले ली ।

एक तरफ आनन्द के रूप में मरुभूति का यह जीव आनन्द मुनि दर्शन विशुद्धि आदि सोलहकारण भावनाओं में निमग्न रहकर क्षीरवन में प्रतिमा योग

में विराजमान थे, वहीं कमठ का जीव पिछले भव सप्तम् नरक की आयु पूर्णकर उसी वन में सिंह के रूप में उत्पन्न हुआ ।

मुनिश्री को देखकर पूर्व भव के बैर का स्मरण आते ही सिंह रूप में कमठ के इस जीव ने भयंकर गर्जना पूर्वक इन मुनिराज (मरुभूति के जीव) पर घातक प्रहार करके प्राणरहित कर दिया ।

नवाँ भव

सिंह द्वारा किये गये प्राणघातक उपसर्ग को समता भाव के साथ सहन करते हुए मरकर आनन्द मुनि (मरुभूति का जीव) अच्युत स्वर्ग के प्राणत विमान में ऋद्धिधारी देवेन्द्र हुए । इस विमान में देवेन्द्र की उच्च स्थिति होती है। वहाँ पर उनकी बीस सागर की आयु थी । वहीं दूसरी ओर निस्पृही, शांत सुधारस पान करने वाले मुनिराज के जघन्य घात रूप रौद्र परिणामों के कारण कमठ का जीव यह सिंह 'धूमप्रभा' नामक पाँचवें नरक की असहनीय वेदना को भोगने वाला विकृत नारकी हुआ ।

❑

गर्भ-कल्याणक

''अन्वितान्वित विपातिनूतनानेकरत्नरूचिमेचकं नभ: ।
आदधौतनुभृतामभित्तिकं चित्रमेतदिति विस्मितां मतिं ।।
आस्खलन्निपतदिंद्रनीलनिर्भासजालबहलाधकारिते ।
भातु मानुभिरभावि भावितव्योमनि क्वचिदकांडकुंठितै: ।''

- पार्श्वनाथ चरित्र ।

बनारस अद्वितीय शोभा को धारण किये हुए था । 'भावी तीर्थंकर का जन्म होनेवाला है' यह जान कर सुर गणों की विभृति से उसकी शोभा और भी बढ़ गई थी । इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने भगवान को महाराणी ब्रह्मदत्ता के गर्भ में आने के छह महीने पहले से ही रत्नवृष्टि करना प्रारम्भ कर दी थी । इस अद्भुत वृष्टि की चित्र विचित्र प्रभा से उस समय सारा आकाश ही रंग बिरंगा हो गया था । तथापि 'लगातार पड़नेवाले नवीन रत्नों से रंगबिरंगा दीख पड़ने' वाले आकाश ने वहां के लोगों की बुद्धि को उस समय विस्मित कर दिया था और बिना किसी प्रकार की रुकावट के धड़ाधड़ पड़ती हुई इन्द्र नील मणियों की कांतिसे अंधकारित आकाश में सूरज की किरणें असमय में ही कुंठित हो गई थी ।[१] कभी पद्मराग मणियों की वर्षा से आकाश लाल हो जाता था तो कभी सुवर्ण वर्षा में पीला ही पीला नजर आता था । सचमुच रत्न आदि निधियों की उस समय इतनी वर्षा हुई थी कि उनको ग्रहण करनेवालों की तृष्णा भी सकुचा गई थी ।

इन्द्र की आज्ञा पाकर छप्पन देवकुमारियां भी शीघ्र ही बनारस में आई थीं । विशाल और उन्नत राजभवन में प्रवेश करके उन्होंने रानी ब्रह्मदत्ता के दर्शन पाके अपने को कृतार्थ माना था । उस अनुपम रूपवान रानी की वन्दना

करके व देवियां उसकी सेवा करने लगीं । 'कोई तो महाराणी का उवटन करने लगी, जिसके कारण वह विश्वसेन की प्रियतमा अमृतमयी सरीखी सुशोभित होने लगी और कोई उसे सुन्दर अलंकार एवं चन्दनहार पहनाने लगी जिससे उस रानी का मुख ताराओं से वेष्टित चंद्रबिंब जैसा सुन्दर दिखने लगा ।'[१] कभी वे देवियां उसके मनको अलौकिक नाच नाचकर मुग्ध करती तो कभी मनोहर रागों को अलाप कर उसे प्रसन्न कर देती ।' यह दिन उन महारानी के लिये बड़े ही मनोरम थे । उनकी सेवा में ये सुर कन्यायें सदा उपस्थित रहतीं थीं । महारानी भी सदैव प्रसन्न चित्त रहा करती थीं और धर्माराधन में दत्तचित्त रहतीं थी । महाराज विश्वसेन भी इस विभूति को देखकर बड़े ही प्रसन्न होते थे ।

वास्तव में धर्म की महिमा ही अपार है । पुण्य प्रभाव से अलौकिक बातें भी धर्मात्मा के निकट अपनी अलौकिकता खो बैठतीं हैं । तीनों लोको में कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो धर्म से बढ़कर हो और उसकी आरधना से वह मिल न सके । और न ऐसा कोई कार्य है जो धर्म-प्रभाव से सुगम न हो जाय । भौतिकवाद के वर्तमानकाल में हुये साधारण मनुष्यों के लिये अवश्य ही यह सब आश्चर्य भरी बातें है, परन्तु जिसे आत्मा की अनन्त शक्ति में विश्वास है, उसके लिये यहां विस्मय को कोई स्थान ही शेष नहीं है । देव भी कोई विशेष पुण्यवान् जीव हैं, यह आज पाश्चात्य भौतिकवादी भी स्वीकार करने लगे हैं । ब्राह्मण और बौद्ध ग्रन्थ भी प्राचीन काल में यहां देवों के आगमन का वर्णन करते मिलते हैं । इस दशा में जैन शास्त्रों के उक्त कथन में विस्मय करना वृथा ही है ।

पार्श्वनाथ की माता के सोलह स्वप्न और उनके फल

एकदा राजदरबार लगा हुआ था । मंत्री, सेनापति, राज कर्मचारी और सब दरबारी अपने अपने स्थानपर बैठे हुये थे । राजा विश्वसेन भी राज्य

सिंहासन पर विराजमान थे, राज्यछत्र लगा हुआ था, चवर ढोले जा रहे थे । इसी समय अन्तःपुरवाले मार्ग की ओर से जय-जयकार का घोष सुनाई दिया । देखते ही देखते परिचारिकाओं से वेष्टित महाराणी ब्रह्मदत्ता वहां आती हुई दिखलाई दी । दरबारियों ने यथोचित रीति से महाराणी का स्वागत किया और राजा विश्वसेन ने बड़े आदर से उन्हें अपने पास आधे आसन पर बैठा लिया । सचमुच उस समय दरबारी तो ऐसे मालूम होते थे जैसे तारे हों और राजा विश्वसेन उनमें चांद सरीखे थे तथापि महाराणी उनके बीच चंद्रिका के अनुरूप विकसित हो रही थीं । इस अवसर पर सब ही लोग उत्सुकता से महाराणी के आगमन का कारण जानने को उत्कण्ठित हो उठे । महाराणी भी बड़े मिष्ठ स्वर में विनय के साथ शिष्ट वचनों में शत्रुओं के मुकुट मणि की आभा से चमचमाते हुए चरण कमलवाले अपने पति राजा विश्वसेन से यों कहने लगीं कि 'हे देवों के प्रिय आर्य ! आज रात्रि को जिस समय मैं सो रही थी तो उस समय रात के पिछले पहर में मुझे हाथी, बैल, सिंह, कमल, पुष्पमाल, सूर्य, युगल, मीन, कलश आदि सोलह स्वप्न दिखाई पड़े थे, तथापि गज को मुख में प्रवेश करता हुआ जानकर मैं रोमांचित ही हो गई थी । हे आर्य ! तब ही से मुझे आपके निकट आकर इन स्वप्नों का फल जानने की उत्कण्ठा लग रही थी । प्रिय ! प्रातः होते ही नित्य की शौचादि क्रियाओं और भगवद्भजन से निर्वृत होकर मैं आपकी सेवा में उपस्थित हुई हूं । महाराज ! इन स्वप्नों का फल बतलाकर मेरे चंचल मन को शांत कीजिए । '

राजा विश्वसेन अपनी प्रिय अर्द्धांगिनी को मुख कमल से यह वर्णन सुनकर बड़े ही प्रसन्न हुए । उन्होंने अत्यन्त प्रियकर शब्दों में महाराणी के प्रश्न का उत्तर देना प्रारंभ किया और अपने दिव्य अवधिज्ञान के आधार से उन्हों ने उन सोलह स्वप्नों का उत्कृष्ट फल रानी को यह बतलाया कि तेरे गर्भ मे तेइसवें

तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ के जीव का अवतरण हुआ है । रानी इस फल को सुनकर बड़ी ही हर्षित हुई मानों रंक को निधि ही मिल गई हो । दरबारी भी फूले अंग न समाये । सब ही ने मिलकर आनंद उदधि में गोते लगाए ।

वह वैशाख मास का कृष्णपक्ष था और द्वितीया की तिथि थी, कि रात्रि के अवसान समय पर महाराणी ब्रह्मदत्ता ने त्रिलोकवन्दनीय श्रीजिनेन्द्र भगवान को गर्भ में धारण किया था । नक्षत्र भी विमल विशाखा नक्षत्र था । जैनाचार्य इस शुभ घटना का उल्लेख यूं करते हैं -

'अथ दिविजयधूपवित्रकोष्ठं जठरनिवासमुपेतमनितेंद्रम ।
अवहद दयिता नृलोकभर्तुः खनिरिव सारमणिं निगूढकांतिम् ।।'

अर्थात् - जिस प्रकार छिपी हुई कांति को धारण करनेवाली उत्कृष्ट मणि को, खानि अपने उदर में धारण करती है, उसी प्रकार मनुष्य लोक के स्वामी राजा विश्वसेन की प्रियतमा ने आनत स्वर्ग से आये हुए भगवान पार्श्वनाथ के जीव आनतेन्द्र को छप्पन दिक्कुमारियों द्वारा शुद्ध किये गये अपने उदर में धारण किया ।' (पार्श्वचरित पृष्ठ ३४५) ।

इस प्रकार भगवान पार्श्वनाथ आनत स्वर्ग से चयकर महाराणी ब्रह्मदत्ता के गर्भ में आ गये । उनके गर्भ में आने से वह महाराणी उसी तरह विशेष शोभित होने लगी जिस तरह पूर्व दिशा प्रतापी सूर्य के उदय होने से मनोहर बन जाती है । भगवान के गर्भावतारका उत्सव भी विशेष सजधज के साथ मनाया गया था । देव लोक के इन्द्र और देवगण बनारस में आये थे और उन्होंने जिनेन्द्र का गर्भ कल्याण के महोत्सव किया था, यह जैन शास्त्र प्रकट करते हैं।

महाराणी ब्रह्मदत्ता वैसे ही विशेष गुणवती और विद्वान थी परन्तु भगवान को गर्भ में धारण करने पर उन्होंने स्त्रियों के स्वभावोचित सब ही गुणों को

सहज ही अपने में उदय कर लिया । भगवान का ऐसा दिव्य प्रभाव था कि गर्भ के बढ़ते जाने पर भी महाराणी ब्रह्मदत्त का उदर नहीं बढ़ा था । भगवान उनके गर्भ में उसी तरह विराजमान थे, जिस तरह सरोवर में कमल कीचड़ से अलग रहता है ।

यह तीर्थंकर भगवान की पुण्य प्रकृति का प्रभाव था । पूर्व जन्मों में उन्होंने किस प्रकार देवपूजा, गुरुभक्ति, व्रताचरण आदिकी उत्कृष्टता से पुण्य संचय किया था, यह हम पूर्व प्रकरणों में देख चुके हैं । इन्हीं धर्म कार्यों के बल एक मत्त हाथी की गति में पड़ा हुआ जीव आत्मोन्नति करके त्रिलोक वंदनीय परमात्मा हो गया । रंक से राव बन गया । हमारे लिये इससे बढ़कर और आदर्श क्या हो सकता है ?

महाराणी ब्रह्मदत्ता के नौ मास बड़े ही आनन्द से बीते । दिक्कुमारियां सदा ही उनकी सेवा सुश्रूषा में उपस्थित रहतीं थीं, वे उनकी रुचि के अनुसार ही विनोद क्रियायें करके उनके हृदय को प्रफुल्लित करती थी । तब वह गूढ़ अर्थ को लिये हुए श्लोकों का अर्थ महाराणी से पूछती थीं और वे यथोचित उनका उत्तर देती थी, तब सचमुच यही भासने लगता था कि महाराणी की प्रखर बुद्धि को गर्भस्थ बालक के दिव्य ज्ञान ने और भी प्रकाशमान कर दिया है । इधर देवों द्वारा रत्न वृष्टि पहले की भांति हो रही थी । जिसको देखकर महाराणी का मन सदैव प्रसन्न रहता था । नियमित समय के पूर्ण होने पर महारणी ने पौष कृष्ण एकादशी के पवित्र दिन भगवान पार्श्वनाथ को उसी तरह जना जैसे पूर्व दिशा में सूर्य का जन्म होता है । भगवान के आनन्दमई जन्म से तीनों लोक के सब ही प्राणी हर्षित हो गये । एक क्षण के लिये सब ही अपने दुःखों को भूल गये । नर्क में पड़े हुए दारुण दुःख सहते नारकियों को भी उस समय सान्त्वना मिल गई ! तीर्थंकर प्रकृति का प्रभाव ही अजब होता है । आचार्य कहते हैं :-

'उपनतमुखसुप्रसन्न दिक्कं नियमितसवरजः कणानुबंधम् ।
जिनवरजनने जगत्समस्तं क्षणमिव मुक्तामभूदमुक्तरागम् ।।
नवपरिमल सौरभावकृष्टभ्रमदलिमेचकितान्मरुत्पथाग्रात् ।
अविरलबहला सुरद्रुमाणा नृपतिगृहे निपपात पुष्पवृष्टि ।।'

अर्थात् - तीन लोक के नाथ भगवान जिनेन्द्र के जन्मते समय धूलि के कणों के नियमित हो जाने पर समस्त दिशाएं निर्मल हो गईं; उस समय क्षणभर के लिये समस्त जगत शांत हो गया और उसके आनंद का पार न रहा । उस समय मनोहर सुंगधि से खींचे गये जो भनभनाट करते हुये भ्रमर उनके संबंध से चित्र विचित्र और उत्कृष्ट धारण करनेवाले कल्पवृक्षों से जायमान पुष्पों की वर्षा आकाश से राजा विश्वसेन के मंदिर में होने लगी । (पार्श्वचरित पृ. ३४७) ।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ का जन्म

देवों के सचिव इन्द्र का आसन कंपायमान हो गया, कल्पवासी देवों के विमानों में स्वयं घंटे बजने लगे, ज्योतिषी गृहों में अपने आप सिंहनाद होने लगा, व्यन्तरों के आवासों में भेरी का शब्द अकस्मात् हो निकला और भवनवासी देवों के भवनों में शंख ध्वनि होने लगी । सारांश यह कि सारे भूमंडल पर प्रसन्नता की एक लहर दौड़ गई । जिस प्रकार बिना तारकी तारवर्की (Wireless Telegraphy) द्वारा एक विद्युत लहर वातावण में व्याप्त होकर निर्दिष्ट स्थानों के कलपुर्जों को चलायमान कर देती है, उसी प्रकार श्री तीर्थंकर भगवान के जन्म से एक ऐसी आनंदभरी विद्युत लहर सारे संसार में फैल गई कि स्वयं सर्वत्र हर्ष ही हर्ष छ गया । प्राकृत रूप में ऐसी घटना घटित होना अनिवार्य थी ।

देवों ने जब उक्त घटनाओं के बल श्री तीर्थंकर भगवान का कल्याणकारी जन्म हुआ जाना, तो वे बनारस की और चल दिये । बड़ी सजधज के साथ सौधर्मेन्द्र भी आया एवं और सब देव भी आये । सबों ने मिलकर बड़ा भारी आनंदोत्सव मनाया । आखिर सौधर्मेन्द्र की आज्ञा से शची ने महाराणी ब्रह्मदत्ता को निद्रा के वशीभूत कर दिया और एक मायामई बालक उनके पास लिटाकर वह बालक भगवान को इंद्र के पास ले आई । इन्द्र अनुपम बालक को देखते ही गद्गद हो गया । उनके अपूर्व रूप लावण्य को दो आंखों से ही देखकर वह तृप्त न हुआ; बल्कि अपनी तृष्णा को मेटने के लिये उसने अनेक कृत्रिम नेत्र बनाकर बालक-भगवान के दर्शन किये और उनकी विशेष रीति से स्तुति की । उपरान्त भगवान का जन्माभिषेक करने के लिये वह सुमेरुगिरि पर्वत पर ले गया । वहां के पांडुक वन में रत्नजटित शिला पर भगवान को विराजमान किया और क्षीर सागर का निर्मल जल देवों द्वारा मंगवाकर उसने भगवान का अभिषेक १००८ कलशों द्वारा किया । उस समय अद्भुत उत्साह चहुं ओर दृष्टि पड़ने लगा । सब ही सुरांगणाएं जय जयकार करने लगीं ! एक कोलाहल सा मच गया । जैन कवि भगवान के अभिषेक संबंध में कहता है कि:-

'जा धारासो' गिरिसिखर खंड खंड हो जाय ।
सो धारा जिन देहपै, फूलकली सम थाय ।।

अप्रमान धीरज धनी, तीर्थंकर प्रभु होय ।
ताते तिनकी सकतिकौं, उपमा लगै न कोय ।।

नीलवरन प्रभु देह पर, कलस-नीर छबि एम ।
नीलचल सिर हेम के, बादल बरसे जेम ।।

चली न्हौनके नीरकी, उछल छटा नम माहि ।
स्वामि संग अघबिन भई, क्यों नहि ऊरध जाहि ।।

न्हौन छटा तिरछी भई, तिन यह उपमा धार ।
दिग वनिता-मुख सोहियै, करनफूल उनहार ।।'

इस प्रकार न्हवन कर चुकने पर इन्द्र और शची ने बड़ी विनय से बालक भगवान की पूजा की और फिर वह भगवान से विनय करने लगा कि 'हे भगवन ! आपकी कृपास्वरूप आत्महित के बिना अनादिकाल से सम्बन्ध रखनेवाले प्रबल कर्मों का नाशक विवेक स्वरूप नेत्र लोगों को प्राप्त नहीं हो सकता । आपकी कृपा बिना वे कर्मों के नाश के लिये समर्थ नहीं हो सकते । इसी तरह बहुत देर तक विनय कर चुकने पर सब देवलोग बनारस लौट आये ।

इन देवों को इस प्रकार सजधज के साथ आता हुआ देखकर राजा विश्वसेन को बड़ा आश्चर्य हुआ । परन्तु इन्द्र ने राजा को सब भेद बतला दिया और कहा कि नियमानुसार देवगण भगवान के गर्भ, जन्म आदि पांच कल्याण कों पर उत्सव मनाने जाते हैं, उसी अनुरूप मैंने भगवान का जन्म कल्याणक उत्सव मनाया है । यह कहकर आचार्य कहते हैं कि इन्द्र ने इस प्रकार भगवान का नाम रक्खा ।

'अनुपमसुखधामपार्श्ववृत्या सकलजगद्विषय प्रभावभूम्ना ।
सविनयमयमुच्यतां समस्तैर्भुवनगुरुर्वसुधेश पार्श्वनाथः ।।५७।।'[३]

अर्थात् ऐसा कह कर इन्द्र से, उस समय भगवान जिनेन्द्र के पार्श्व (पास) में अद्वितीय सुख और क्रांति दीख पड़ती थी और समस्त जगतपर उनका प्रभाव पड़ा हुआ था, इसलिये इन लोक के स्वामी जिनेन्द्र का पवित्र नाम पार्श्वनाथ रख दिया ।[४] (पार्श्व पृ. ३६२)

फिर इन्द्र नें बालक भगवान को राजा-रानी के सुपुर्द कर दिया और उनकी बड़ी विनय से पूजा की । इस पर सब देवों नें मिलकर सबके मनों को मोहनेवाला अद्‌भूत नाट्य रचा जिसे देखकर राजा और रानी एवं सब ही उपस्थित भव्यगण बड़े ही आनंदमग्न हुये । इसके बाद इन्द्र और सब देवलोग अपने अपने स्थानों को चले गये ।

राजा विश्वसेन ने भी पुत्र का जन्मोत्सव बड़े ही ठाठबाट से मनाया । सारी बनारस नगरी एक छोर से दूसरे छोर तक जगमगा उठी और चहु ओर आनंद छा गया । बंदीगण मुक्त कर दिये गये, याचकों को दान दिया गया और प्रजा का मान किया गया । और त्रिलोकवंदनीय तीर्थंकर भगवान को अपनी गोद में धारण करके राजा रानी अपने भाग्य की सरहाना करने लगे । पूज्य भगवान के माता पिता होने से बढ़कर और कौन सा पद संसार में श्रेष्ठ है ? वही सर्वोत्कृष्ट है । अतएव हम भी यहां पर जन्मोत्सव प्रकरण में भगवान और उनके माता पिता के निकट नतमस्तक हो लेते हैं।

सन्दर्भ

१ - पार्श्वचरित (कलकत्ता) पृ. ३४२

२ - पूर्व पृ. ३४०-३४१

३ - विश्वसेननृपः सार्द्धं देव्या बंधुजनैस्तरां ।
प्रीतिमायातिसाश्चर्यो दृष्ट्वातन्नाट्यमूर्जितं ॥१००॥

४ - नयतीति एव पार्श्वं यो भव्यान तोहि सार्थकं ।
अस्य चक्रुः सुराः पार्श्वनामपित्रोः प्रसाक्षिकं ॥१०१। सर्ग २३
- इति सकलकीर्तिः

❑

पार्श्वनाथ का कुमार जीवन और तापस समागम

हिमकरमुखमंबुजोपमाक्ष पुरपरि धायतबाहु तुच्छमध्यम ।
पृथुतर विलसद्विशाल वक्षस्तरलतमाल रुचिप्रकाश रुच्यम् ।।६१

अतिसित रुधिरं सरोजगंधि व्यपसृत धर्मजलं मलादपोढम् ।
पसकल शुभलक्षणोपपन्न प्रथमक संहननं मनोज्ञ कांतिम् ।।६२

कुलगिरितल भूमि संधिबन्धं श्लथपरिहास विधिक्षमं जवेन ।
वपुरथ परमेश्वरेण बभ्रे शतभख हस्तसरोजराजबिंबम् ।।६३।।

- पार्श्वनाथचरित्र ।

तीनों लोकों को सुख दाता जिनेन्द्र पार्श्वनाथ का जन्म हो गया । वे बालक भगवान शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की तरह धीरे २ बढ़ने लगे, शिशु अवस्था की कोमल मुस्कान और सरल अठखेलियों से माता-पिता और बंधु जनों का मन हरने लगे, देखते २ वे अटपटे पैरों से चलने भी लगे । अपने प्रफुल्लित मुख और बाल्यकालीन चंचल क्रीड़ाओं से सबको बड़े ही प्रिय लगने लगे । कभी आप उचककर धाय से दूर भाग जाते, तो कभी रत्नजड़ित दीवालों में अपनी परछाई देखकर उसको पकड़ने को कोशिश करते । इस तरह बाल लीला करते वह आठ वर्ष के हो गये । इस नन्हीं सी उमर में ही उनकी बुद्धि बड़ी कुशाग्र थी और वे नैतिक आचार की मर्यादा का पालन करने लगे थे। जैन शास्त्र कहते हैं कि इसी समय आपने श्रावकों के अणुव्रतों को धारण किया था ।[१] हिंसा झूठ, चोरी, कुशील, और परिग्रह का एकदेश -आंशिक त्याग कर दिया था । वह जान बूझकर इन दुष्कर्मों में प्रव्रत नहीं होते थे । ऐसे

विवेकमय आचरणका अभ्यास करते हुये, वह आनन्द से सुर - कुमारों के साथ अनोखे खेल खेला करते थे ।

उनका शरीर जन्म से ही मल, मूत्र, पसीना आदि से रहित बड़ा ही स्वच्छ था ।[२] उसमें का रुधिर दूध के समान सफेद था । वह परमोत्कृष्ट शक्तिकर परिपूर्ण था । जैन शास्त्रों में उसे 'सुसमचतुर संठान शरीर' बतलाया गया है । उस में स्वभावत: एक प्रकार की प्रिय सुगंधि आती थी और वह 'सहसअठोत्तर' लक्षणों से मंडित था । सचमुच जैसे वे भगवान महापुरुष थे वैसा ही उनका सुभग शरीर था । एक जैनाचार्य उपयुक्त श्लोकों में भगवान पार्श्वनाथ के शरीर सौन्दर्यका वर्णन यूं करते हैं : -

'भगवान जिनेन्द्र का मुख चन्द्रमा के समान था । नेत्र कमल के समान थे। भुजा परिधा के समान विशाल थी । कटिभाग पतला और वक्ष स्थल मनोहर था । उनका शरीर सफेद रुधिर का धारक कमल के समान गंधिवाला स्वदेजल, मलमूत्रादि से रहित, समस्त शुभ लक्षणों का धारक, वज्रवृषभजाराच नामक उत्तम संहननसे युक्त, महामनोहर कुल पर्वत की भूमि के समान संधियोंका धारक और कड़ा था एवं उसमें इन्द्र के मनोहर करकमलों की बिंब पड़ती रहती थी अर्थात् सदा उसकी सेवा इन्द्र किया करता था ।'[३]

इस प्रकार अपूर्व सौन्दर्य के आगार भगवान पार्श्वनाथ कुमार अवस्था को प्राप्त हुये ! क्रमकर उनके नीलवर्णमई नौ हाथ ऊँचे शरीर में यौवन के चिन्ह प्रकट हुये । वे भगवान शीघ्र ही युवावस्था को प्राप्त हो गये; किन्तु यहां पर हमें भगवान की शिक्षा - दीक्षा के सम्बंध में कुछ अधिक विचार कर लेना चाहिये। मानवता का जो महत्त्व है उसे देख लेना हमें इष्ट है । मनुष्य होकर हमें अपने पूज्य तीर्थंकर भगवान के दर्शन मनुष्य रूप में करने की लालसा करना

स्वाभाविक है । किन्तु हत्‌भाग्य से वह इतने प्राचीन काल में हुये हैं कि जिसका इतिहास पूर्णतः ज्ञान नहीं है और जिससे उनके विषय में कुछ अधिक स्पष्ट रीति से कहा नहीं जा सकता है । जो कुछ जैन शास्त्रों में उनके बाल्य और कौमार कालों का विवरण मिलता है उनसे यही ज्ञान होता है कि भगवान नन्ही आवस्था से ही धार्मिक रुचि को धारण करनेवाले और नीतिमार्ग का पालन करनेवाले व्रती श्रावक थे । वह इस छोटी अवस्था में ही हमारे सामने एक अनुकरणीय आदर्श के रूप में नजर आते हैं परन्तु यह ज्ञात नहीं है कि उनकी शिक्षा किस प्रकार हुई थी । जैन शास्त्र तो कहते है कि वह जन्म काल से ही मति, श्रुति, अवधिज्ञान कर संयुक्त थे, और इस तरह वे एक पूर्व निमित्त मूर्ति की भांति ही हमारे आगे रक्खे गये प्रतीत होते है । परन्तु यदि हम विशेष पुण्य प्रकृति के अतुल प्रभाव को ध्यान में रक्खे तो इस प्रकार उनका जन्म से ही विशिष्ट ज्ञानी होना कुछ असंगत प्रतीत नहीं होता । बेशक आजकल के जमाने के लिये यह एक बेढंगी और अटपटी बात है । किन्तु पहले के आत्मवादी जमाने में इसमें कुछ भी अलौकिकता नहीं समझी जाती थी । भगवान पार्श्वनाथ अवश्य ही हम आप जैसे एक मनुष्य थे, परन्तु उन्हों ने इस उत्कृष्टता को अपने इसी एक भव में नहीं पाया था, बल्कि अपने पहले के नौ भवों से ही वे इतनी उन्नति करते चले आ रहे थे कि इस भव में आकर उनकी आत्मा परमोच्चपद को प्राप्त हुई थी । इस विकास क्रम को हमें नहीं भुला देना चाहिये ओर इसमें आश्चर्य करने को कोई स्थान शेष नहीं रहता है । जैन शास्त्र आपके शिक्षादि के सम्बन्ध में यही कहते हैं । यथा :

'मतिश्रुतावधिज्ञानान्येवास्य सहजान्यहो ।
भैरबोधिसनि: शेषं तत्वं विश्वं शुभाशुभं ।।११।।

कलाविज्ञान चातुर्यं श्रुतज्ञानं महामते: ।
विश्वार्थावगमंतस्य स्वयं परिणति ययौ ॥१२॥

भगवान मति, श्रुति अवधिज्ञान इन तीन ज्ञान द्वारा जन्म से ही विभूषित थे । कला, विज्ञान, चातुर्यता में उनकी समानता कोई कर नहीं सकता था । विश्वभर की सर्व विद्यायें आपको स्वयं प्राप्त हुईं थीं । यह महापुरुषों के लिये कोई अनोखी बात नहीं है, तिस पर भगवान पार्श्वनाथ तो उपरान्त अनुपम साक्षात् परमात्मा ही हुये थे । अस्तु:

तापस समागम

एक रोज सभा लगी हुई थी । राजकुमार पार्श्वनाथ प्रसन्न चित्त हुए अपने सखाजनों के साथ आनन्द गोष्ठि कर रहे थे । इसी समय वनपाल माली ने आकर राजकुमार से वन में किसी एक साधु के आगमन सम्बन्धी समाचार सुनाये । राजकुमार पार्श्वनाथ ने अपने अविधिज्ञान (Clarrovoyance) से काम लिया । उन्होंने उस साधु के रूप को जानकर वहां जाना ही आवश्यक समझा । सखाजनों और अंग रक्षकों सहित बड़े ठाठ-वाट से वे हाथी पर सवार होकर वन विहार के लिये निकले । विहार करते २ वहीं पुहंचे गये जहां वह साधु आया हुआ ठहरा था । राजकुमार ने देखा यह साधु उनका नाना महीपाल है, जो अपनी रानी के विरह में व्याकुल होकर तापसी हो गया है और पंचाग्नि तप रहा है । राजकुमार को उनकी इस मूढ़ क्रिया पर बड़ा तरस आया । वे सरल स्वभाव उसके पास जा खड़े हुये । तापसी यकायक पार्श्वनाथ को चुपचाप अपने पास खड़ा देखकर क्रोध के आवेश में आ गया । वह बोला - ''मै ही तुम्हारा नाना हूं, और राज्यविभूति को पैरों से ठुकरा कर आज कठोर तपश्चरण का अभ्यास कर रहा हूं; फिर भी तुम्हें इतना घमण्ड है कि मुझे

प्रणाम करना भी तुम बुरा समझते हो । प्रणाम करने में तो तुम्हें शर्म ही आती है न ?''

राजकुमार पार्श्वनाथ ने तापसी के इन कटु वचनों से जरा भी अपने चित्त को विषाद युक्त नहीं बनाया । उन्होंने सहज ही जान लिया कि वह कितना संन्यास परायण है और उत्तर में कहा कि 'अज्ञानी होकर यह हिंसामय तप, हे तापस ! तुम क्यों तप रहे हो ?' इतना सुनना था कि तापस आग बबूला हो गया । उसकी भड़की हुई कोधाग्नि में राजकुमार के उक्त शब्दों ने घी का ही काम किया । पूर्वभव का इनका आपसी संयोग ही ऐसा था । वह तापस कमठ का ही जीव था, जो नर्क से निकल कर अनेक कुयोनियों में भटककर किंचित पूर्व पुण्य - प्रभाव से महीपालपुरका राजा हुआ था । और फिर तापस का वेष धारण करके इस समय राजकुमार के प्रति रोष प्रकट करते हुए अपने पूर्व वैर को दर्शा रहा था । वह तड़प कर बोला, 'चल रहने दे । तू इस समय निरंतर होने वाली सम्पत्ति से उन्मत्त है, अन्यथा और कोई मनुष्य मुनियों से ऐसे अनुचित शब्द कैसे कह सकता है ?'' यह कहकर वह राजकुमार से विमुख होकर शांति होती हुई अग्नि को सुलगाने के लिए एक लक्कड़ फाड़ने लगा । भगवान ने उसे बीच में ही रोक दिया और कहा यह अनर्थ मत करो । इस लक्कड़की खुखाल में अन्दर सर्प युगल हैं । वह तुम्हारी कुल्हाड़ी के आघात से मरणासन्न हो रहे हैं । तुम व्यर्थ में ही उनकी हत्या किये डाल रहे हो । उन्हें आग में मत रक्खो ।'

किन्तु भगवान के इन हितमई वाक्यों के सुनते ही वह तापस ताड़ित हाथी को भांति गर्जने लगा । वह बोला, ''हां, संसार में तूही ब्रह्मा है, तू ही विष्णु है, तूही बड़ा ज्ञानी है, जो यहां ऐसा उपदेश छांट रहा है । यहां मेरे लक्काड़ में नाग-नागिनी कहां से आये ? मैं तेरा नाना और फिर तापस-तब भी तू मेरी अवज्ञा करते नहीं डरता है । ''

आचार्य कहते हैं कि 'तपस्वी के कठोर वचन सुनकर' भी त्रिलोकी नाथ भगवान को कुछ भी क्रोध न आया । वे हंसने लगे और हाथ में कुल्हाड़ी ले अधजलती लकड़ी को उन्होंने फाड़ डाला । जलती हुई अग्नि की उष्णतासे छटपटाते हुए नाग और नागिनी को जिनन्द्र भगवान ने बाहर निकाला और अपने अलौकिक तेज से तपस्वी के रूप को खंडबंडकर उसे क्रुद्ध कर दिया ।' (पार्श्वचरित पृ. ३७१)

उन नाग-नागिनी के दु:ख से भगवान का कोमल हृदय बड़ा ही व्यथित हुआ । दया के आगार उन सर्व हितैषी भगवान ने उस तापस से कहा कि 'तुम व्यर्थ ही तपस्या करते हो । क्रोध आदि कषायों से तुम्हारा सब पुण्य नष्ट हो गया । हिंसामई काण्ड रच कर तुम तपस्या करने का ढोंग क्यों रचते हो । क्या तुम्हारे हृदय में दया बिल्कुल नहीं है? तुम्हारा यह सब तप अज्ञान तप है । कोरा कायक्लेश है, इसे भोगकर क्या लाभ उठाओगे ।'

तापस महीपाल वैसे ही कुढ़ रहा था । वह उन्मत्त पुरुष के समान कहने लगा कि तू बड़ा घमण्डी है । अकस्मात् यह सर्पयुगल इस लक्कड़ में निकल आया उस पर तू फूला नहीं समाता है । तू अपनी पूज्य माता के पिताकी अविनय कर रहा है । देख मैं तापस होकर कितनी कठिन तपस्या करता हूं । पंचाग्नि तपता हूं एक पैर से खड़े रह कर एक हाथ को आकाश में उठाकर, भूख व प्यास सब कुछ चुपचाप सह रहा हूं, सूखे पत्ते खाकर पारणा करता हूं, फिर भी तुम मेरी तपस्या को ज्ञान हीन बताते हो ।'

भगवान ने फिर भी उसे मधुर शब्दों में समझाया । उससे कहा - 'तापस, तुम क्रुद्ध मत हो । मैं तुम्हारी भलाई के वचन कह रहा हूं । तुम्हारा तपश्चरण इतना सब होने पर भी हिंसामय है और तुम वृथा ही कायक्लेश भोग रहे हो ।

जरा सी भी हिंसा महादु:ख का कारण है, और तुम रोज ही हिंसा कांड रचते हो, इसका पाप फल तुम्हें जरूर ही चखना होगा। 'ज्ञानहीन तपस्या चावलकी कणिका के भूसे के ढेर के समान है। अग्नि के प्रकोप से जब बन जलने लगता है, तब लोग रास्ता न पाकर जिस प्रकार यहां वहां भागकर अन्त में अग्नि में ही जलकर प्राण दे देते हैं, अज्ञानी तापस ठीक उसी तरह कायक्लेश भोगकर संसार की अग्नि में ही जलकर भस्म हो जाते हैं।'[४] सम्यक्श्रद्धान और सम्यक्ज्ञान के बिना आचार निष्फल है। मैं तुम्हारे हित की ही कह रहा हूं, इस हिंसामई कायक्लेश को छोड़ो और जिनेन्द्र भगवान के बताये हुये मुक्ति मार्ग का रास्ता गृहण करो।"

दुर्भाग्य से भगवान के इन हितकारी वचनों का भी असर उस तापस पर कुछ भी नहीं हुआ। दुर्जन कभी भी सदुपदेशको ग्रहण करते नहीं देखे गये हैं। भगवान जिनेन्द्र अपने राजमहल में लौट आये और आनन्द मग्न हो काल क्षेपण करने लगे। वह तापसी काय क्लेश के प्रभाव से मरकर संवर नामक भवनवासी देव हुआ।

सन्दर्भ

१ - वर्षाष्टमे स्वयं देवस्त्रिज्ञानज्ञः संपचधा।
आददेणुव्रतान्येव गुणशिक्षाव्रतानि च ॥१७॥
सप्तधा स्वर्गकर्त्री निस्वयोग्यान्य पराण्यपि।
त्रिशुद्ध्यान्यरतीचाराणि सागार वृषाप्तये ॥१८॥ - **पार्श्वचरित सर्ग १४।**

२ - तित्थयरा तप्पियरा हलहर चक्काइं वासदेवाइं।
पडिवास भोयभूमिय आहोरो णत्यि णीहारो ॥

३ - पार्श्वनाथ चरित पृ. ३६४।

४ - 'भगवान पार्श्वनाथ' (सागर) पृ. २७।

❑

धरणेन्द्र-पद्मावती

'पद्मावती च धरणश्च कृतोपकारं ।
तत्कालत्जातमविधं प्रणिधाय बुद्धवा ।।

आनम्रमौलि रुचिरच्छविचर्चितांध्रि ।
मानर्चतुः सुरतरु प्रसवैर्जिनेंद्रम् ।।८७।।'

- श्री पार्श्वचरित ।

बनारस के वन में आये हुये तापस महीपाल की कृपा से एक सर्प युगल के प्राणान्त भगवान पार्श्वनाथ के समागम में हुये थे, पूर्व परिच्छेद में यह परिचय प्राप्त हो चुका है । वस्तुतः उन मरणासन्न सर्प युगल को राजकुमार पार्श्वनाथ ने धर्मोपदेश सुनाकर सुगति में पधरा दिया । णमोकार मंत्र के श्रवण मात्र से उनके परिणाम समता रूप हो गये और वे समता भावों से प्राण विसर्जन कर के इसी लोक में भवनवासी देव हुये । अन्तिम समय में धर्माराधन करने का मधुर फल उनको तुरत ही मिल गया । वे पशु होकर भी उसके पुण्य प्रभाव देवगति को प्राप्त हुये ।

जैन शास्त्रों में देव गति चार प्रकार की बतलाई गई है । स्वर्ग लोक में विमानों में बसने वाले देव कल्पवासी कहे जाते है; सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतिष पटल में रहनेवाले देव ज्योतिषी कहलाते हैं; भूलोक में निवास करने वाले तथापि अधो लोक के पूर्व भाग में भी किंचित बसनेवाले देव भवनवासी बतलाये गये हैं और व्यंतर देव वे कहे गये हैं जो भूत, प्रेत आदि नाम से प्रसिद्ध हैं । इन देवों के शरीर मनुष्यों से विशिष्ट और सूक्ष्म तथापि विक्रिया (रूप बदलने की) शक्ति कर संयुक्त होते हैं । यह लोग मनुष्यों से अधिक

सुखी जीवन व्यतीत करते हैं । आजकल 'प्रेत-विद्या' (Spiritualism) के बल कतिपय सिद्ध हस्त लोग इनमें से इतर जाति के-भवनवासी और व्यंतर देवों को आव्हान करने में सफल-प्रयास हो चुके हैं और उन्होंने जो अन्य देवों और देव लोकों का हाल बतलाया है, उससे यह बात स्पष्ट हो गई है कि सचमुच कोई देवगति भी संसार में रूलते हुए जीव को सुख-दु:ख भुगतने के लिये है ।

नाग-नागिनी के जीव भवनवासी देवों में नागकुमार नामक देवों के इन्द्र और इन्द्राणी हुये थे । इसीलिये वे क्रमश: धरणेन्द्र और पद्मावती के नाम से विख्यात् हुये हैं ।[१]

अब वे नाग और नागिनी धरणेन्द्र और, पद्मावती हो गये तो उसी समय अपने जन्मसिद्ध अवधिज्ञान (Clairovoyance) के बल से उन्हें उनपे उपकार करनेवाले राजकुमार पार्श्वनाथ का ध्यान आया । 'वे शीघ्र ही बनारस आये और नम्री भूत मुकटों की मनोहर कांति से जिनके चरण पूजित हैं ऐसे भगवान पार्श्वनाथ की उन्होंने पूजा की ! बहु विधि पूजा करके और कृतज्ञता ज्ञापन करके वे अपने निवास स्थान को चले गये ।'

जैन शास्त्रों में इनका निवास स्थान पाताल अथवा नाग लोक बतलाया गया है ।[२] यह स्थान जिस भूमंडल पर हम रहते हैं उस मध्य लोक की पृथ्वी के नीचे अवस्थित कहा गया है ।[३] वहां पर इनके बड़े बड़े महल और भवन भोगोपभोग की सुन्दर सामिग्री से पूर्ण है, यह शास्त्रों में लिखा हुआ है । प्रख्यात जैन ग्रन्थ श्री राजवार्तिकजी में इसका उल्लेख इस तरह पर है :-

'खरपृथ्वीभागे उपर्यधश्चैकैकयोजनसहस्रं वर्जयित्वा शेषे नवानां कुमाराणां भवनानि भवंति ॥१०॥' तद्यथा असमाज्जम्बुद्विपात्तियर्गपाग संख्येयान् द्वीपसमुद्रानतीत्य धरणस्य नागराजस्य चतुश्चत्वारिंशत भवन शतसहस्राणि, षष्ठि; सामानिक सहस्राणि; त्रयस्त्रिशत्त्रायस्त्रिशा; तिस्र: परिषद: सप्तानीकान् चत्वारो लोकपाला:, षडग्रमहिष्य:, षडात्मरक्षसहस्राण्याख्यायंते।.... तान्योतानि नागकुमाराणां चतुरशीति: षडात्मरक्षमहस्राण्याख्यायते।.... तान्येतानि नागकुमाराणां चतुरशीति: भवनशतसहस्राणि । इत्यादि ।[४]

खर पृथ्वी पर धरणेन्द्र अथवा नागराज के चवालीस लाख भवन मौजूद हैं यह खर पृथ्वी इस जम्बू द्वीप के असंख्यात् द्वीप समुद्रों को व्यतीत कर जाने पर मिलती है । इनके छै हजार सामानिक देव हैं तेतीस त्रायस्त्रिंशत देव हैं, तीन परिषद (समाये) हैं; सात सेनायें हैं, छै अग्रमहिषी (पटरानी) है और छै हजार आत्मरक्षक हैं । वास्तव में जैन शास्त्रों में प्रत्येक प्रकार के देवों के लिए दस दर्जे नियत किये हुये मिलते हैं : यथा :-

१. **इन्द्र**-यह राजा की भांति मुख्य और शासक होता है ।

२. **सामाजिक**-यह भी बलवान और शक्ति सम्पन्न होते हैं, परन्तु इन्द्र के समान नहीं । इन्हें पिता, गुरू आदि समझना चाहिये ।

३. **त्रायस्त्रिंशत**- यह संत्री, पुरोहित आदि कुल ३३ हैं । इसलिये इस नाम से उल्लेख में आते हैं ।

४. **पारिषद**-सभा के सदस्यगण अथवा दरबारी लोग ।

५. **आत्म रक्षक** - यह शरीर रक्षक होते हैं ।

६. **लोकपाल** - प्रजा के संरक्षक; जैसे पुलिस ।

७. **अनीक** - फौज ।

८. **प्रकीणक** - प्रजा ।

९. **अभियोग्य** वह देव जो अपने को सवारी रूप घोड़ा आदि बना देते हैं।

१०. और **किल्विषिक**-सेवककल ।[५]

धरणेन्द्र नागकुमार देवों का इन्द्र था और शेष जो उनके सामाज़िक आदि थे वह ऊपर बतलाये हैं । इनके विषय में और विशेष वर्णन श्री अथप्रकाशिकाजी में भवनवासी देवोंके साथ निम्न प्रकार है :-

'भवननि में वसे हैं ताते इनकूं भवनवासी कहिये है । भवनवासीनि में असुरकुमार, नागकुमार, विद्यत्कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार दिक्कुमार ऐसे दश विशेष संज्ञा नाम कर्मकरि कीनी जानना, बहुरि कोऊ श्वेतांबरादिक कहैं जो देवनिकरि 'अस्यंति' कहिए युद्ध करैं प्रहार क़रैं ते असुर हैं ऐसे कहें सो नहीं । ए कहना तो देवों को अवर्णवाद है, इसमें मिथ्यात्वका बंध होय है । ते सौधर्मादिकनिके देव महा प्रभावान हैं । इनकै ऊपरि हीन देव मनकरिकैं हू प्रतिकूल पणा नहीं विचार हैं । जो एता विशेष है । जो चमरेन्द्र अर वैरोचन ए इन्द्र अपनी ऐश्वर्य संपदा करि परिणाम मैं ऐसा मद करैं है जो हमार सौधर्म ईशान इन्द्र सौं कौन सी संपदा घट है, हम भी उनके तुल्य ही हैं ऐसी परिणामनिमैं ईर्षा है सो अभिमान की अधिकता तै ऐसी ईर्षा करे ही हैं । बहुरि सौधर्मादिक देवनिकै विशिष्ट शुभ कर्म

का उदयकरि विभव है सो अरहंत पूजा तथा भोगानुभवन इत्यादिकमैं लीन हैं । इनकै परकी दाराहरणादिक वैरका कारण है । नहीं तातै असुर हैं । ते सुरनिकरि युद्ध नाहीं करै हैं । बहुरि समस्त देवनिकै बालयौवनादिक अवस्था नहीं पलटै हैं। उपज्या जिस अवसरतै मरण पर्यंत एकसी थिर अवस्था रहै हैं तातै अवस्थाकरि कुमार नहीं है । इनके कुमार समान उद्धत वेष भूषा आभरण आयुध वस्त्र गमन वाहन राग क्रीड़न हैं तातै कुमार कहिये है । अब इनका भवन कहा है सो कहै है ।

इस जम्बूद्वीप की दक्षिण दिशामैं असंख्यात द्वीपसमुद्रनिकूं व्यतीत करि रत्नप्रभा पृथ्वी का पंकभाग विषै असुर कुमारनिका चमर नाम इन्द्रके चौंतीस लाख भवन हैं अर चौसंठि हजार सामानिक देव हैं । तेतीस त्रायंस्त्रिशत् देव हैं। बहुरि सोम यम, वरुण, कुबेर ए चार लोकपाल हैं । तीन सभा है तिनमैं पहली सभामैं अठाईस हजार देव हैं । मध्यकी सभा में तीस हजार, बाह्य सभामैं बत्तीस हजार देव हैं । अर सात सेना हैं। महिषीनिकी घोड़ेनिकी रथनिकी हाथनिकी पयादनि गंधर्वनिकी नृत्यकारिणीनिकी । तिन एक एक सेना में सात सात कक्षा हैं । पहली कक्षा चौसठि हजार देवनिकी दूजी यातैं दूणी, तोजी यातें पूणी ऐसें सप्त जायगा दूणी दूणीकी इक्यासी लाख अठाइस हजार प्रमाण महिषनिकी सेना भई इनिकू सप्तकर गुणिए तदि पांच कोटी अडसठी लाख छिनवै हजार देवसातौ सेना के भए । ऐसै ही वैरोचनादिक इन्द्रकै सेनाका प्रमाण जानना । इनि सात प्रकारकी सेनामैं एक एक सेनाधिपति महत्तर देव हैं, नृत्यकारिणीकी सेना मैं महत्तरी देवी है । अर प्रकीर्णक देव नगर निवासी समान प्रीतिके पात्र असंख्यात हैं । बहुरि छप्पन हजार देवी हैं तिन मैं सोलह हजार वल्लभिका अर पांच पट्ट देवी है 1 अर पट्टदेवी आठ हजार विक्रियां करे हैं ।

ऐसें ही वैरोचनादि इन्द्रनिकै समस्त दश भेदनिमैं भवन परिवारादिक त्रिलोकसारादि ग्रंथनितै जानना । बहुरि रत्नप्रभा पृथ्वी के पंकभाग विषै असुर कुमारनिके भवन है अर नागकुमारादिक नवजातिके भवन खरभाग विषैं हैं । बहुरि कोई भवन जघन्य हैं ते तो संख्यात कोटी योजन के हैं । उत्कृष्ट भवन असंख्यात योजनके विस्ताररूप हैं चौकोर हैं । तीनसौ योजनकी ऊंचाई लिए हैं। भवनकी भूमिसूं छाती पर्यंत तीनसै योजनकी ऊंचाई है अर एक एक भवन के भव्यविषै एक योजना ऊंचा पर्वत है, तिस पर्वत ऊपरि जिनेन्द्र मंदिर हैं ऐसे दश जातिके भवनवासीनिके सात कोटी बहत्तरी लाख भवन हैं । अर सात कोटी बहत्तरी लाख ही जिन चैत्यालय हैं । अष्ट गुणरूप ऋद्धिनिकरि सहित हैं । नाना मणिमय भूषनिकरि जिनका दीप्ति संयुक्त अंग है । अर दश प्रकारके चैत्यवृक्ष जिन प्रतिमाकरि विराजित हैं । अपने तपके प्रभावकरि सुखरूप भोग भोगत तिष्ठै हैं । जिनके मल, मूत्र, रुधिर, चाम, हाड, मांस आदिककर वर्जित दिव्य देह है ।.... अन्य नागकुमार सुपर्णकुमार द्वीपकुमार इन तीनकै आहारकी इच्छा साढा बारह दिन गए होय अर साढाबार मुहूर्त गए उछ्वास होय । देहकी उंचाई.... (नागकुमारादि) नव जातिकेनिकै दश धनुष है ।" (पृष्ट १७७-१८०)

साथ ही श्री हरिवंशपुराणजी में इनके सम्बन्ध में इस प्रकार वर्णन मिलता है -

'नरक की पहली.... रत्नप्रभा पृथ्वी के खर भाग, पंक भाग और बहुल भाग ये तीन भाग हैं,..... पंक बहुल भाग के दो भाग हैं, उन में प्रथम भाग में राक्षसों के और दूसरे में असुर कुमारों के घर हैं और वे देदीप्यमान रत्नों के बने हैं । खर भाग में अतिशय देदीप्यमान, स्वाभाविक प्रभा के धारक नागकुमार

आदि नौ भवनवासियों के अनेक घर हैं ।.... नागकुमारों के चौरासी लाख भवन हैं ।.... मणि और सूर्य समान देदीप्यमान पाताल लोक में असुरकुमार नागकुमार सुपर्णकुमार द्वीपकुमार उदधिकुमार स्तनितकुमार विद्युतकुमार दिकुमार अग्निकुमार और वायुकमार ये दश प्रकार के देव यथायोग्य अपने अपने स्थानों पर रहते हैं । (पृ. ३२-३३)

इस तरह यहां तक के वर्णन से यह स्पष्ट है कि धरणेन्द्र और उसकी मुख्य पट्टरानी पद्मावती नागकुमार देवों के इन्द्र इन्द्राणी थे और वह पाताल लोक में रहते थे । उनको नागवंशी राजा अथवा विद्याधर मनुष्य बतलाना कुछ ठीक नहीं जंचता, परन्तु यह बात विचारणीय है; इसलिये इस पर हम आगे प्रकाश डालेंगे । पाताल लोक हमारी पृथ्वी के नीचे बतलाया गया है, परन्तु ऊपर जो आचार्य अकलंक देवकृत तत्त्वार्थवार्तिक तथा पं. सदासुखदासकृत अर्थप्रकाशिकाजी ग्रन्थ से उद्धरण दिये गये हैं, उनसे यह प्रकट होता है कि जम्बूद्वीपके असंख्यात द्वीपसुमुद्रों को उलंघ जाने पर दक्षिण दिशा में खरभाग पृथ्वी मिलती है जहां धरणेन्द्र के भवन हैं तथापि जम्बुद्वीप आदिकर सुंयक्त मध्य लोक जैन शास्त्रों में थाली के समान सम माना है ।[५] इस अपेक्षा तो धरणेन्द्र का निवासस्थान हमारी पृथ्वी के नीचे प्रमाणित नहीं होता । परन्तु शास्त्रों में सर्वत्र पाताल लोक पृथ्वी के नीचे बतलाया गया है ।[६] ऐसी अवस्था में उपरोक्त शास्त्रों के कथनों को मान्यता देते हुये मध्य लोक की पृथ्वी को ढलवां मानना पड़ेगा जिससे दक्षिण दिशा की ओर नीचे ढलते हुये खरपृथ्वी अधो लोक में आ सकती है । जम्बूद्वीप की नदियां जो आमने सामने इधर उधर बहतीं बतलाई गईं हैं, उससे भी यही अनुमान होता है कि यह पृथ्वी बीच में उठी हुई और किनारों की ओर को ढलवां है; परन्तु शास्त्रों में इस विषय का

कोई स्पष्ट उल्लेख हमारे देखनें में नहीं आया है । अतएव विषय में कोई निश्चयात्मक बात नहीं कही जा सकती है । किन्तु इतना अवश्य है की यह विषय विचारणीय है । जैन भौगोलिक मान्यताओं को स्वतंत्र रीति से अध्ययन करके प्रमाणित करने की आवश्यकता है। जैन शास्त्रों में जिस स्पष्टता के साथ भौगोलिक वर्णन दिया हुआ है; उसको देखते हुए उसमें शंका करने को जी नहीं चाहता है, परन्तु जरूरत उसको सप्रमाण प्रकाश में लाने की है ।

अस्तु, यह तो स्पष्ट ही है कि धरणेन्द्र का निवासस्थान पाताल अथवा नागलोक है । जैन समाज में उसकी मूर्ति पांच फण कर युक्त और चार हाथवाली बतलाई गई है । दो हाथों में उनके सर्प होते हैं, तथापि अन्य दो हाथ छाती से लगे हुये रहते हैं, जिनमें एक खुला हुआ और एक मुट्ठी बंधा हुआ होता है । इनकी सबारी कछुवे की बतलाई गई है ।[१] इनकी अग्रमहिषी पद्मावती भी पांच फणवाले सर्प के छत्र से युक्त चार हाथ वाली मानी गई है । इनके दो हाथों में वज्रदंड और गदा होती है एवं अन्य दो हाथ उसी रूप में होते हैं, जिस रूप में धरणेन्द्र के बतलाये गए हैं ।

इनका आसन राजहंस बतलाया गया है ।[२] किन्तु कहीं-कहीं इनको तीन फणवाले छत्र से मंडित कहा गया है, यथा :-

'फन तीन सुमनलीन तेरे शीस बिराजैं ।
जिनरज तहां ध्यान धरे आप बिराजै ।।

फनिइंदने फनिकी करी जिनंदपै छाया ।
उपसर्ग वर्ग मेटिके आनन्द बढ़ाया ।।

जिनशासनी हंसासनी पद्मासनी माता ।

भुज चारतै फूल चारुदे पद्मावती माता[३] ॥'

यहां हंसनी के साथ इनका उल्लेख पद्मासनी रूप में भी किया हुआ है । अन्यत्र भी यही कहा गया है और साथ ही इनको पद्मवन में निवासित बतलाया है; यथा -

'पद्मे पद्मासनस्थे व्यपनयदुरितं देवि देवेन्द्र वंद्ये ॥६॥

'मातपद्मनि पद्मारगारुचिरे पद्मप्रसूताननें ॥

पद्मे पद्मवनस्थिते परिलसत्पद्माक्ष पद्मालये ॥

पद्मामोदनि पद्मनाभिवरदे पद्मावती याहि मां ।

पद्मोल्लासनि पद्मरागरुचिरे पद्मप्रसूनाचिते[४] ॥२७॥

जन साधारण में भी शायद इसी अपेक्षा पद्म (कमल) पुष्पों से पूर्ण नदी और सरोवरों को पद्मावती और 'पद्मवन' नाम से परिचित करने की मर्यादा प्रचलित है ।[५] मिश्र देश, जहां की भारतीयाता का प्राचीन संबंध रहा है जैसे कि हम आगे देखेंगे, वहां की नील (Nile) नदी को लोग इसी अपेक्षा 'पद्मावती' भी कहते है और उसके दल दल में एक 'पद्मवन' भी है ।[६] तथापि 'पद्म' देवी की भी वहां मान्यता है ।[७] धर्म का प्रकाश करने के लिये-जिन शासन की विजय वैजयंती फैलाने के लिये पद्मावती देवी बहु प्रसिद्ध हैं । एक आचार्य के निम्न शब्द[८] इसके साक्षी हैं :-

संसाराब्धौनिमग्नां प्रगुणगुणयुतां जीवराशि च याहि ॥

श्रीमजैनेन्द्रं धर्म्मं प्रकट्यविमलं देवि पद्मावती त्वं ॥२३॥

तारामानविमद्दनी भगवती देवी च पद्मावती ।

ताता सर्वगता त्वमेव नियतं मायेति तुभ्यं नमः ॥२५॥

सचमुच पद्मावती देवी धर्मानुराग की उमंग से भरी हुई हैं । जिसने भी जब जिन धर्म की प्रभावना करने के भाव प्रगट किये वहां यह देवी उसकी सहायक हुई है । आचार्यवर्य श्री अकलंकदेवजी जिस समय राजा हिम शीतल के दरबार में दक्षिण भारत के कांचीपुर (कन्जीवरम्) नामक नगर में तारादेवी के आश्रित बौद्ध गुरु से बाद करते-करते विलख उठे थे, उस समय इन्हीं देवी ने प्रगट होकर उनकी सहायता की थी ।[८] ऐसे ही पात्रकेशरी आचार्य को भी यही देवी सहायक हुई थीं ।[९] एक जैन कवि इनके दिव्य रूप की प्रशंसा निम्न पद्यों में[१०] करते हैं :-

"धर्मानुराग रंग से उमंग भरी हो, संध्या समान लाल रंग अंग धरी हो ।
जिनसंत शीलवंत पै तुरंत खड़ी हो, मनभावती दरसावती आनंद बड़ी हो ॥५॥

चरणाबिंद में है नूपुरादि आभरण,
कटिमें है सार मेखला प्रमोद की करन ।
उर में है सुमन माल सुमन माल की माला,
पटरंग अंग सगर्सो सोहे है विशाला ॥११॥

करकंज चारु भूषन सो भूरि भरा है,
भवि-वृद को आनन्द कंद पूरि करा है।
जुग भान कान कुंडल सों जोति धरा है,
शिरशीस फूल फूल सो अतुल धरा है ॥१२॥

मुखचंद को अमंद देख चंद हू थंभा,
छबि हेर हार हो रहा रंभा को अचंभा ।

दृग तीन सहित लाल तिलक भाल धरै है,
विकसित मुखारविंद सौं आनंद भरे है ।।''

श्वेतांबर जैनों के शास्त्रों में भी धरणेंद्र और पद्मावती को भगवान् पार्श्वनाथ के शासन देवता स्वीकार किया गया है ।[११] यद्यपि कहीं-कहीं धरणेन्द्र का नाम वहां 'पार्श्व' लिखा मिलता है ।[१२] परन्तु श्रीभावदेवसूरिने धरणेन्द्र और पार्श्व शब्दों को समान रूप में व्यवहृत किया है ।[१३] इसीलिये यह कहना होगा कि अन्ततः श्वेताम्बरों के अनुसार भी धरणेन्द्र ही पार्श्व स्वामी के शासन देवता थे ।

प्रत्येक जैन तीर्थंकर के शासन रक्षक एक देव और देवी बतलाये गये हैं । उसही के अनुसार श्रीपार्श्वनाथजी के शासन रक्षक धरणेन्द्र और पद्मावती थे । श्रीभावदेवसूरि ने धरणेन्द्र-पार्श्व का रूप इस तरह चित्रित किया है । उसे एक कृष्ण वर्ण का चार भुजाओंवाला यक्ष बतलाया है । मूलनाम 'पार्श्व' लिखा है। तथा कहा है कि वह सर्प का छत्र लगाये रहता था । उसका मुंह हाथी जैसा था, उसके वाहन कछुबे का था, उसके हाथों में सर्प थे और यह भगवान पार्श्व का भक्त बन गया था ।[१४]

दिगम्बर जैन शास्त्रों में उसका मुख सुडौल और सुन्दर मनुष्यों जैसा बतलाया है । उसके साथ ही उन श्वेतांबराचार्य ने पद्मावती देवी को स्वर्णवर्ण की, विशेष शक्तिशाली, कर्कुट सर्प के आसानवाली बतलाया है । उसे सीधे दो हाथों में क्रमशः कमल और दंड एवं अन्य दो हाथों में एक फल और गदा लिये कहा गया है ।[१५] यहां भी दिगम्बर मान्यता से जो अन्तर है वह प्रगट है; परन्तु मूल में दोनों ही उसको यक्ष यक्षिनी और चार हाथवाले जिन शासन के रक्षक स्वीकार करते हैं । जिस समय भगवान् पार्श्वनाथजी पर कमठ के जीव ने

उपसर्ग किया था, जैसे कि आगे लिखा जायगा, उस समय धरणेन्द्र पद्मावती ने आकर उनकी सहायता की थी । इसीलिये वे जैन शासन रक्षक देव माने गये हैं। श्रीआचार्य वादिराजसूरि यही लिखते हैं :-

'पद्मावती जिनमतस्थिति मुन्नयतीतेनैवतत्सदसि शासनदेवतासीत ।
तस्याः पतिस्तु गुणसंग्रह दक्षचेता यक्षो बभूव जिनशासन
रक्षणज्ञः॥४२॥'

अर्थात्-'देवी पद्मावती जिन मत की उन्नति की करनेवाली थी इसलिए वह शासन देवता कही जाने लगी और गुणों की परीक्षा में चतुर जिन शासन की रक्षा का भले प्रकार जानकार धरणेन्द्र यक्ष कहा गया ।'[१६]

धरणेन्द्र और पद्मावती इस तरह यक्षिणी प्रमाणित होते हैं । दिगंबर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों के शास्त्र इस बात पर एकमत हैं किन्तु इस हलात में यह विरोध आकर आगे उपस्थित होता है कि यक्ष व्यन्तर जाति के देवों का एक भेद है और धरणेन्द्र पद्मावती को शास्त्रों में नागकुमारों का इन्द्र-इन्द्राणी बतलाया है, जो धरणेन्द्र को पाताल का राजा और श्रीपार्श्वनाथजी का शासन देवता पार्श्व यक्ष बतलाया है उसका भी कुछ कारण होना चाहिये । यद्यपि अन्तत: वहां भी धरणेन्द्र और पार्श्व यक्ष समान रूप में व्यवहृत हुये मिलते हैं । इन बातों को देखते हुए क्या यह संभव नहीं है कि नागवंशी राजाओं का विशेष सम्पर्क भगवान पार्श्वनाथजी से रहा हो ? नागवंशी राजा और नागकुमारों के अधिपति धरणेन्द्र को एक ही मानकर किसी तरह उक्त प्रकार भ्रमात्मक उल्लेख हो गया हो तो कुछ आश्चर्य नहीं, क्योंकि पुरातनकाल में इतिहास की ओर आचार्यों का बहुत कम ध्यान था । तिसपर यह प्रगट ही है ।

नागवंश-ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

भगवान पार्श्वनाथ से पहले भारत पर नागवंशी राजाओं ने आक्रमण किया था और वे यहां विविध स्थानों पर बसने भी लगे थे।[१७] श्री पद्मपुराणजी में सीताजी के स्वयंम्बर आये हुये राजाओं में नागवंशी राजा का भी उल्लेख किया गया है ।[१८] साथ ही श्री नागकुमार चरित में भी इसी बात का उल्लेख है ।[१९] वहां नागवापी में जो नागकुमार का गिरना और नागों की उनकी रक्षा करना बतलाया है उसका भाव नागवंशियों की पल्ली में कुमार का बेधड़क चला जाना और नागवंशियों का विदेश से आया हुआ बतलाना ही इष्ट है ।

नाग जाति वास्तव में मनुष्य जाति ही थी

जैन पद्मपुराण से यह प्रगट ही है कि नागकुमार नाम के विद्याधर लोग भी यहां मौजूद थे । फिर भारतीय कथा ग्रन्थों में इन नागवंशी राजाओं का उल्लेख जहां किया गया है वहां उनको पशुनाग ख्याल करके उनका स्थान जल या वापी बतलाया गया है ।[२०] इसका मतलब यही है कि वह विदेश से आई हुई विजातीय संप्रदाय थी और समुद्र पर बसती थी । उस काल में उनने भारत के विविध स्थानों में अपने अड्डे जमा लिये थे; यहां तक कि वे मगध और हिमालय की तराई तक में पहुंच गए थे । नागकुमार जिस नागवापी में गिरे थे वह मगध में ही थी[२१] तथापि नेपाल के पुरातन इतिहास में इस बात का पूरा उल्लेख है कि वहां कई बार नाग लोग आकर बस गये थे ।[२२] हिमालय को वे लोग नागहृद कहते हैं ।[२३] वहां नागेन्द्र का वास बतलाते हैं ।

जैन शास्त्रों में भी चक्रवर्ती सगर के सौ पुत्रों का कैलाश पर्वत पर पहुंच कर खाई खोदने पर नागेन्द्र द्वारा मारे जाने का उल्लेख मिलता है ।[२४] जिससे भी

वहां नागेन्द्र का वास प्रमाणित होता है परन्तु क्या यह नागेन्द्र नागकुमारों के इन्द्र धरणेन्द्र ही थे, यह मानना जरा कठीन है, क्योंकि धरणेन्द्र जिनशासन का परम भक्त बतलाया गया है । अतएव जब सम्राट सगर के पुत्र श्री कैलाश पर के भरत राजा के बनवाये हुये चैत्यालयों की रक्षा के निमित्त खाई खोद रहें थे तो फिर भला एक शासन भक्त देव किस तरह उन पर कोप कर सकता था ? और यहां तक की उनके प्राणों-सम्यगदृष्टियों के प्राणों तक को अपहरण कर लेता ! फिर उनका उल्लेख वहां केवल नागेन्द्र अथवा नागराज के रूप में है जिससे धरणेन्द्र का ही भाव लगाना जरा कठिन है ।

इस तरह यह बिल्कुल संभव है कि वह नागराज नागवंशी विद्याधरों का राजा हो; जैसे कि उसे नेपाल के इतिहास में भी बतलाया गया है । नेपाल के इतिहास में भी नागों का सम्बन्ध बहुत ही प्राचीन काल अर्थात् हिन्दुओं के त्रेता और सतयुग से बतलाया गया है । त्रेता युग में एक 'सत्व' बुद्ध का आगमन वहां पर हुआ था । उसने नागह्रद को सुखा दिया, जिससे लाखों नाग निकल कर भागे । आखिर सब ने उनके राजा करकोटक नाम को रहने को कहा और उनके रहने को एक बड़ा तालाव बतला दिया एवं उनको धनेन्द्र, बना दिया । नेपाल की इस कथा का भाव यही है कि वहां पर नागराजाओं का प्राबल्य था, जिसको सत्व नामक व्यक्ति ने परास्त कर दिया । अधिकांश नाग तो अपने देश को भाग गये; परन्तु प्राचीन क्षत्रियों की भांति सत्व ने उनके राजा को वहां रहने दिया और उसे अर्थ-सचिव बना दिया। करकोटक नाग कैस्पियन समुद्र के किनारे बसनेवाली एक जाती थी, यह प्रमाणित हो गया है ।[२५] कस्पियन समुद्र के निकट बसनेवाली जातियों का पूर्ण उल्लेख हम आगे करेंगे । यहां पर इस कथा से भी यह स्पष्ट है कि जिन नागों को पानी में रहनेवाला बतलाया गया है

वे दरअसल मनुष्य थे । जैन शास्त्रों में तो उनको ऐसा ही बताया है जैसे की पद्मपुराणजी के उपरोक्त उल्लेख से प्रकट है ।

नेपाल के इतिहास की एक अन्य कथा से यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि यह नागलोग वास्तव में मनुष्य ही थे । इस कथा में कहा गया है कि नेपाल के राजा हरिसिंहदेव का एक वैद्य एक दिन तालाब के किनारे स्नान कर रहा था कि इतने में ब्राह्मण का रूप धर कर नागों के राजा करकोटक वहां आये और उन वैद्य महाशय से साथ चलने की प्रार्थना करने लगे । कहने लगे कि 'वैद्यराज, हमारी स्त्री की आंखें दुख रही हैं; आप चल कर देख लीजिये ।' वैद्य महाशय ज्यों त्यों कर राजी हुये । वह दोनों दक्षिण पश्चिम की ओर एक तालाब के किनारे आये । नागराज ने वहां पर ब्राह्मण की आंखें बंद करके जो डुबकी लगाई तो दोनों के दोनों पातालपुरी नागाराज के दरबार में हाजिर हुये । नागराज बड़ी शान से आसन पर बैठे हुए थे, चमर ढोले जा रहे थे । उनने अपनी नागरानी को वैद्यराज को दिखाया। वैद्य महाशय ने उसकी आंखों का इलाज किया और वह अच्छी हो गई। नागराज ने प्रसन्न होकर वैद्य महाशय को भेंट दी और उन्हें सादर बिदा किया ।[२६] इस अपेक्षा यह स्पष्ट है कि यह नागलोग मनुष्य ही थे ।

नागवंशी राजाओं प्रभाव :

नागवंशी राजाओं का इतिहास अभी प्राय: अंधकार में है; परन्तु उस पर अब प्रकाश पड़ने लगा है । अब तक के प्रकाश से यह ज्ञान होता है कि इनका अस्तित्व महाभारत युद्ध के पहले से यहां था । जैन पद्म पुराण के पूर्वोलिखित उद्धरण से भी यही प्रकट है । सचमुच महाभारत के समय अनेक नागवंशी राजा यहां विद्यमान थे । तक्षक नागद्वारा परीक्षित का काटा जाना और जन्मेजय का

सर्प सत्र में हजारों नागों के होमने के हिन्दू रूपक इसी बात के द्योतक हैं कि नागवंशी तक्षक के हाथ से परीक्षित मारा गया था और उसके पुत्र जन्मेजय ने अपने पिता का वैर चुकाने के लिए हजारों नागों को मार डाला । तक्षक, कर्कोटक, धनंजय, मणिनाग आदि इस वंश के प्रसिद्ध राजा थे । विष्णु पुराण में नौ नागवंशी राजाओं का पद्मावती (पेहोआ, ग्वालियर राज्यमें), कांतिपुरी और मथुरा में राज्य करना लिखा है । वायु और ब्रह्मांड पुराण नागवंशी नव राजाओं का चंपापुरी में और सात का मथुरा में होना बतलाते हैं । क्षत्री और ब्राह्मण लोगों ने इनके साथ विवाह संबंध भी किए थे । इनकी कई शाखायें थी; जिनमें की एक टांक या टाक शाखाओं का राज्य वि.स. की १४ वीं और १५वीं शताब्दि तक यमुना के तट पर काष्ठा या काठा नगर में था । मध्य प्रदेश के चक्रकोट्य में वि. सं. की. ११ वीं से १४ वीं और कवर्धा नें १० वीं से १४ वीं शताब्दि तक नागवंशियों का अधिकार रहा था । इनकी सिंह शाखा का राज्य दक्षिण में रहा था। निजाम के येलबुर्ग स्थान में इनका राज्य १० वीं से १३ वीं शताब्दि तक विद्यमान था ।

राजपूताने में भी नाग लोगों का अधिकार रहा था ।[२७] उद्यान प्रान्त (पंजाब) में भी नागवंशियोंका राज्य था । वहां एक अपलाल नामक नागराजाका अस्तित्व बतलाया गया है ।[२८] काश्मीर के राना दुर्लभ (सन् ६२५ - ६६१) भी नगावंशी थे ।[२९] अहिच्छत्र (बरेली) में भी बुद्ध के समय नागराजाओं का राज्य था ।[३०] उसी समय बौद्ध गया में भी एक नागराजा का अस्तित्व बतलाया गया है।[३१] रामगाम (मध्य प्रांत) में भी इन राजाओं का राज्य होना एक समय प्रकट होता है ।[३२] फाहियान और ह्युनत्सांग, इन दोनों ही चीनी यात्रियों ने यहां पर नागराजाओं का होना लिखा है, जो बुद्ध के स्तूप की

रक्षा करते थे । ह्युनत्सांग लिखता है कि वे दिन में मनुष्य रूप में दिखाई पड़ते थे ।

इस उल्लेख से स्पष्ट है कि उस समय भी लोगों में इनके वस्तुत: नाग होने का भ्रम घुसा हुआ था, यद्यपि वस्तुत: यह नागलोग मनुष्य ही थे, जैसे कि ह्युनत्सांग के उक्त उल्लेख और जैन शास्त्रों के कथन से प्रकट है । लंका के बौद्धों का विश्वास है कि गंगा के मुहाने और लंका के मध्य के एक देश में नाग लोगों का राज्य था ।[१३] दक्षिण भारत के मजेरिका स्थान में भी नागों का निवास था ।[१४] तामिल के प्राचीन शास्त्रकारों ने तामिल के निवासियों को तीन भागों में विभक्त किया है और उनमें नाग लोग भी हैं । पल्लव वंश के प्राचीन राजाओं का भी इनसे संबंध था । तामिल देश का एक भाग नाग वंश की अपेक्षा नागनादु कहलाता था । सचमुच दक्षिण में और नागपुर के आस पास नागवंश के अधिपति अनेक थे । उनके विवाह संबंध शतवाहनों से भी हुये थे । (इन्डि. हिस्टा. क्वा. भाग ३ पृ. ५१८-५२०) मध्य प्रान्त के भोगवती आदि के नागराजाओं की पताका में सर्प का चिन्ह था । (इपी. इन्डिका १०।१५)

लंका के उत्तर-पश्चिम भाग में भी नागों का वास था । इसी कारण लंका का नाम 'नागद्वीप' भी पड़ा था । यहां पर ईसा से पूर्व ६ठी शताब्दि के भी पहले से वहां नागों का राज्य था । (Ancient Jaffna pp. 33-14) महात्मा बुद्ध जिस समय लंका गये थे, उस समय उनको वहां एक नागराजा ही मिले थे। तामिल के प्रसिद्ध काव्य 'शीलप्यत्यिकारम्' में दक्षिण के नाग राजाओं की राजधानी काचेरीपट्टन बतलाई गई है ।[१५] जैन कथा ग्रन्थों में भी इस कावेरीपट्टन का बहुत उल्लेख हुआ है । इस तरह ऐतिहासिक रूप में नाग लोगों का अस्तित्व प्राय: समग्र भारतवर्ष में ही मिलता है ।

नागवंश और उनके क्षेत्र का जैन धर्म से सम्बन्ध

जैन धर्म से नागवंश का घनिष्ट सम्बन्ध प्रारम्भ से ही प्रमाणित होता है । भगवान पार्श्वनाथ की इनमें विशेष मान्यता थी, यह हमारे उपरोक्त कथन से सिद्ध है । यदि स्वयं भगवान पार्श्वनाथजी का सम्पर्क इस कुल से रहा हो तो कोई आश्चर्य नहीं; क्योंकि शास्त्रों में इन भगवान को उग्रवंशी और काश्यप गोत्री लिखा है । उधर नागलोक को विविध वंशों में एक 'उरगस' नामक मिलता है; जो उग्र का प्राकृत रूप हो सकता है । हिन्दी में उग्र का प्रयोग 'उरग' रूप में हुआ मिलता भी है और यह नागलोकोवासी अपने आदि पुरुष 'कश्यप' बतलाते ही हैं । इस अपेक्षा यदि श्री पार्श्वनाथजी के कुल का सम्बन्ध इन नागलोकों से होना संभव है परंतु इसके साथ ही जैन शास्त्रों में इन्हें स्पष्टत: इक्ष्वाकु वंशी लिखा है, यह भी हमें भूल न जाना चाहिये । अत: इतना तो स्पष्ट ही है कि नागवंश का सम्बन्ध अवश्य ही भगवान पार्श्वनाथजी से किसी न किसी रूप में था । तथापि मथुरा के ककाली टीले से जो एक प्राचीन जैन कीर्तियां मिली हैं, उनमें कुशानसंवत् ९५ (ईसा की दूसरी शताब्दि) का एक आयागपट मिला है । इस आयागपट में एक स्तूप भी अंकित है जिसमें कई तीर्थंकरों के साथ एक पार्श्वनाथ स्वामी भी हैं । इनसे नीचे की और चार स्त्रियां खड़ी हैं, जिनमें एक नागकन्या है; क्योंकि उसके सिर पर नागफण है । कदाचित यह उपदेश सुनने आई हुई दिखाई गई हैं ।[१६] इससे भी नाग लोगों का मनुष्य और उनका जैन धर्म का भक्त होना स्पष्ट प्रकट है ।

सिंध प्रान्त के हरप्पा और मोहिनजोडेरो नामक प्राचीन स्थानों में जो खुदाई हाल में हुई है, उसमें चार-पांच हजार वर्ष ईसा से पूर्व की चीजें मिली हैं। इनमें के स्तूप आदि का सम्बन्ध अवश्य ही जैन धर्म से प्रकट होता है ।

इन्हीं में एक मुद्रा भी है, जिस पर एक पद्मासन मूर्ति की उपासना नाग छत्र को धारण किये हुए दो नागलोग कर रहे हैं । (देखो प्रस्तावना) इस मुद्रा से नागवंश का जैन धर्म प्रेम भगवान पार्श्वनाथ के बहुत पहले से प्रमाणित होता है। इसके अतिरिक्त जिस समय श्री कृष्णजी के पुत्र प्रद्युम्नकुमार विद्याधर पुत्रों से सताये जाकर बाहर निकले थे तो वहीं निकट के एक सहसवक नागने उनका सन्मान किया था तथापि वही अर्जुन वृक्ष पर के पांच फणवाले नागपति ने उनको पांच बाण आदि देकर सन्मानित किया था ।[३७] इस तरह यह नाग भी विद्याधरों के देश के थे और जिनेन्द्र भक्त प्रद्युम्न का जो इन्होंने मान किया था, उससे उनकी जैन धर्म से सहानुभूति प्रकट होती है।

'गरुड़ पंचमीव्रत कथा' में भी नाग लोगों का संबन्ध वर्णित है । उसमें मालव देश के चिंच नामक ग्राम के नागगौड़ की स्त्री कमलावती के पूछने पर एक मुनिराज ने वहां की नागबांवी में श्री नेमिनाथ और पार्श्वनाथ स्वामी की प्रतिमायें बतलाई थी ।[३८] यद्यपि यहां नागबांवी एक सर्प की बांबी बतलाई गई है; परन्तु पूर्व कथाकारों के वर्णनक्रम को ध्यान में रखते हुए इसका अर्थ नाग लोगों का निवास कहा जा सकता है। अस्तु; इस कथा से भी नाग लोगों का जिनधर्मी होना और भगवान नेमिनाथ व पार्श्वनाथजी से उनका विशेष संपर्क होना प्रकट होता है। श्री मल्लषेणाचार्यके 'नागकुमार चरित' में भी नागलोगों का सम्यक्तवी नागकुमार की रक्षा करने का उल्लेख है, यह हम पहले देख चुके हैं।[३९] आधुनिक विद्वान् भी इनको नागवंशी स्वीकार करते हैं । इसमें ध्यान देने योग्य बात यह है कि और सब राजाओं ने तो नागकुमार के साथ अपनी राजकुमारियोंका विवाह कर दिया था, किंतु पल्लववंशी राजाओं ने नहीं किया था । उनके ऐसा न करने का कारण यही कहा था कि स्वयं उनका विवाह नागकुमारियों से हुआ था । अत: नागकुमार का नागवंशी होना प्रकट है ।

हिन्दुओं के विष्णु पुराण में नौ नागराजाओं में भी एक का नाम नागकुमार है (I.H.Q.II.189) 'द्वादशीव्रत कथा' से भी यही बात प्रमाणित है। वहां कहा गया है कि मालवा देश के पद्मावती नगर का राजा नरब्रह्मा था, जिसकी विजयावती रानी से शीलवती नामक कुबडी कन्या थी। श्रमणोत्तम मुनिराज से पूर्वभव सुनकर उसने द्वादशीव्रत किया था। उसके दो पुत्र अर्ककेतु और चन्द्रकेतु थे। अर्ककेतु प्रख्यात् राजा बतलाया गया है, अन्त में इन सबके दीक्षा लेनेका जिकर है।[४०] इस कथा के व्यक्ति नागलोग ही मालूम होते हैं, क्योंकि पद्मावती नगर नागराजाओं की राजधानी था।[४१] यहां गणपतिनाग के सिक्के मिले हैं।[४२] साथ ही कतिपय 'वर्मांतनामवाले' राजाओं के तीन शिलालेख ग्वालियर रियासत से मिले हैं। इन राजाओं में एक राजा नरवर्मा नामक भी है, यह सिंहवर्मा का पुत्र है, परन्तु अभी तक इनके वंशादिक के विषय में कुछ पता नहीं चला है। उपरोक्त कथा के राजा नरब्रह्मा और इन नरवर्मा के नाम में बिल्कुल सादृश्यता है तथापि इनकी राजधानी जो पद्मावती बताई है, वह भी ग्वालियर रियासत में है। इसलिये इनका एक व्यक्ति होना बहुत कर के ठीक है। किन्तु इनके नागवंशी होने के लिए सिवाय इसके और प्रमाण नहीं है कि इनकी राजधानी पद्मावती में उस समय नागराजाओं का ही राज्य था और इतिहास से इनके वंशादि का पता चलता नहीं, इसलिये इन्हें नागवंशी कहना अनुचित न होगा।

नागवंशी राजाओं ने जो अपनी राजधानी का नाम पद्मावती रक्खा था, वह भगवान पार्श्वनाथजी की शासन देवी पद्मावती की स्मृति दिलाने वाला प्रगट होता है। यह भी नागवंशियों के जैन धर्म प्रेमी होने में एक संकेत कहा जा सकता है। भोगवती के नागराजाओं की ध्वजा का सर्प चिन्ह भी इसी का

द्योतक है; क्योंकि भगवान पार्श्वनाथ का लक्षण सर्प था। साथ ही वीशनगर (जैन शिलालेखों का भद्दिल नगर) से भी नाग राजाओं के सिक्के मिले है।[४३] और यह स्थान भगवान शीतलानथजी का जन्म स्थान था। यहां भी नागराजाओं का संबंध एक पूज्य जैन स्थान से प्रकट होता है। साथ ही अहिच्छत्र के राजा वसुपाल जैन धर्मानुयायी थे यह बात आराधना कथा कोष की एक कथा से प्रमाणित है।[४४] और अहिच्छत्र में नागराजाओं का भी राज्य था; संभव है, राजा वसुपाल भी नागवंशी राजा हो! किन्तु शिमोगा तालुका के कल्लूरगुड्ड ग्राम से प्राप्त सन् ११२२ के शिलालेख में गंगवंश की उत्पत्ति का जिकर करते हुये, उसी वंश के एक श्री दत्त नामक राजा को अहिच्छत्र पर राज्य करते लिखा है तथा यह भी उल्लेख है कि जब श्री पार्श्वनाथजी को केवलज्ञान हुआ, तब इस राजा ने उनकी पूजा की थी; जिससे इन्द्र ने प्रसन्न हो पांच आभूषण श्री दत्त को दिए थे और अहिच्छत्र का नाम विजयपुर भी प्रसिद्ध हुआ था। (देखो मद्रास व मैसूर जैन स्मार्क पृ. २९७) अत: उपरोक्त कथा के राजा वसुपाल उपरान्तके -संभवत: श्री महावीर स्वामी के समय में हुए प्रकट होते हैं, क्योंकि भगवान पार्श्वनाथजी से उनका कोई प्रकट सम्पर्क विदित नहीं होता। किंतु उपरोक्त श्री दत्त शिलालेख में स्पष्टत: इक्ष्वाकु वंशी लिखे गये हैं संभव है कि अपने प्राचीन सम्बन्ध को प्रकट करनेके लिए ऐसा लिखा हो; क्योंकि यह तो हमें मालूम ही है कि मूल में नागवंश का विकास इक्ष्वाकु वंश और काश्यप गोत्र से ही है।

करकंडु महाराज के चरित्र में दक्षिण भारत की एक वापी में से भगवान पार्श्वनाथ की प्रतिबिम्ब एक नागकुमार की सहायता से मिलने का उल्लेख है।[४५] दक्षिण भारत में नागराजओं का राज्य था और खासकर उस देश में जो गंगा के

मुहाने और लंका के बीच में था यह प्रकट है ।[४६] इसी देश में दंतिपूर अथवा दंतपुर को अवस्थित बतलाया गया है ।[४७] और उपरोक्त वापी इसी दंतपुर के निकट में थी । अतएव इस कथा में जिस नागकुमार का उल्लेख है वह देव न होकर मनुष्य ही होगा । इससे भी वहां के नागवंशियों का जैन धर्म प्रेमी होना प्रकट होता है । वहां नागदत्त को उज्जयिनी के राजा नागधर्म की प्रिया नागदत्ता का पुत्र लिखा है और कहा गया है कि वह सर्पों के साथ क्रीड़ा करने में बड़ा सिद्ध हस्त था । उनके पूर्व भव के एक मित्र ने गरुड़ का भेष रखकर उन्हें संबोधा था और वे मुनि हो गये थे ।[४८] यहां राजा, रानी और उनके पुत्र के नाम प्राय: नाग-वाची हैं और जैसे कि हम एक पूर्व परिच्छेद में देख आये हैं कि प्राचीन काल में नामोल्लेख के नियमों में एक नियम कुल व वंश अपेक्षा प्रख्याति पाने का भी था । उसी अनुसार नागवंशी होने के कारण राजा नागधर्म के नाम से प्रगट होगा और उसकी रानी भी अपने पितृ पक्ष की अपेक्षा नागदत्ता तथैव पुत्र अपनी माता के अनुरूप नागदत्त के नाम से प्रख्यात् होना चाहिये । इस प्रकार के नामोल्लेख के कई ऐतिहासिक उदाहरण मिलते हैं । राजा श्रेणिक की रानी चेलनी अपने पितृपक्ष की अपेक्षा 'वैदेही' अथवा 'विदेह दत्ता' रूप में और उनका पुत्र कुणिक अजातशत्रु अपनी माता के कारण 'विदेह पुत्र' के नामसे प्रगट हुये थे ।[४९] आराधना कथाकोष की एक अन्य कथा में पाटिलपुत्र के एक जिनदत्त नामक सेठ की स्त्री का नाम जिनदासी और उसके पुत्र का नाम जिनदास मिलता है ।[५०] यहां भी उक्त प्रकार नामोल्लेख होना स्पष्ट है । उज्जैन के आस पास दशपुर और पद्मावती में नागवंशियों का राज्य था वह प्रकट ही है ।

उक्त कथा के पात्र भी बहुत करके नागवंशी ही थे और नागदत्त जैन मुनि हुए; इससे उनका जैन धर्मी होना स्पष्टत: प्रकट है । उपरांत ऐतिरासिक काल के

नागवंशी राजा जैन स्वीकार किये गये हैं ।[५१] सेन्द्रक नागवंशी राजा भी जैन थे।[५२] इस प्रकार नागवंशी राजाओं का जैन धर्म से प्राचीन सम्बन्ध प्रकट है और यह संभव है कि भगवान पार्श्वनाथ का उपासक कोई परम भक्त नागवंशी राजा हो, जो शासन देव नागेन्द्र धरणेन्द्र के साथ भुला दिया गया हो ।

अहिच्छत्र से जो भगवान पार्श्वनाथ का सम्बन्ध बतलाया जाता है उससे भी यही अनुमान ठीक जंचता है; क्योंकि यह तो स्पष्ट ही है कि भगवान पार्श्वनाथ का केवलज्ञान स्थान प्रत्येक जैन शास्त्र में बनारस के निकट अवस्थित उनका दीक्षा वन बतलाया गया है । इसलिये अहिच्छत्र में जिस नागराज ने भगवान की विनय की थी और उन पर सर्प-फण कर युक्त छत्र लगाया था वह एक नागवंशी राजा ही होना चाहिये ।

नागवंशी लोगों के सर्प फण कर युक्त छत्र शीश पर रहता था वह पूर्वोलिखित मथुरा के आयागपट में की नागकन्या के उल्लेख से स्पष्ट है एवं वहीं की एक अन्य जैन मूर्ति में स्वयं एक नाग राजा का चित्र हैं और उसके शीश पर भी नाग फण का छत्र है । तिस पर चीन यात्री ह्युनत्सांग का कथन है कि बौद्धों का भी अहिच्छत्र से सम्बन्ध था । वहां वह एक 'नागहृद' बतलाता है जिसके निकट से बुद्ध ने सात दिन तक एक नाग राजा को उपदेश दिया था । राजा अशोक ने यहीं एक स्तूप बनवा दिया था ।[५३] आजकल वहां केवल स्तूप का पता चलता है जो 'छत्र' नाम से प्रख्यात है । इससे कनिंघम साहब यह अनुमान लगाते हैं कि नाग राजा के बौद्ध हो जाने पर उसने बुद्ध पर नाग फण का छत्र लगाया होगा, जिसके ही कारण यह स्थान 'अहिच्छत्र' के नाम से विख्यात हो गया ।[५४]

किन्तु यह यथार्थता से परे है । क्योंकि जैन शास्त्र के कथन से हमें पता चलता है कि वह स्थान महात्मा बुद्ध के पहिले से अहिच्छत्र कहलाने लगा था। हतभाग्य से कनिंघन साहब को जैन धर्म के बारे में कुछ भी परिचय प्राप्त नहीं था; उसी कारण वह अहिच्छत्र का जैन सम्बंध प्रगट न कर सके । अतएव ह्युनत्सांग के उक्त उल्लेख से यह तो स्पष्ट ही है कि अहिच्छत्र में नाग राजाओं का राज्य महात्मा बुद्ध के समय में मौजूद था और इस तरह उनका वहां पर प्राचीन अधिकार ही होना चाहिये । इसलिये अहिच्छत्र की तद्वत प्रख्याति भगवान पार्श्वनाथ की विनय नाग छत्र आदि लगाकर वहां के नागवंशी राजा ने की इस कारण हुई थी, यह स्पष्ट है । श्री भावदेव सूरि के कथन से इस विषय की और भी पुष्टि होती है । वह कहते है कि 'कौशल्य' वन में धरणेन्द्र ने आकर भगवान पार्श्वनाथ के शीश पर अपना फण फैलाकर कृतज्ञता ज्ञापन की थी, इसलिए वह स्थान 'अहिच्छत्र' कहलाने लगा ।[५५] यहां पर भाव नागराजा के विनय प्रदर्शन के ही हो सकते हैं क्योंकि हम भावदेवसूरि से पहले हुये वादिराजसूरि के अनुसार धरणेन्द्र की कृतज्ञता ज्ञापन का स्थान स्वयं बनारस ही देख चुके हैं । अस्तु, यह करीब करीब निश्चयात्मक रूप में कहा जा सकता है कि भगवान पार्श्वनाथ का परम भक्त धरणेन्द्र के अतिरिक्त एक नागराजा भी था।

सन्दर्भ

१ - डर जैनिसमस प्लेट नं. २७ ।

२ - पूर्व प्रमाण और करकंडु चरित में भी पद्मावती देवी को पांच फणवाला बतलाया है; यथा -

''समच्चियविपूजिविउज्झाइआव । समागयदेवय पोमावयताम ।
समच्चरलालसकोमल आणि-कुणंतियकाविअउव्वियभाउ ॥
विणिम्मियरूव समिद्धिखणेण सरीर इं रत्तिय सुद्धमणेण ।
करोहिं चउंहि करंतिगुल्ल - सवोछयर्भिग समुद मुणालु ॥

सकुंडलकण्णफुरंतकवोल - सण्णडरकिंकिणि मेहलरोल ।
फणीफण पंचसिरेणधरंति - पसणियणिम्मल कविकरंति ।।"

- संधि

४ - वृन्दावन विलास पृ. २१ ।
५ - जैन गुटका नं. ४४ आरा-बृहद् पद्मावतीस्तोत्र - पृ. २७-२८ ।
५ - एशियाटिक रिसर्चेज भाग ३ पृ. ५९ ।
६ - पूर्व पुस्तक पृ. ६४ ।
७ - पूर्व पुस्तक पृ. ५९ ।
८ - वृ. पद्मावतीस्तोत्र पृ. ३१ ।
९ - अकलंक चरित्र देखो ।
१० - आराधना कथाकोष भाग १ पृ. ५ ।
११ - वृन्दावनविलास पृ. २२-२३ ।
श्री बृहदपद्मावतीस्तोत्र में इसका उल्लेख इन श्लोको में है: -
विस्तीर्णे पद्मपीठे कमलदलश्रिते चित्तकामांगगुप्ते ।
लांतांगी श्रीसमेते प्रहसितवदने नित्यहस्ते प्रशस्ते ।।
रक्ते रक्तोत्पलांगी प्रविबहसि सदा वाग्भवेकामराजे ।
हंसारूढे त्रिनेत्रे भगवति वरदे रक्ष मा देवि पद्मे ।। १० ।।
जिह्वाग्रे नाशिकांते हृदि मनशि दशा कर्णयोगर्नाभिपद्म ।।
स्कंध कंठे ललाटे शिरसि च भुजयो वृष्ट पार्श्वप्रदेशे ।
सर्वांगोपांग सुख्यापयतिशय भुवनं दिव्यरूपं सुरूपं ।
ध्यायति सर्वकालं प्रणवलयुतं पार्श्वनाथेति शब्दे
लाइफ एण्ड स्टोरीज ऑफ पार्श्वनाथ, फुटनोट-पृ. ११८ और पृ. १६७ और हार्टऑफ जैनिज्म पृ. ३१३
१२ - भावदेवसूरिकृत श्रीपार्श्वचरित सर्ग ७ श्लो. ८२७..... और हेमचन्द्रचार्य का अभिधान चिन्तामणि ४३।
१३ - श्रीपार्श्वचरित सर्ग ६ श्लोक १९०-१९४ यहां धरणेन्द्रका ही नाम लिखा है ।
१४ - पूर्व पुस्तक सर्ग ७ श्लो. ८२७..
१५ - पूर्व पुस्तक, सर्ग ७ श्लोक ८२८
१६ - श्रीपार्श्वनाथ चरित्र (कलकत्ता) पृ. ४१५ श्री बृहद् पद्मावती स्तोत्रमें भी यही लिखा है यथा:-
'पातालाधिपति प्रिया प्रणयनी चिंतामणि प्राणिनां ।
श्रीमत्पार्श्व जिनेश शासनसुरी पद्मावती देवता ।।२।।
१७ - राजपूताने का इतिहास भाग १ पृ. २३० ।
१८ - पद्मपुराण पृ. ४०२ ।
१९ - नागकुमार चरित पृ. १७ ।
२० - इन्डियन हिस्ट्री क्वा. भाग ३ पृ. ५२१ ।
२१ - नागकुमार चरित पृ. १७ ।
२२ - दी हिस्ट्री ऑफ. नेपाल पृ. ७०-१७४ ।

२३ - पूर्व पुस्तक पृ. ७७ ।
२४ - श्री हरिवंशपुराण पृ. १६९ ।
२५ - दी हिस्ट्री ऑफ नेपाल पृ. ७९ ।
२६ - दी इन्डियन हिस्टॉरकली क्वार्टरली भाग १ पृ. ४५८
२७ - दी हिस्ट्री ऑफ नेपाल पृ. १७८ ।
२८ - राजपूतानेका इतिहास प्रथम भाग पृ. २३०-२३२ ।
२९ - कनिन्धम, ऐनशियेन्ट ऑफ इन्डिया पृ. ९५ ।
३० - पूर्व पुस्तक पृ. १०७ ।
३१ - पूर्व पुस्तक पृ. ४१२ ।
३२ - पूर्व. पृ. ४१४ ।
३३ - पूर्व. ४८३ ।
३४ - पूर्व. पृ. ४८४ ।
३५ - पूर्व पृ. ६११ ।
३६ - पूर्व. पृ. ६१५ ।
३७ - इन्डियन हिस्टा. क्वा. भाग ३ पृ. ५२७.
३८ - दी जैन स्तूप एण्ड अदर एण्टीक्वटीज ऑफ स्थुरा प्लेट नं. १२ ।
३९ - उत्तरपुराण पृष्ठ ५४७-५४८ ।
४० - जैनव्रतकथासंग्रह पृष्ठ १४२-१४४ ।
४१ - नागकुमारचरित पृष्ठ १७
४२ - जैनव्रतकथासंग्रह पृष्ठ १४८-१५१ ।
४३-राजपुतानका इतिहास प्रथम भाग फुटनोट पृष्ठ ११७ और पृ. २३० ।
४४ - मध्यभारत, मध्यप्रांतके प्राचीन जैन स्मारक पृ. ६९ ।
४५ - राजपुतानेका इतिहास पृ. १२५-१२६ ।
४६ - म. भा.के.प्रा. जैनस्मारक पृ. ६२ ।
४७ - भाग २ पृ. १०५
४८ - आ. कथा. भाग ३ पृ. २८० ।
४९ - कनिंधम ए.जा. इन्डिया पृ. ६५१ ।
५० - पूर्व. पृ. ५९३ ।
५१ - आराधनाकथाकोष भाग १ पृ. १४८ ।
५२ - हमारा भगवान महावीर पृ. १४३ .
५३ - आ. कथा. भाग ३ पृ. १६१ ।
५४ - ५५ स्टडीज इन साउथ इन्डियन जैनीज्म भाग २ पृ. ७४ ।
५६ - कनिंधम, एनशियेन्ट जागराफी ऑफ इन्डिया पृ. ४१२ ।
५७ - पूर्व प्रमाण ।
५८ - पार्श्वनाथचरित सर्ग १० श्लोक १४३.... ।

❑

नागवंशजों का परिचय

'पातालाधिपति प्रिया प्रणयिनी चिंतामणि प्राणिनां ।
श्रीमत्पार्श्वजिनेशशासनसुरी पद्मावती देवता ।।२२।।'

- बृहत्पद्मावती स्तोत्र

भगवान पार्श्वनाथ के शासन रक्षक यक्ष-यक्षिणी[1] धरणेन्द्र और पद्मावती देवयोनि के थे, यह हम प्रगट कर चुके हैं । साथ ही देख चुके हैं कि कोई नागवंशी राजा अलग अवश्य ही भगवान पार्श्वनाथ का भक्त था और भगवान पार्श्वनाथ से उस नागवंशी राजा का सम्बन्ध था; किन्तु प्रश्न यह है कि यह नागवंशी राजा कौन थे ? क्या यह भारतीय थे ? अथवा इनका निवास स्थान भारत के बाहिर था ? सौभाग्य से इन प्रश्नों का समाधान भी सुगमता से हो जाता है और यह ज्ञात होता है कि यद्यपि नागवंशी मूल में तो भारत के ही निवासी थे; परंतु उपरांत वह भारत में बाहर से ही आकर बस गये थे । जैन पद्मपुराण से हमको पता चला है कि जिस समय भगवान ऋषभदेव ने दीक्षा धारण कर ली थी, उस समय उनके निकट कच्छ-सुकच्छ के पुत्र नमि-विनमि आये और अन्यों की भांति राज्य देने की याचना उनसे करने लगे थे । इस मुनि अवस्था में ऋषभदेव जी पर यह एक तरह का उपसर्ग ही था । सो उनके पुण्य प्रभाव से वहां धरणेन्द्र आ उपस्थित हुआ और उसने नमि-विनमि को ले जाकर विजयार्ध पर्वत की दोनों श्रेणियों का राजा बना दिया और इनका वंश विद्याधर के नाम से प्रख्यात हुआ ।[2] विद्याधर वंश में अनेकों राजा हो गये । उपरान्त इनमें रत्नपुर अथवा रथनूपुर नगर के राजा सहस्रार का पुत्र इन्द्र नामक राजा हुआ । यह श्री मुनिसुव्रतनाथजी के तीर्थकाल में हुआ था । इन्द्र ने जितने

भी विद्याधर राजा उस समय चहुं ओर फैल गये थे, उन सबको वश किया और स्वर्गलोक के इन्द्र की तरह वह वहां राज्य करने लगा था । इसी इन्द्र ने अपने को बिल्कुल ही देवेन्द्रवत माना और उसकी तरह ही अपना साम्राज्य फैलाया । जिस प्रकार देवेन्द्र के नौ भेद सामानिक, पारिषद आदि होते हैं; वैसे ही इसने नियत किये थे तथा जितने और देव थे उनकी भी कल्पना इसने विद्याधर लोगों में क्षेत्र आदि अपेक्षा की और उनके स्थानों के नाम भी वैसे ही रक्खे ।[३]

पूर्व दिशा में जोतिपुर नगर में राजा मकरध्वज और रानी अदिति का पुत्र सोम लोकपाल नियत किया । राजा मेघरथ और रानी वरुणा के पुत्र वरुण को मेघपुर में पश्चिम दिशा का लोकपाल बनाया । कांचनपुर में किहकंध सूर्य और कनका के पुत्र पाश आयुधवाले कुबेर को उत्तर दिशा का लोकपाल निर्दिष्ट किया एवं किहकंधपुर में राजा बालाग्नि और रानी श्रीप्रभा का पुत्र यम दक्षिण दिशा का लोकपाल स्थापित किया । इसी तरह असुर नगर के विद्याधर असुर, यक्षकीर्ति नगर के यक्ष, किन्नर नगर के किन्नर इत्यादि रूप में देवों के भेदों के समान ही कहाये । इसी तरह नाग लोक अथवा पाताल के निवासी विद्याधर नाग, सुपर्ण, गरुड़, विद्युत आदि नाम से प्रख्यात हुये ।[४] इस प्रकार इस मनुष्य लोक में ही देवलोक की नकल की गई थी । विद्याधर लोग हम आप जैसे मनुष्य ही थे और आर्य वंशज क्षत्री थे ।[५] अस्तु, इस उल्लेख से नागवंशियों का आर्य वंशज मनुष्य होना प्रमाणित है और यह प्रकट है कि देव लोक की तरह नाग देश और वंश यहां भी मौजूद थे । अत: जैन कथाओं में के नागलोक मनुष्य भी हो सकते हैं; जैसे कि हम पूर्व परिच्छेद में देख चुके हैं ।

विजयार्ध पर्वत भरत क्षेत्र के बीचों बीच में बतलाया गया है । इस पर्वत और गंगा-सिंधु नदियों से भरत क्षेत्र के छह खण्ड हो गये हैं; जिनमें से बीच

का एक खण्ड आर्य खण्ड है और शेष सब म्लेच्छ खण्ड हैं ।[६] भरत क्षेत्र का विस्तार ५२६ ६/१९ योजन कहा है और एक यौजन २००० कोस का माना गया है।[७] अतएव कुल भरत क्षेत्र आजकल की उपलब्ध दुनियां से बहुत विस्तृत ज्ञात होता है । इस अवस्था में उपलब्ध पृथ्वी का समावेश भरत क्षेत्र के आर्य खण्ड में ही हो जाना संभव है और इसमें विजयार्ध पर्वत का मिलना कठिन है । श्रीयुत पं. वृन्दावनजी ने भी इस विषय में यही कहा था कि - "भरत क्षेत्र की पृथ्वी का क्षेत्र तो बहुत बड़ा है । हिमवत कुलाचलतैं लगाय जंबूद्वीप की कोट ताईं, बीचि कछू अधिक दश लाख कोश चौड़ा है । तामें यह आर्यखण्ड भी बहुत बड़ा है यामैं बीचि यह खाड़ी समुद्र है, ताकूं उपसमुद्र कहिये है ।..... अर अवार आयु काय निपट छोटी है । ताका गमन भी थोरे ही क्षेत्र होय है ।"[८] श्रीमान् स्व. पूज्य पं. गोपालदासजी बरैया भी वर्तन की उपलब्ध दुनियां को आर्य खण्ड के अन्तर्गत स्वीकार करते हुये प्रतीत होते हैं । (देखो जैनहितैषी भाग ७ अंक ६) तथापि श्री श्रवणबेलगोला के मठाधीश स्व. पंडिताचार्यजी भी इस मत को मान्यता देते थे । उन्होंने आर्य खण्ड को ५६ देशों में विभक्त बताया था, जिनमें अरब और चीन भी सम्मिलित थे । (देखो एशियाटिक रिसर्चेज भाग ९ पृ. २८२) तिस पर मध्य एशिया, अफरीका आदि देशों का 'आर्यन' अथवा 'आर्यबीज'[९] आदि रूप में जो उल्लेख हुआ मिलता है वह भी जैन शास्त्र की इस मान्यता का समर्थक है कि यह सब प्रदेश जो आज उपलब्ध हैं प्राय: आर्यखण्ड के ही विविध देश है ।

आगे पाताल का स्थान नियत करते हुये इसका और भी अधिक स्पष्टीकरण हो जायगा । यहां पर विजयार्ध पर्वत की लंबाई-चौड़ाई पर भी जरा गौर कर लेना जरूरी है । शास्त्रों में कहा है कि विजयार्ध २९ योजन ऊंचा और

भूमि पर ५० योजन चौड़ा है । भूमि से १० योजन की ऊंचाई पर इसकी दक्षिणीय और उत्तरीय दो श्रेणियों हैं जिन पर विद्याधर बसते हैं और जैन मंदिर हैं ।[१०] यह पूर्व-पश्चिम समुद्र से समुद्र तक विस्तृत है और चांदी के समान सफेद है ।[११] इस तरह विजयार्ध पर्वत ५० हजार कोश ऊंचा प्रमाणित होता है; किन्तु आजकल ऊंचे से ऊंचा पहाड़ तीस हजार फीट से ज्यादा ऊंचा नहीं है ।

आजकल के हिमालय की ऐवरेस्ट नामक चोटी ही दुनिया में सबसे ऊंची समझी जाती है और यह २९००२ फीट ऊंचाई में हैं ।[१२] हिमालय के बारे में यह भी कहा जाता है कि वह पूर्व-पश्चिम समुद्र से समुद्र तक विस्तृत है;[१३] परन्तु इस सादृश्यता के साथ उसका और वर्णन विजयार्ध से नहीं मिलता तथापि उसका इतना विस्तार अर्वाचीन है, क्योंकि यह कहा गया है कि एक जमाने में हिमालय का अधिकांश भाग जलमग्न था ।[१४] नेपाल प्रदेश एक जलकुंड अथवा ह्रद था, यह नेपाल वासियों का भी विश्वास है ।[१५] अतएव यह स्पष्ट है कि उपलब्ध दुनियां में विजयार्ध का पता लगाना कठिन है और इस हालत में उपलब्ध प्रदेश आर्य खण्ड ही प्रकट होता है ।

हिन्दू पौराणिकों ने इन्द्र की राजधानी और उसके उद्यान आदि उत्तरीय ध्रुव में स्थित बतलाये हैं । स्वर्गादि की कल्पना भी उन्होंने वहीं की है ।[१६] यह इन्द्र और स्वर्ग आदि देवलोक के होना अशक्य हैं; क्योंकि हिन्दू शास्त्रों में भी इनको अपर (ऊर्ध्व) लोक में बतलाया है । अतएव यह इन्द्र और उसके स्वर्ग आदि जैन शास्त्रों के इन्द्र, विद्याधर और उसके स्थापित किए हुए नकली स्वर्गादि ही प्रकट होते हैं । इस अवस्था में विजयार्ध उत्तर ध्रुव में कहीं पर अवस्थित होना चाहिये । उत्तर ध्रुव की अभी तक जो खोज हुई है उससे यह तो प्रकट हो गया है कि वहां पर भी किसी जमाने में बड़े सभ्य मनुष्य रहते थे;

क्योंकि वहां पर उजड़े नगरों के खण्डहर और शिल्प निपुणता की अनूठी मूर्तियां भी मिली हैं । कालदोष से वहां के निवासियों का पता आजकल अभी तक नहीं चला है; किन्तु हिन्दू पुराणों के एक समय में नीचे की ओर यूरोप और मध्य एशिया आदि की और हटते आये थे ।[१७] पदार्थ विज्ञान के इतिहास से भी यह पता चलता है कि एक जमाने में बर्फ की अधिक प्रधानता हो गई थी और उस 'शीतकाल' में संसार के निवासियों में हलचल मची थी ।[१८] इस तरह जैन शास्त्रों के कथन की एक तरह से पुष्टि ही होती है; क्योंकि वे मूल में विद्याधरों का राज्य विजयार्ध पर बतलाते हैं और उपरान्त में उनको तमाम यूरोप, अफरीका और मध्य एशिया में फैल गया निर्दिष्ट करते हैं ।[१९]

मध्य एशिया, तुर्किस्तान, और तातार देश के निवासी अपने को जो एक काश्यप नामक पुरुष का वंशज बतलाते हैं;[२०] वह भी जैन मान्यता का समर्थन करता है, क्योंकि भगवान ऋषभदेव का गोत्र काश्यप था और उनसे याचना करने पर ही विद्याधर वंश के आदि पुरुष नमि-विनमि को राज्य मिला था । इन देशों के निवासी असुर, दैत्य, नाग आदि विद्याधर वंशज थे, यह हम ऊपर देख ही आये हैं, जिनका अस्तित्व वैदिक काल से लेकर पौराणिक समय तक बराबर मिलता है ।[२१]

यहां तक के कथन से यद्यपि विजयार्ध और आर्य खण्ड के संबंध में कुछ मालूम हो गया है, पर अभी तक नागों के निवासस्थान पाताल लोक के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं हुआ है । आधुनिक विद्वानों ने दैत्य, दानव, असुर, नाग, गरुड़ आदि का निवास स्थान हूण जातियों का मूलगृह मध्य ऐशिया और तुर्किस्तान बतलाया है ।[२२] उनके अनुसार नाग, गरुड आदि सब ही हूण अथवा शक जातियों के ही भेद हैं । इसको उन्होंने सप्रमाण सिद्ध भी किया है ।

उनका यह कथन जैन शास्त्रों से भी ठीक ही प्रतिभाषित होता है, यह हम यहां पर पाताल के विषय में विचार करते हुए निर्दिष्ट करेंगे ।

राक्षस द्वीप और राक्षस वंश

पद्म पुराण में श्री रामचन्द्रजी व रावण का चरित्र वर्णित है । संक्षेप में उस पर एक नजर डाल लेना हमारे लिये परमावश्यक है । अस्तु; इसमें लिखा है कि सम्राट् सगर चक्रवर्ती के समय में विजयार्ध की दक्षिण श्रेणि में एक चक्रवाल नगर का राजा पूर्णधन था । विहाय लक नगर के राजा सहस्रनयन ने सम्राट् सगर की सहायता से इसे तलवार की घाट उतार दिया । इसका पुत्र मेघवाहन भागकर भगवान अजितनाथजी के समवशरण में पहुंचा । वहां पर राक्षस देवों के इन्द्र भीम और सुभीम उससे प्रसन्न हुये और उसे लवण समुद्र में के अनेक अन्तर द्वीपों में से एक राक्षस द्वीप का अधिपति बना दिया । यह राक्षस द्वीप सात सौ योजन लम्बा और चौड़ा बताया गया है और इसके मध्य में त्रिकूटाचल पर्वत बतलाया है । यहां योजन का परिमाण प्रतियोजन चार कोश समझना उचित है । यह त्रिकूटाचल पर्वत रत्न जटित था । इसी पर्वत के तले ३० योजन प्रमाण लंका नामक नगरी थी, जिसके अनेक उद्यान और कमलों से मंडित सरोवर थे । यहां जिनेन्द्र भगवान के अनुपम चैत्यालय भी थे। यह दक्षिण दिशा का तिलक रूप नगर था । मेघवाहन आनन्द से यहां रहने लगे थे । इसके साथ ही उनको पाताल लंका भी मिली थी । यह धरती के बीच में और इसका मुख्य नगर अलंकारोदयपुर ६ योजन औडा और १३१ ।। योजन चौड़ा था । मेघ वाहनने लंका तो अपनी राजधानी बनाई और पाताल लंका भय निवारण का स्थान नियत किया । जिस समय मेघवाहन विमान में बैठकर लंका को चले थे तो उनकी बीच में श्यामवर्ण का लवण समुद्र पड़ा था ।

मेघवाहन महारक्ष को राज्य दे मुनि हुए । महारक्ष के अमररक्ष उदधिरक्ष, भानुरक्ष ये तीन पुत्र हुए । महारक्ष भी दीक्षा ले गए, सो अमररक्षक राजा हुये और युवराज पद पर भानुरक्ष नियत हुये । अमररक्ष का विवाह किन्नरनाद नगर के श्रीधर विद्याधर राजा की पुत्री अरिजया से हुआ था । गंधर्वगीत नगर के सुरसन्निभ राजा की गंधर्वा पुत्री भानुरक्षने परणी थी । बड़े भाई के दश पुत्र और छह पुत्री थीं इतने ही संतान छोटे भाई के थे । पुत्रों ने अपने अपने नाम के नगर बसाये सो कुल इस प्रकार थे :-

१. संध्याकार, २. सुदेव, ३. मनोह्लाद, ४. मनोहर, ५. हंसद्वीप, ६. हरि, ७. जोध, ८. समुद्र, ९. कांचन, १०. अर्धस्वर्म, ११. आवर्त, १२. विघट, १३. अम्मोद, १४. उत्कट, १५. स्फुट, १६. रतुगृह, १७. तद्य, १८. तोय, १९. आवली और २०. रत्नद्वीप ।

अमररक्ष और भानुरक्ष भी मुनि हो गए । उपरान्त बहुत राजाओं में एक रक्ष जिसका पुत्र राक्षस हुआ । इन्हीं के नामसे इस वंश के राजा 'राक्षस' कहलाने लगे । राक्षस के दो पुत्र आदित्य गति और कीर्तिधवल हुये । विजयार्ध दक्षिण श्रेणी के मेघपुर के राजा अतीन्द्र के पुत्र श्रीकंठ ने अपनी मनोहर देवी कन्या कीर्तिधवल को दे दी; पर रत्नपुर के पुष्पोतर राजा उसे अपने पुत्र पद्मोत्तर के लिये चाहते थे । श्रीकंठ ने सुमेरु यात्रा करते हुए पद्मोन्तर की बहिन पद्माभा को देखा सो वह उसे उठा लाया । इस पर लड़ाई हुई, पर पद्माभा के कहने से संधि हो गई । कीर्तिधवल के आधीन निम्नदेश थे :-

संध्याकार, सुबेल, कांचन, हरिपुर, जोधन, जलधिध्यान, हंसद्वीप, भरक्षम, अर्धखर्ग, कूटावर्त, विघट, रोधन, अमलकांत, स्फुटतट, रत्नद्वीप, तोयावली, सर, अलंबन, नभोभा, क्षेम इत्यादि ।

वानर वंश

श्रीकंठ उपरोक्त संधि में अपना राज्य खो बैठा था, सो कीर्तिधवल ने इसे लंका से उत्तर भाग तीन सौ योजन समुद्र के मध्य वानर द्वीप, जिसके मध्य किहुकुंदा पर्वत था, वह दिया । इस द्वीप में वानर मनुष्य समान क्रीड़ा करते थे । श्रीकंठ ने उन्हें पाला और किहुकंद पर्वत पर किहुकंद नगर बसाया । इसके उत्तराधिकारियों में एक अमरप्रभ राजा हुआ, जिसने लंका के राजा की पुत्री गुणवती से विवाह किया था । इसीने अपनी ध्वजा में 'वानर' चिन्ह रखना प्रारम्भ किया, जिससे इसके वंशज वानरवंशी कहलाने लगे थे । इसने विजयार्ध के सारे राजाओं को जीता था । उपरांत अनेक राजाओं के बाद इस वंश में एक राजा महोदधि नामक श्रीमुनि सुव्रतनाथजी (२०वें तीर्थंकर) के समय में हुआ था । इनके समय में लंका का राजा इनका मित्र विद्युतकेश था । फिर एक किहकंध नामक राजा हुआ । इसे लाल मुखवाला विद्याधर लिखा है।[२३] इसे विद्याधरों ने हराया था, सो यह वानर द्वीप छोड़ पाताल-लंका में आया था । राक्षसवंशी भी वहीं पहुंचे । निर्घात लंका का राजा हुआ । बहुत दिन पाताल-लंका में रहते किहुकंध का जी ऊब उठा । उसने दक्षिण समुद्र के तट पर करनतट वन के पहाड़ पर किहुकंध पुर नगर बसाया । कर्ण पर्वत पर इसके जमाई ने वर्णकुण्डल नगर बसाया ।

पाताल लंका के स्वामी सुकेश के तीन पुत्र थे माली, सुमाली और माल्यवान । निर्घात् के कुटुम्बी दैत्य कहलाते थे, सो इनसे उक्त तीन पुत्रों ने लंका वापस जीत ली । यज्ञपुर के विश्रव कौशिकी के पुत्र वैश्रवण को वहां का राजा बनाया ।

रावण और उनका प्रभाव

पाताल लंका में सुमाली का रत्नश्रवा रहा । इसने पुष्पक वन में विद्या साधी । वहां केसकी नामक राजपुत्री इसकी सेवा में रही । विद्या सिद्ध होने पर इसने वहीं पुष्पांतक नगर बसाया । इन्हीं के यहां रावण का जन्म हुआ । बालपने में रावण ने उस हार को उठा लिया था जिसकी रक्षा एक हजार नागकुमार करते थे । उपरांत इसने भीम नामक वन में एक स्वयंप्रभ नामक नगर बसाया था । रावण का विवाह विजयार्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी के नगर असुर संगति के राजा मय की पुत्री मंदोदरी से हुआ था । राजा मय विद्याधर ही था, परंतु दैत्य कहलाता था । लंका के राजा वैश्रवण के वंशज यक्ष कहलाते थे । वैश्रवण और रावण में युद्ध हुआ था, जिसमें वैश्रवण की पराजय हुई थी । लोग उसे रणभूमि से उठाकर यक्षपुर ले गए थे । वहां उसने दिगम्बरी दीक्षा धारण कर ली थी । पुष्पक के मध्य एक महा कमलवन है सो वहां से विमान में बैठकर रावण दक्षिण समुद्र की ओर लंका को चला और त्रिकूटाचल पर्वत पर पद्मरागमणिमई चैत्यालय देखे ।

इधर सूर्यरज और रक्षरज वानर वंशियों ने भी पाताल लंका के अलक नगर से निकलकर किहकूपुर वानर द्वीप में जा घेरा । राजा इंद्र के दिक्पाल यम ने उनसे युद्ध किया, जिसमें वानरवंशी कैदी हुए । मेघल वन में नरक नामक बंदी गृह में यह कैद रक्खे गए । इस पर रावण ने यम को आ घेरा । यम भागकर राजा इंद्र के पास रथनूपुर जा पहुंचा । रावण लौटकर त्रिकूटाचल पर्वत को चला गया, जहां से समुद्र दिखाई पड़ता था । उपरांत किहकंधपुर में वानरवंशी सूर्यरज के पुत्र बाली और सुग्रीव हुए । पाताल लंका में खरदूषण रावण का बहनोई राज्याधिकारी हुआ ।

पाताल-लंका में मणिकांत पर्वत था । बाली वैराग्य पा मुनि हो गये, रावण दिग्विजय को निकले सो सुग्रीवने उससे मैत्री कर ली । पहले उनने अंतरद्वीप वश किये फिर संध्याकार, सुबेल, हेमा, पूर्ण, सुयोधन, हंसद्वीप, बारिहव्यादि देशों के विद्याधर राजाओं से उन्होंने भेंट ली । उपरान्त रथनूपुर के राजा इंद्र को वश करने रावण चला सो पहले अपने खरदूषण बहनोई के पास पाताल लंका में डेरा डाले । हिडम्ब, हैहिडिम्बं, विकट, त्रिनट, हयमाकोट, सुजट, टेक, सुग्रीव, त्रिपुर, मलय, हेमपाल, कोल, वसुंदर इत्यादि राजा उसके साथ थे । खरदूषण कुंभ, निकुम्भ, आदि राजाओं के साथ इनके साथ हो लिया । यहां से निकलकर रावण को सूर्यास्त विंध्याचल पर्वत के समीप हुआ। नर्मदा के तट रावण ठहर गये । वहां माहिष्मती के राजा सहस्ररश्मिकी केलि-क्रीड़ा से रावण की पूजा में विघ्न हुआ सो उनमें युद्ध छिड़ गया । भूमिगोचरी सहस्ररश्मि पकड़ा गया । शतबाहु मुनि के कहने से रावण ने उसे छोड़ दिया । परंतु उसने पुत्र को राज्य दे मुनि दीक्षा ग्रहण कर ली । फिर रावण ने उत्तर दिशा के सब राजा वश किये ।

राजपुर नगर का मरुत यज्ञ कर रहा था, नारद के समझाने पर भी वह नहीं माना था । रावण ने उसको भी वश किया । इतने में वर्षा ऋतु आई; सो रावण ने गंगा तट पर ठहरकर बिताई । यहीं उसने अपनी पुत्री कृतचित्रा मथुरा के राजा मधु को विवाह दी थी । यहां से ही उसने सम्मेदशिखर की वंदना की थी और फिर आगे चलकर वह कैलाश के समीप पहुंचा था । यहां पर इंद्र का दिग्पाल दुर्लंधिपुर का स्वामी नलकूबर रावण का सामना करने को आया । उसने इंद्र को भी खबर भेज दी । इंद्र उस समय पांडु वन के चैत्यालयों की वंदना कर रहा था । उसने आने की तैयारी की; इतने में नलकूबर परास्त हो

गया । रास्ता साफ पा रावण आगे वैताड्य पर्वत पर पहुंचे । इंद्र ने भी रावण को नजदीक आया जानकर सिर पर टोप रखकर रणभेरी बजवा दी । संग्राम छिड़ गया । रावण के योद्धा बज्रवेग, हस्त, प्रहस्त, मारीचि, उद्भव, बज्र, वक्र, शुक्र, सारन, महाजय आदि थे । इन्द्र के मेघमाली, तडसंग, ज्वलिताक्ष, अरि, खेचर, पाचकसिंहन आदि थे । इंद्र की पराजय हुई । रावण लौट कर लंका जाने लगा । रास्ते में गंधमान पर्वत देखा । इधर इन्द्र मुनि होकर अन्तत: मोक्ष को गए ।

इस तरह रावण आनन्द से पातालपुर के समीप तिष्ठता राज्य कर रहा था कि पाताल नगर के राजा वरुण से रावण का युद्ध हुआ था । इसी समय अपने मामा के यहां हनुरुद्ध द्वीप में जन्म पाकर बड़े हुये हनुमान भी लंका आये थे । बीची पर्वत इनको मार्ग में पड़ा था । उपरान्त वह समुद्र को भेद कर वरुण के नगर पर पहुंचे थे । युद्ध में वरुण पकड़ा गया था । वहां के भवनोन्माद वन में रावण ने डेरा दिये थे और उसकी सत्यवती कन्या को परणा था । हनुमान को रावण ने अपनी धेवती विवाही थी और उसे कर्णकुण्डलपुर का राज्य दिया था। लंका में लौटकर शांतिनाथजी के चैत्यालय की वंदना कर रावण आनन्द से रहता था ।

अयोध्या के इक्ष्वाक् वंशी राजा थे

सुकौशल देश की राजधानी अयोध्या में इक्ष्वाक् वंशी राजा दशरथ राज्य करते थे । इन्हीं के समय में अर्ध बरबर देश के म्लेच्छों ने भारत वर्ष पर आक्रमण किया था । अर्ध बरबर देश वैताड्य के दक्षिण भाग में और कैलास के उत्तर में अवस्थित अनेक अन्तर देशों में एक था । यहां मयूरमाला नगर का राजा म्लेच्छ अन्तर्गत नामक था । कालिंद्रीभागा नदी की ओर यह विषम

म्लेच्छ थे । इनके साथ किरात, भील आदि थे । इन म्लेच्छों में श्याम, कर्दम, ताम्र आदि वर्ण के लोग थे तथा कई एक वृक्षों के वल्कल पहिने हुए थे । दशरथ जनक, राम और लक्ष्मण ने इनको हराया और यह विन्ध्याचल आदि गहन स्थानों में बस गए । राम जब वनवास के दिन काटते हुए दक्षिण भारत में पहुंचे, तो वहां इनको उन्होंने परास्त किया था । उपरांत दंडकवन से रावण सीता को हर ले गया था । इधर खरदूषण का पुत्र अज्ञात लक्ष्मण के हाथ से मारा गया था; सो खरदूषण इन पर चढ़ आया था । आखिर इस युद्ध में वही काम आया था । चन्द्रोदय के पुत्र विरीधित विद्याधर के कहने से राम-लक्ष्मण पाताल लंका पहुंचे थे । उधर वहां से आकर किहकंधापुर के राजा सुग्रीव की सहायता राम-लक्ष्मण ने की, सो सब वानर वंशी इनके सहायक हो गये थे । इसी समय कौंचपुर के राजा यक्ष और रानी राजिलता का पुत्र यक्षदत्त था । वह एक स्त्री पर मोहित था । ऐनमुनि के समझाने से वह मान गया था ।

उपरांत किहकंधापुर से हनुमानजी सीताजी का पता लगाने चले, तो पहले उन्होंने महेन्द्रपुर में अपने मामा को वश किया था । उनको रामचंद्रजी के पास भेजकर फिर वह आगे बढ़े और उसे दधिमुख द्वीप पड़ा था, जिसमें दधिमुख नगर था । वहां निकट आग लगे वन में दो मुनिराज व तीन कन्यायें हनुमानजी ने देखीं थी । उनका उपसर्ग उन्होंने दूर किया था । दधिमुख नगर के राजा यक्ष की वे तीन कन्यायें थीं । आखिर उनको रामचंद्र ने परणा था । फिर हनुमान लंका पहुंच गए थे । प्रमदवन में उसने सीता को देखा था । हनुमान सीता की खबर ले जब लौट आए तब राम-लक्ष्मण ने लंका पर चढ़ाई की थी। वे पहले बेलंधरपुर पहुंचे थे और वहां के समुद्र नामक राजा को परास्त किया था । फिर सुबेल पर्वत पर सुबेल नामक विद्याधर को वश किया था । उपरांत

अक्षय वन में रात्रि पुरी की थी । आगे चले तो लंका दूर से दिखाई पड़ी । हंस द्वीप में डेरा डाले और वहां के हंसरथ राजा को जीता । हंस द्वीप के आगे रणक्षेत्र रच दिया।

रावण के सेनापति अरिंजयपुर नगर के राजा के दो पुत्र थे । यह अपने पूर्वभवों में एकदा कुशस्थल नगर में निर्धन ब्राह्मण जिन धर्म से पराङ्मुख थे । जैनी मित्र के संयोग से जैनी हुये और फिर अन्य भव में तापस होकर अरिंजय नगर के राजा के पुत्र हुये थे । रावण से युद्ध हुआ । सुग्रीव और भामण्डल शक्तिहीन हुये तो गरुडेन्द्र को रामचन्द्र ने याद किया । उसने सिंह वाहन और गरुड़ वाहन नामक देव भेजे; जिनके प्रताप से सुग्रीव भामण्डल का नागपाश दूर हुआ । गरुड़ के पंखों की पवन क्षीरसागर के जल को क्षोभरूप करने लगी सो वह नाग वहां से विलीन हो गए । इन्द्र नीलमणि की प्रभा से युक्त रावण उद्धत रूप से संग्राम करने लगा, विद्या साधने लगा और फिर आखिर मृत्यु को प्राप्त हुआ था । लक्ष्मण ने कुबेर के राजा बालखिल्य की पुत्री कल्याण माला से यहीं विवाह किया था और फिर लवण समुद्र लांघकर अयोध्या पहुंचे थे । इस तरह श्री पद्मपुराण में यह कथन है । अब इस कथन के आधार से हमें पातालपुर का पता लगाना सुगम हो जाता है ।

पाताल लंका

उपरोक्त कथन से यह स्पष्ट है कि भारत से दक्षिण पश्चिम की ओर लंका थी और लंका पहुंचने के पहले पाताल लंका पड़ती थी, क्योंकि पाताल लंका ही रावण को दिग्विजय के लिए निकलते समय पहले आई थी । फिर पाताल लंका से खरदूषण ने राम-लक्ष्मण पर जो दंडकवन में आक्रमण किया था, सो उसकी खबर रावण को नहीं हुई थी; क्योंकि पाताल लंका से भारत आते हुये

बीच में लंका नहीं पड़ती थी - वह उससे ऊपर रह जाती थी यह प्रगट होता है। किंतु हनुमानजी को लंका जाते हुये मार्ग में पाताल लंका नहीं पड़ी थी; इसका यही कारण हो सकता है कि वे दूसरे मार्ग से गये थे । यही बात राम-लक्ष्मण के आक्रमण की समझना चाहिये । वहां भी पाताल लंका का उल्लेख नहीं मिलता है; किंतु यहां यह संभव है कि वे पाताल लंका तक पहुंच ही न पाये हों और हंस द्वीप में रणभूमि रचकर बैठ गए हो, जो पाताल लंका के इतर भाग में हो । इस विषय में निश्चय रूप से जानने के लिए हमें देखना चाहिए कि सक्षम द्वीप अथवा लंका और पाताल लंका कहां पर थे ?

आजकल की मानी हुई लंका (Ceylon) तो यह हो नहीं सकती; क्योंकि भारत से प्राचीन लंका तक पहुंचने में कितने ही द्वीप पड़ते थे । जब रावण सीता को हरकर लिये जा रहा था तो बीच समुद्र में रत्नजटी विद्याधर ने उसका मुकाबिला किया था और वह परास्त होकर कम्पू द्वीप में जा गिरा था ।[२४] और फिर उसे अनेक अंतर द्वीपों में से एक बताया गया है । मौजूदा लंका एक अंतर द्वीप न होकर द्वीप है । जिस पर प्राचीन कथाओं में इसका उल्लेख रत्नद्वीप और सिंहल द्वीप के नाम से हुआ मिलता है[२५] और इसमें त्रिकूटाचल पर्वत भी कहीं दिखाई नहीं पड़ता है । इसलिये यह राक्षस वंशियों के निवास स्थान जो सन्ध्याकार आदि बताये गये हैं, उनमें, का रत्नद्वीप ही होगा, यह उचित प्रतीत होता है । इस अपेक्षा से राक्षसों के इन आसपास के स्थानों को छोड़कर कहीं दूर अंदर देश में लंका और पाताल लंका होना चाहिये ।

शंख द्वीप

हिन्दू पुराणों में शंख द्वीप में राक्षसों और म्लेच्छों का निवास बतलाया है और अन्ततः राक्षसों की अपेक्षा ही उन्होंने उस स्थान का नाम 'राक्षस स्थान'

रख दिया है ।[२५] हिन्दू शास्त्रों में यह राक्षस लोग भयानक देव बतलाये गये हैं।[२६+] परंतु बात वास्तव में यूं नहीं है । यह मनुष्य विद्याधर ही थे । हिन्दू शास्त्रकारों ने इनका उल्लेख भयानक राक्षसों और म्लेच्छों के रूप में केवल पारस्परिक स्पर्धा से ही किया है, क्योंकि हम जानते हैं कि यह विद्याधर जैन धर्मानुयायी थे । रामायण में स्पष्ट स्वीकार किया गया है कि राक्षस-दैत्य आदि यज्ञ में जानकर विघ्न उपस्थित करने लगे थे और ऊपर जैन पद्मपुराण के वर्णन में हम देख आये हैं कि राक्षस वंशी रावण ने यज्ञ कार्य बंद कराया ही था । इस अपेक्षा यह स्पष्ट है कि विद्याधर मनुष्यों को राक्षस आदि देवयोनि के बतलाना केवल पारस्परिक स्पर्धा के ही कारण था । यज्ञवल्क्य ने, इसी स्पर्धा के कारण गंगा की तराई में रहनेवाले मनुष्यों अथवा पूर्वीय आर्यों को जो बहुतायत से काशी, कौशल, विदेह और मगध में वेद विरोधी बने रहते थे और जो बहुत करके जैन ही थे 'भृष्ट' संज्ञा से विभूषित किया था ।[२७] सारांशतः यह स्वीकार किया जा सकता है कि शंख द्वीप में रहनेवाले राक्षस और म्लेच्छ वास्तव में आर्य मनुष्य ही थे और प्रायः जैन धर्मानुयायी थे ।

राक्षस स्थान - राक्षस द्वीप

अब देखना यह है कि शंख द्वीप में का यह राक्षस स्थान कहां पर है ? एक यूरोपीय प्राच्य विद्या विशारद शंख द्वीप को आजकल का मिश्र (Egypt) सिद्ध करते हैं और उसी में राक्षस स्थान प्रमाणित करते हैं ।[२८] वह राक्षस स्थान वही प्रदेश बतलाते हैं जिसको यूनान वासियों ने रॉकोटिस (Rhacotis) संज्ञा दी थी अथवा जिसको उन्हीं का भूगोलवेत्ता केडरेनस (Cedrenus) 'रॉखास्तेन' (Rhakhasten) नाम से उल्लेखित करता है ।[२९] यह स्थान मौजूदा अलेक्झांड्रिया के ही स्थल की ओर था और प्राचीन काल में अवश्य ही विशेष

महत्व का स्थान रहा होगा, क्योंकि भूगोलवेत्ता लिनी (Pliny) बतलाता है कि मेसफीस (Mesphes) नामक मिश्र के एक प्राचीन राजा ने यहां पर दो चौकोने स्तंभ (Obaliks) बनवाये थे और उससे पहले के राजाओं ने यहां अनेक किला आदि बनवाये थे ।[३०] यह स्थान अन्तरीय कुश द्वीप के किनारे पर[३१] अवस्थित 'त्रिशृङ्ग' अर्थात् तीन कूटवाले पर्वत से हटकर नीचे में था । जैन शास्त्र राक्षस द्वीप में तीन कूटवाला त्रिकूटाचल पर्वत बतलाते हैं; उसकी तलीमें लङ्कापुरी कही गई है ।

हिन्दू और जैन शास्त्रकारों के बताये हुए नामों से किञ्चित अन्तर आना स्वाभाविक ही है; किन्तु उपरोक्त सादृश्यता को ध्यान में रखते हुये राक्षस द्वीप और लंका का मिश्र में होना ठीक जँचता है । वैसे भी लोक व्यवहार में लंका 'सोने' की मानी जाती है और मिश्र के प्राचीन राजाओं की जो सोने की चीजें अभी हाल में भूगर्भ से निकलीं हैं, वह इस जनश्रुति को सत्य प्रकट करती हैं ।[३२] तिसपर जैनशास्त्र में जो लंका के पास कमलों से मंडित कई उद्यान और वन बतलाये हैं; वह भी यहां मिल जाते हैं । मिश्र का ऊर्ध्व भाग, जिसमें कि अलेकजन्ड्रिया आदि अवस्थित हैं इन्हीं वनों के कारण 'अरण्य' अथवा 'अटवी' के नाम से ज्ञात था ।[३३] सचमुच पहले नील (Nile) नदी का यह मुहाना गहन वन से भरा हुआ था और यूनानी लोग उसे अपनी देवी का पवित्र स्थान (Sacred to the Godess Diana) मानते थे ।[३४] उनका यह मानना एक तरह से है भी ठीक क्योंकि महासती सीता के निवास स्थान से यह वन पवित्र हो चुके थे। इस तरह लंका में पर्वत आदि बताये गये थे, वह सब उक्त प्रकार मिश्र में मिल जाते हैं । इसलिये लंका का यहां ही होना ठीक है ।

यदि लंका ऊपरी मिश्र में मानी जावे तो पाताल लंका का उससे नीचे होना आवश्यक ठहरता है । पाताल लंका के निकट, पद्मपुराण के उपरोक्त वर्णन में पुष्पकवन और उसी में उपरान्त पुष्पांतक नगर का बसाया जाना लिखा है तथापि पुष्पक के मध्य एक महाकमल वन भी था और स्वयं पाताल लंका में एक मणिकांत पर्वत बतलाया गया है । इन स्थानों को ध्यान में रखने से हमें मिश्र के नीचे के स्थान अबेसिनिया (Abyssenia) और इथ्यूपिया (Ethiopia) ही पाताल लंका प्रतिभाषित होते हैं । इन्हीं दोनों देशों में पाताल लंका के उपरोल्लिखित स्थान हमें मिल जाते हैं । अबेसिनिया के निकट इथ्यूपिया में पुष्पवर्ष स्थान बतलाया गया है जहां अबेसिनिया की नन्दा अथवा नील नदी बृहत् नील (Nile) में आकर मिलती है ।[३५] यहीं इसी नाम के पर्वत व वन हैं । तथा इन्हीं के नीचे जो पद्मवन बताया गया है वह महा कमल वन होगा; क्योंकि कमल और पद्म पर्यायवाची शब्द हैं और पद्मवन में कोटिपत्र दल के कमल होते थे; इसलिये उनका पर्यायवाची एवं और भी स्पष्ट नाम महाकमलवन ठीक ही है ।

पुष्पांतक और पुष्पवर्ष में किंचित् ही बाह्य भेद है, वरन् भाव दोनों ही का एक है । अतएव उनको एक स्थान मानना युक्ति युक्त प्रतीत होता है । अब रहा सिर्फ मणिकांत पर्वत जिस में अनेक प्रकार की मणियां लगी हुई थी । पुष्पांतक अथवा पुष्पवर्ष से ऊपर चलकर इथ्यूपिया में जहां शंखनागा (आजकल की मारेब Mareb) नदी नील (Nile) में आकर मिलती है, वहां पर समीपवर्ती एक 'द्युतिमान' पर्वत बतलाया गया है ।[३६] इसमें मणियां धातु आदि मिलते थे, इस कारण मणियों का प्रकाश रूप यह पर्वत 'द्युतिमान' कहलाता था । अतएव द्युतिमान और मणिकांत पर्वत एक ही हों, तो कोई आश्चर्य नहीं।

इस प्रकार पाताल लंका आजकल के अबेसिनिया और इथ्यूपिया प्रदेश ही होना चाहिये । अथ्यूपिया में जैन मुनियों का अस्तित्व ग्रीक लोग 'जैम्नोसूफिट्स' के रूप में बतलाते हैं ।[३७] जैम्नोसूफिट्स जैन मुनि ही होते हैं यह प्रगट ही है ।[३८] अस्तु; यहां पर यह संशय भी नहीं रहता कि अबेसिनिया और इथ्यूपिया में जैन धर्म कहां से आया ? यद्यपि जैन शास्त्र तो तमाम आर्यखण्ड में जिस में आजकल की सारी पृथ्वी आ जाती है एक समय जैन धर्म को फैला हुआ बतलाते हैं । पाताल लंका में जैन मंदिरों का अस्तित्व शास्त्रों में कहा गया है ।

अबेसिनिया और इथ्यूपिया के निवासी बहुत प्राचीन जाति के और उनका धर्म भी प्राचीनतम माना गया है;[३९] एवं उनकी भाषा और लिपि करीब-करीब प्राचीन संस्कृत लिपि के समान ही थी ।[४०] तथापि उनका संबन्ध यादवों से भी था, यह बताया गया है । हिन्दू शास्त्रों के अनुसार अबेसिनिया और इथ्यूपिया बहिर कुश द्वीप में आ जाते हैं ।[४१]

यादव वंश

इस कुश द्वीप में वह एक कुश स्तंभ और दैत्य, दानव, देव, गंधर्व, यक्ष, रक्ष और मनुष्यों का निवास बतलाते हैं ।[४२] मनुष्यों में चतुर्वर्ण व्यवस्था भी थी, यह भी वह कहते हैं ।[४३] इसी कुश द्वीप में यादवों का आगमन कृष्ण के बाल्यकाल में कंस के भय के कारण बताया गया है । कहा गया है कि वे भारत वर्ष से निकलकर अबेसिनिया के पहाड़ों पर आकर रहने लगे थे । उनके नेता यादवेन्द्र कहलाते थे । सो उन्हीं की अपेक्षा यह पर्वत भी इसी नाम से प्रसिद्ध हुये थे ।[४४] प्राचीन इथ्यूपियन निवासियों के स्वभाव आदि इन यादवों जैसे ही थे

और ग्रीक भूगोलवेत्ता भी उनका आगमन वहां भारत वर्ष से हुआ बतलाते हैं।[४५] जैन हरिवंश पुराण के कथन से भी इस व्याख्या की पुष्टि होती है । यद्यपि वहां कृष्ण से बहुत पहले उनका आगमन यहां बतलाया गया है । वहां कहा गया है कि २१ वें तीर्थंकर श्री नमिनाथजी के तीर्थ में यदुवंशी राजा शूर थे । इन्होंने अपना मथुरा का राज्य तो अपने छोटे भाई सुवीर को दे दिया था और स्वयं ने कुशद्य देश में परम रमणीय एक शौर्यपुर नामक नगर बसाया था ।[४६]

यदुवंशी राजा शूर और कुशद्य देश

आज कल शौर्यपुर मथुरा के पास ही माना जाता है; परंतु यह ठीक नहीं है क्योंकि मथुरा के आसपास का देश 'कुशद्य' नाम से कभी प्रख्यात नहीं था । भारत में कुशस्थल देश को कौशल किन्हीं शास्त्रों में बताया हुआ मिलता है,[४७] किन्तु वहां भी शौर्यपुर नहीं हो सकता, क्योंकि शौर्यपुर के निकट उद्यान में एक गंधमादन पर्वत बतलाया है; जहां पर सुप्रतिष्ठ नामक मुनिराज को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई थी ।[४८] गंधमादन पर्वत हिमालय का पश्चिमी भाग माना जाता है;[४९] परंतु उसका कोई निकटवर्ती प्रदेश भी कुशद्य देश नहीं कहलाता है । इसके अतिरिक्त गंधमादन पर्वत का उल्लेख द्वारिका के निकट रूप में भी हुआ है; परंतु वहां जैनाचार्य बरड़ो पर्वत श्रेणी को ही गंधमादन मानकर वह उल्लेख करते हैं ।[५०] हिन्दू शास्त्र द्वारिका को कुशस्थली में बतलाते हैं;[५१] परंतु यहां भी वही आपत्ति आगे आती है कि द्वारिका के निकट उद्यान में गंधमादन पर्वत नहीं था । अतएव यह कुशद्य देश उपरोक्त कुशद्वीप अर्थात् अबेसिनिया ही होना चाहिये; जहां पर यादवों का आना प्रमाणित है । हिन्दुओं के माने हुए कुशद्वीप में गंधमादन पर्वत का उल्लेख भी मिलता है ।[५२] इसलिये अबेसिनिया को ही कुशद्य देश समझना ठीक जंचता है । इस अवस्था में पाताल लंका और

कुशद्य देश एक ही स्थान पर परिचित होते हैं । इसका अर्थ यह हो सकता है कि पाताल लंका भी उपरान्त कुशद्य देश के नाम से प्रसिद्ध हो गई थी जैसे कि हिन्दू शास्त्र पाताल लंका का उल्लेख कहीं करते ही नहीं है और अबेसिनिया इथ्यूपिया एवं न्यूबिया के सारे प्रदेश को कुश द्वीप में गर्भित करते हैं; परंतु रावण के समय में जैन ग्रन्थकार अबेसिनिया और इथ्यूपिया को पाताल लंका के नाम से और न्यूबिया को कुशस्थल की संज्ञा से उल्लेख करते प्रतीत होते हैं । यह भी संभव है कि जैन शास्त्रकारों के निकट अबेसिनिया कुशद्वीप रहा हो और इथ्यूपिया पाताल लंका क्योंकि इथ्यूपिया में ही पाताल लंका के पर्वत व वन आदि मिलते हैं । अस्तु,

उस समय कुशस्थल में वैदिक धर्म के क्रियाकाण्ड यज्ञादि का प्रचार था, यह भी पद्म पुराण में स्वीकार किया गया है ।[५३] अतएव, यह स्पष्ट है कि अबेसिनिया में यादव लोग भी पहुंचे थे; जिनमें से उपरांत भगवान नेमिनाथ का जन्म हुआ था और जो जैन शास्त्रों में जैनधर्मानुयायी बताये गए हैं । अबेसिनिया ही कुशद्य देश है, इसका समर्थन यादवेन्द्र शूरसेन के पौत्र वसुदेव के वर्णन से भी होता है । जब वसुदेव कुशद्य देश के शौर्यपुर से निकलकर अंगदेश के चम्पा नगर में जाकर विद्याधर के विमान से गिरे थे, तब उन्होंने अंचभे में पड़कर लोगों से पूछा था कि यह कौन सा देश है ? यदि मथुरा के पास ही शौर्यपुर होता तो अंगदेश और चम्पा का परिचय वसुदेव को जरूर होना चाहिये था और वहां पर पहुंचने पर उन्हें विस्मित होना आवश्यक न था । साथ ही शौर्यपुर के गंधमादन पर्वत पर जो जैन मुनि को केवलज्ञान होना बतलाया गया है, वह भी ठीक है, क्योंकि अबेसिनिया में जैन मुनि पहले विचरते थे, यह बात ग्रीक लोग बतलाते हैं ।

अलेसिनिया ही पाताल लंका है

इस दशा में अबेसिनिया को ही पाताल लंका मानना ठीक जंचता है। उसके शब्दार्थ भी इसी व्याख्या का समर्थन करते हैं; क्योंकि लंका (मिश्र) से नीचे (अधो-पाताल) की ओर ही अबेसिनिया थी।

यदि लंका मिश्र और पाताल लंका अबेसिनिया एवं इथ्यूपिया में थे, तो हनुमान और रामचंद्रजी को जो वहां जाते हुये मार्ग में देश पड़े थे, वह भी यथावत आज मिश्र जाते हुये मिल जाना चाहिये। पाताल लंका में रावण के बहनोई खरदूषण को मारकर रामचन्द्र वहां विद्याधर विराधित के कहने और राक्षस वंश के मित्र किष्किंधापुर के बानर वंशियों-सुग्रीव आदि के भय से चले गये थे, परंतु वह वहां ज्यादा दिन नहीं ठहरे थे और वापिस किष्किन्धापुर सुग्रीव की सहायता करने चले आये थे। उनका वहां अधिक दिन ठहरना भी उचित नहीं था; क्योंकि आखिर वहां रावण का भय अधिक था और जबकि रावण को राम-लक्ष्मण के पाताल लंका में होने का पता चल गया था, तब उनका पाताल लंका की ओर से आक्रमण करना उचित नहीं था। सुतरां मालूम तो यह पड़ता है कि रामचंद्रजी के किष्किन्धा चले आने के अन्तराल में रावण ने अपने सन्ध्याकार आदि देशों के राक्षस वंशियों पर संदेशा भिजवा दिया था। इस कारण वे हंस द्वीप से आगे बढ़ने ही नहीं पाये थे।

हतभाग्य से हमारे पास ऐसा कोई साधन नहीं है, जिससे इन देशों का पता चला सकें जिन में राक्षस वंशज रहते थे। हां, इनमें से रत्नद्वीप का पता अवश्य ही चलता है और यह आजकल की लंका ही है, यह हम देख चुके हैं। यह हो सकता है कि यह सन्ध्याकार आदि प्रदेश उस पृथ्वी पर अवस्थित हो जो अब समुद्र में डूब गई है; क्योंकि यह तो विदित ही है कि अफ्रिका से भारत के उत्तर-

पश्चिमीय तट तक एक समय पृथ्वी ही थी ।[५४] अस्तु; अब यहां पर पहले हनुमानजी के लंका आने के मार्ग पर एक दृष्टि डाल लेना उचित है ।

हनुमान का लंका मार्ग

हनुमानजी को किष्किन्धा से चलने पर पहले पर्वत पर अवस्थित राजा महेन्द्र का नगर मिला था । महेन्द्रपुर और पर्वत दक्षिण भारत में ही होना चाहिये, क्योंकि हनुमान दक्षिण की ओर चले आये थे । आजकल भी दक्षिण भारत के बिलकुल छोर पर महेन्द्र पर्वत का अस्तित्व हमें मिलता है ।[५५] इस अवस्था में महेन्द्रपुर इसी पर्वत पर अवस्थित होना चाहिये । राजा महेन्द्र अपने नगर की अपेक्षा ही महेन्द्र कहलाता होगा । महेन्द्रपुर से राजा महेन्द्र को किष्किन्धापुर पहुंचाकर विमान पर बैठकर आगे चलने पर उनको दधिमुख नामक द्वीप मिला था; जिसमें दधिमुख नगर था । यहां के वन में उन्होंने दो चारण मुनियों को अग्नि में जलते हुए बचाया था । दधिमुख एक प्रसिद्ध शाक्य (Seythic) जाति प्रमाणित हुई है और यह 'दहय' (Dahae) कहलाती एवं जक्षत्रस नदी (Jaxatres) के ऊपरी भाग के किनारों पर रहती थी ।[५६] इन्हीं की अपेक्षा तमाम मध्य ऐशिया 'दहय-देश' के नाम से विख्यात हुआ था । इस अवस्था में दधिमुख द्वीप समस्थ मध्य ऐशिया हो सकती है और उसमें दधिमुख नगर दहय जाति का निवास स्थान हो सकता है । यहां का राजा गन्धर्व पद्मपुराण में बताया गया है और यह नाम जाति अपेक्षा प्रकट होता हैं ।

मध्य ऐशिया अथवा रसातलमें गन्धर्व जाति भी रहती थी, यह प्रगट ही है ।[५७] अतएव दधिमुख नगर और उसका राजा आजकल के ईरान (Persia) की सरहद पर कहीं होना चाहिये । दधिमुख द्वीप के आगे हनुमान लंका की सीमा पर पहुंच गये थे । वहां पर कोटरक्षक वज्रमुख की कन्या को परास्त करके

इन्होंने उसके साथ विवाह किया था । यहां पर जिस कन्या से युद्ध करने का उल्लेख है, वह शायद 'स्त्री राज्य' की स्त्री शासकों का बोधक हो; क्योंकि मिश्र, न्यूविया आदि के किनारे पर ही इस स्त्री-राज्य को अवस्थित ख्याल किया गया है और फिर हनुमान लंका में पहुंच जाते हैं । यहां हम पहले हनुमान को दक्षिण भारत के छोर से समरकन्द बगदाद आदि की ओर चलकर मध्य ऐशिया को लांघकर लंका पहुंचते अर्थात् मिश्र में दाखिल होते पाते हैं और यह है भी ठीक। इस रास्ते में मध्य-ऐशिया का आना जरूरी है । इस तरह भी लंका का मिश्र में होना ठीक जंचता है ।

रामचंद्रजी का लंका युद्ध मार्ग

अब रामचंद्रजी की लंका पर चढ़ाई ले लीजिये । पहले ही उन्हें वेलंधरपुर पहुंचा बतलाया गया है । पद्मपुराण में देशों के नाम को हम नगरों के रूप में प्राय: व्यवहृत हुआ पाते हैं । उदाहरण के तौर पर रत्नद्वीप एक नगर बताया है, परन्तु वह वास्तव में एक देश था क्योंकि वह आजकल की लंका ही है, यह हम देख चुके है । इसलिये वेलंधरपुर यदि कोई देश हो तो आश्चर्य नहीं ! मध्य-ऐशिया में हिन्दू शास्त्रों का बितल प्रदेश 'आब-तेले' रूप में बतलाया गया है ।[५८] और 'आब-तेले' का भाव उन हूण लोगों से है जो ऑक्षस (Oxus) नदी के किनारों पर बसते थे ।[५९] वेलंधरपुर आबतेले के हूणों का निवास स्थान ही हो सकता है क्योंकि वेलंधरपुर के शब्दार्थ यह हो सकते हैं कि वेल (= आब-बेले-जाति) को धारण करनेवाला पुर । तिस पर वहां के राजा का नाम जो समुद्र बताया है, वह भी इसी बात का द्योतक है । नदी के किनारे पर बसनेवालों का राजा समुद्र रूप में उल्लेखित किया गया प्रतीत होता है । इस अपेक्षा वेलंधरपुर मध्य ऐशिया में बृहद् पामीर (Great Pamir) पर्वत

के निकट अवस्थित प्रतीत होता है ।[६०] इस हालत में रामचन्द्र जी बेहद उत्तर में चले गये मालूम होते हैं, किन्तु उनका इस तरह घूमकर जाना राजनीति की दृष्टि से ठीक ही था; क्योंकि दक्षिण भारत के आगे रत्नद्वीप से तो रावण के वंशज ही रहते थे । इसलिये घूम कर ठीक लंका पर जा निकलने से उनको बीच में युद्ध में अटका रहना नहीं पड़ा था । उधर से जाने में एक और बात यह थी कि इन प्रदेशों की योद्धा जातियों को भी वे अपना सहायक बना सके थे । तिस पर गरुड़ेन्द्र उनका सहायक मित्र बतलाया गया हैं और उपरान्त उसने उनकी सहायता को रणक्षेत्र में सिंह वाहन और गरुड़ वाहन देव भेजे थे । इन गरुड़ के पंखों की पवन क्षीरसागर के जल को क्षोभरूप करनेवाली और रावण के सहायक सर्पों को भगानेवाले बताई गई है ।[६१]

इस अवस्था में यह गरुड़ वाहन कैसपियन समुद्र के निकट बसनेवाले शाक्य (Seythian) जाति के योद्धा होना चाहिये, क्योंकि इसी समुद्र को क्षीरसागर भी पहले कहते थे ।[६२] यद्यपि जैन शास्त्र में गरुड़ेन्द्र देवयोनि का माना गया है अतएव रामचंद्रजी का इधर होकर जाना बहुत ही सूझ का काम था । बेलंधरपुर से आगे वह सुबेल पर्वत पर के सुबेल नगर में आये कहे गये है । यह प्रदेश हिन्दू शास्त्रों का सु-तल हो सकता है, वह यसु-जातियों (Kidarites or Sutribes) का निवास स्थान होने के रूप में इस नाम से विख्यात था ।[६३] इसमें आजकल का बलख भी था । यहां सुबेल विद्याधर को जीत ने का उल्लेख पद्मपुराण करता ही है । अतएव सुबेल का सु-तल होना ही ठीक जंचता है । उपरांत रामचन्द्रजी ने अक्षयवन में डेरा डाले थे और वहां रात पूरी करके हंस द्वीप में हंस पुर के राजा हंसरथ को जीता था । यहीं आगे रणक्षेत्र माढ़कर वह

डट गये थे । अक्षयवन संभवत: जक्षत्रस (Jaxatres) नदी के आसपास का वन हो और इसके पास ही सुपर्ण आदि पक्षियों का निवास स्थान था ।[५४]

यह विदित ही है; यद्यपि पक्षी का भाव यहां जातियों से ही है । अस्तु, हंस भी एक पक्षी का नाम है, इसलिये हंस द्वीप और हंस रथ से भाव पक्षियों की जाति से हो सकता है । इसके आगे जो लंका की सीमा आ गई ख्याल की गई है वह भी ठीक है, क्योंकि राक्षस वंशजों का एक देश हरि भी जैन पद्मपुराण में बताया गया है ।[५५] आर्यबीज अथवा आर्यना (Aeriana) प्रदेश बाइबिल में 'हर' नाम से परिचित हुआ है ।[५६] तथापि यहां पर हूण अथवा तातार जातियां भी रहतीं थीं, जिनमें ही राक्षस वंशी भी आजकल माने गये हैं ।[५७] इस हालत में हंस द्वीप के आगे राक्षसों का हर प्रदेश आ जाता था । इसलिये रामचन्द्रजी का विरोध वहीं से होने लगा होगा, जिसके कारण वह वहीं पर रण क्षेत्र रचकर डट गये थे । अतएव इस तरह भी लंका का मिश्र में होना ही ठीक जंचता है ।

जैन पद्मपुराण में कैलाश और वैताढय पर्वत में स्थित अर्ध बरबर देश के म्लेच्छों का भारत पर आक्रमण करना लिखा है तथापि श्याममुख, कदम, ताम्र आदि वर्ण के लोगों को कालिन्द्री नामा नदी के किनारे बसा बतलाया है । यह अर्ध बरबर प्रदेश ऐशियाटिक रसिया का बीच का भाग हो सकता है । इसके राजा की अध्यक्षता में श्याममुख आदि यहां आए थे । यह ज्ञात है कि श्याम मुखों का एक अलग प्रदेश काली अर्थात् नील (Nile) नदी के किनारे पर ही था ।[५८] इसी तरह कर्दम वर्ण के लोगों का कर्दम स्थान[५९] और ताम्र वर्ण के लोगों का तमस-स्थान भी वहीं बतलाये गये हैं,[६०] तथापि रावण ने जो अपने आसपास के राजाओं के साथ दिग्विजय के लिये प्रयास किया था तो उस

समय उसके साथ हिडम्ब, हैहिडिम्ब, विकट, त्रिजट, हयमाकोट, सुजट, टंक आदि लोग थे । इनमें के हिडम्ब और हैहिडिम्ब संभवत: हैहय (Haihayas) होंगे, जिन्होंने उत्तर कुशद्वीप के राजाओं के साथ गौतम ऋषि की सहायता करके जमदग्नि को मारा था ।[७१] त्रिजट सुजट और विकट शंख द्वीप (मिश्र) के जटापट[७२] और कुटित केश[७३] नामक जातियों के राजा हो सकते हैं । हयमाकोट हेमकूट पर्वत जो शंख द्वीप में था उसके निकटवासी मनुष्यों के राजा प्रतीत होते हैं और टंक टक्क का अपभ्रंश मालूम होता है जो तक्षक नाग के वंशज थे । इसलिए टंक नाग जाति के हूण लोग हो सकते हैं; और जैन पद्मपुराण में रावण के पक्ष में नागों का होना स्वीकार किया गया है जो गरुड़ वाहन के आने से भाग गये लिखे हैं ।

खरदूषण के साथ त्रिपुर, मलय, हेमपाल, कोल आदि राजा थे और यह भी रावण के साथ दिग्विजय को गये थे । रावण पाताल लंका होता हुआ इन राजाओं को साथ लेकर नर्मदा तट पर पहुंचा था । यह राजा मलयद्वीप (Maldiva) जो पहले बहुत विस्तृत था और भारत से लगा हुआ था,[७४] वहीं के विविध देशों के राजा मालूम देते हैं । वहां के त्रिकूट पर्वत के निकटवाले देश के राजा त्रिपुर, सोने की कानोंवाले देश के अधिपति हेमपाल और मलय देश के राजा मलय एवं कोल जाति के नृप कोल कहे जा सकते हैं । नर्मदा के तटपर माहिष्मती नगरी के राजा सहस्ररश्मि से जो वहां पर युद्ध हुआ था, यह आज भी मध्य प्रांत में जनश्रुति रूप से प्रचलित है ।[७५] इस तरह इस विवरण से भी रावण का निवास स्थान राक्षस द्वीप और लंका मिश्र में प्रमाणित होते हैं । यह पृथ्वी रेखा (Equator) के निकट भी थे, जैसा कि अन्य शास्त्रों में कहा गया है।[७६]

रावण की लंका : एक विचारणीय पक्ष

किन्हीं विद्वानों का अनुमान है कि मध्य भारत में अमरकण्टक पहाड़ की एक चोटी पर ही रावण की लंका थी, अन्यों का कहना है कि आजकल की लंका ही लंका है और डा. जैकोबी उसे आसाम में ख्याल करते हैं ।[७७] हाल में एक अन्य विद्वान ने लंका की मलयद्वीप (Maldiva Islands) में बताया है ।[७८] उपरोक्त वर्णन को देखते हुये इन व्याख्यायों पर सहसा विश्वास नहीं किया जा सकता ? मध्य भारत और आसाम में लंका का अस्तित्व मानना बिल्कुल भूल भरा है । आजकल की लंका भी रावण की लंका नहीं है, यह हम पहले देख आये हैं । तथापि हिन्दू शास्त्रों से भी इस लंका का सिंहल द्वीप होना और इसके अतिरिक्त एक दूसरी लंका होना सिद्ध है ।[७९]

अब केवल मलयद्वीप की राक्षस द्वीप और लंका बतलाना विचारणीय है। मलयद्वीप में भी त्रिकूट पर्वत और सोने की खानें होने के कारण उसको रावण की लंका ख्याल किया गया है, किन्तु यदि वही राक्षस द्वीप था तो फिर उसका नाम हिन्दू शास्त्रों में मलयद्वीप क्यों रक्खा गया ? तिस पर स्वयं हिन्दू शास्त्रों से उसका लंका होना बाधित है । रामायण में कहा गया है कि रावण वरुण के देश से बाली को छुड़ाने आया था ।[८०] वरुण का देश पश्चिम में यूरोप के नीचे कैस्पियन समुद्र के निकट था और बाली मध्य ऐशिया में बलिख नगर में कैद रक्खे गये माने जाते हैं ।[८१] इस अवस्था में रावण की लंका मिश्र में होना ही ठीक है । हिन्दू पुराणों में शंख द्वीप में म्लेच्छों के साथ राक्षसों को रहते बताया गया है और कहा गया है कि वहां कोई भी ब्राह्मण नहीं था इस कारण प्रमोद के राजा के अनुग्रह से पोथि ऋषि ने वहां वैदिक धर्म का प्रचार किया था।[८२] ब्रह्माण्ड और स्कन्द पुराण में जो कथा राक्षस स्थान की उत्पत्ति में दी हुई

है, वह भी उसे मिश्र के बरबर देश के निकट बतलाती है[८३] और इसका समर्थन भूगोलवेत्ता भी करते हैं, यह हम पहले देख चुके हैं । तथापि गणितशास्त्र 'गोलाध्याय' के कर्त्ता भास्कराचार्य (सन १११५ ई.) का निम्न श्लोक भी[८४] हमारे ही कथन का समर्थन करता है:-

'लङ्काकुमध्ये यमकोटिरस्याः प्राक पश्चिमे रोमकपट्टनं च ।
अधस्ततः सिद्धपुरं सुमेरुः सौम्येऽथ यामे बड़वानलश्च ।।'

यहां लंका के मध्य पूर्व में यमकोटि स्थान और पश्चिम में रोमकपट्टन बतलाये हैं । इनसे अधःभाग में सिद्धपुर-सुमेरु बतलाया और दक्षिण में बड़वानल का होना लिखा है । अब यदि हम मिश्र में ही लंका मान लेते हैं तो यमकोटि, जो संभवतः यम का स्थान ही है, वह लंका के मध्यपूर्व में मिल जाता है ।

हिंदूओं के पद्म और भागवत पुराण में जो कृष्ण के गुरु काश्यप की स्त्री की खोज में कृष्ण के जाने की कथा है उसमें कृष्ण के वराहद्वीप (यूरोप) की ओर जाने पर वरुण के कहने से वह वहां से नीचे उतरकर यमपुरी में पहुंचे थे ।[८५] कृष्ण भारत से उधर गये थे; इसलिये मध्य एशिया आदि प्रदेश तो वह लांघ गए थे और इस अवस्था में यूरोप की सीमा से उनका नीचे को आगमन अफ्रीका में ही हो सकता है । इसलिए यमपुरी लंका (बरबर स्थान-मिश्र) के मध्यपूर्व में हो सकता है । आगे रोमकपट्टन जो पश्चिम में बतलाई गई है वह भी ठीक है । यह रोमकपट्टन आजकल का रोम (Rome) है और यह उत्तर पश्चिम में स्थित वराह द्वीप (यूरोप) में था ।[८६] इसलिये यह भी ठीक मिल जाता है । अधोभाग में सिद्धपुर और सुमेरग्वेत बतलाये गये हैं । हिन्दुओं का यह सुमेरु पर्वत आजकल का हिंदू कुश पहाड़ है[८७] और इसके पास शायद कहीं

सिद्धपुर होगा और यह मिश्र से नीचे को उतरकर ही है । इसलिये यह भी भास्कराचार्य के कथनानुसार ठीक मिलते हैं । अब रहा सिर्फ बड़नावल अर्थात् पृथ्वी की मध्य रेखा (Equator) से मिश्र से दक्षिण की ओर अफ्रीका में होकर यह निकाला ही है । इस दशा में भास्कराचार्य के अनुसार भी मिश्र ही लंका प्रमाणित होती है ।

इन बातों को देखते हुये लंका की मलयद्वीप में बतलाना ठीक नहीं है । कम-से-कम जैन शास्त्रों के अनुसार तो उसका अस्तित्व मिश्र देश में ही प्रमाणित होता है । मलयद्वीप तो उससे अलग था, यह हमारे उपरोक्त वर्णन से प्रकट है ।

मिश्र देश की अब स्थिति

प्राचीन काल में मिश्र में जैन धर्म का अस्तित्व होना भी प्रमाणित है । एक महाशय ने वहां के एक राजा को जैन धर्मानुयायी लिखा भी था ।[८८] वहां के प्राचीन धर्म का जो थोड़ा बहुत ज्ञान हमें मिलता है उससे भी सिद्ध होता है कि यहां पहले जैन धर्म अवश्य रहा होगा । सबसे मुख्य बातें जो मतमतान्तरों में प्रचलित हैं यह आत्मा और परमात्मा के स्वरूप सम्बन्ध में हैं । सौभाग्य से इन विषयों में मिश्रवासियों का प्राचीन विश्वास करीब-करीब जैन धर्म के समान था। प्राचीन मिश्रवासी जैनियों के समान ही परमात्मा को सृष्टि का कर्त्ता-हंर्त्ता नहीं मानते थे ।[८९] उसे वे संपूर्णतः पूर्ण और सुखी (Infinitely perfect and happy) मानते थे और वह केवल एक ही स्वतंत्र व्यक्ति नहीं था अर्थात् उनके निकट अनेक परमात्मा थे । मिश्रवासी आत्मा का अस्तित्व भी स्वीकार करते थे और उसका पशु योनि में होना भी मानते थे ।[९०] उसके अमरपने में भी विश्वास रखते थे । यह सब मान्यतायें बिलकुल जैन धर्म के समान हैं ।

भगवान मुनिसुव्रतनाथ और फिर भगवान नमिनाथ के तीर्थों के अन्तराल में यहां जैन धर्म का विशेष प्रचार था, यह जैन शास्त्रों से प्रकट है । तथापि यूनान वासियों की साक्षी से मिश्र के निकटवर्ती अबेसिनिया और इथ्यूपिया प्रदेशों में जैन मुनियों का अस्तित्व आज से करीब तीन हजार वर्ष पहिले भी सिद्ध होता है ।[११] इस दशा में उक्त सादृश्यताओं को ध्यान में रखते हुये यदि यह कहा जावे कि मूल में तो मिश्रवासियों का धर्म जैन धर्म ही था, परन्तु उपरांत अलंकारवाद के जमाने की लहर में उसका रूप विकृत हो गया था तो कोई अत्युक्ति नहीं है ।

यह विदित ही है कि मिश्र मध्य एशिया आदि देशों में अलंकृत भाषा और गुप्तवाद (Allegory) का प्रचार हो गया था और धर्म की शिक्षा इसी गुप्तवाद में दी जाती थी ।[१२] मिश्रवासियों की अलंकृत भाषा और उनकी गुप्त बातें (Mystries) बहु प्राचीन हैं ।[१३] इन गुप्त बातों को जानने के अधिकारी मिश्र में पुरोहित और उनके कृपा पात्र ही होते थे ।[१४] यह पुरोहित बड़े ही सादा मिजाज और संयमी होते थे ।[१५] यह साधारण लोगों को ऐसी शिक्षा देते थे जिससे उनको अपने परभव और पुण्य-पाप का भय रहे । ज्योनारों के समय भी इसी शिक्षा का प्रबंध था ।[१६] उस आमोद प्रमोद के समय भी लोगों की परभव की याद दिला दी जाती थी । यह पुरोहित मच्छी, शोरवा, मटर, मूली, शलजम आदि भी नहीं खाते थे; और उनके भोजन में शाकाहार की प्रधानता रहती थी । यद्यपि मांस से उन्हें परहेज था यह विदित नहीं होता ।[१७] यह शायद उपरान्त क्षेत्र और काल के प्रभाव अनुसार मांस ग्रहण करने भी लगे थे; यद्यपि मूल धर्म के खास नियमों के पालन में ही उसकी पूर्ति समझ ली होगी । मच्छी शोरवा का परहेज मांस त्याग का द्योतक है ।[१८] मटर द्विदल, और मूली शलजम जमींकन्द के त्याग का परिचायक है ।[१९] यूनानी लोग, जो

मिश्रवासियों के ही शिष्य थे,[१००] सर्व प्रकार के द्विदल-दाल (Beans) के त्यागी होते थे ।[१०१] जैन शास्त्रों में द्विदल का खाना माना है, दाल को दूध या दही के साथ मिलाकर खाने से अनन्ते सूक्ष्म जीव वहां उत्पन्न हो जाते हैं । इसीलिए उनको खाना मना है । मिश्र और यूनान वासियों को जो दाल के ग्रहण करने की मनाई है, वह इसी भाव को लक्ष्यकर है । यूनान वासियों ने जैन मुनियों से शिक्षा ग्रहण की थी यह इतिहास सिद्ध बात है ।

भृगुकच्छ-संघ के एक श्रमणाचार्य नामक जैन मुनि की सल्लेखना का उल्लेख करनेवाला लेख उनके समाधि स्थान पर आज भी अथेन्स में मौजूद है।[१०२] यूनानियों की धार्मिक मान्यतायें भी जैन धर्म के समान ही हैं ।[१०३] और वे मिश्र वासियों के शिष्य थे, इस कारण मिश्र वासियों की मान्यतायें भी जैन धर्म के अनुसार ही होना चाहिये । तब ही यह संभव है कि उनके शिष्य यूनानवासी जैन धर्म की शिक्षा ग्रहण करने को तत्पर होते । सौभाग्य से इसी व्याख्या के अनुरूप में हम मिश्रवासियों की मान्यताओं को जैन धर्म के समान ही प्राय: पाते हैं । उनके निकट पशुओं की रक्षा करना बड़ा आवश्यक कर्म था । इसीलिए वे सर्प, मगरमच्छ, बिल्ली, कुत्ता, लंगूर आदि जानवरों को पूज्य दृष्टि से देखते थे।[१०४] सर्प तो उनके निकट बुद्धि और स्वास्थ्य (Wisdom & Health) के चिह्न रूप में स्वीकृत है ।[१०५] पशुओं के प्राणों का मूल्य समझकर ही वे चमड़े के जूते तक नहीं पहनते थे वृक्षों के बल्कल से ही वे अपने पैरों की रक्षा करते थे।[१०६] उनके पूज्य देव की मान्यता भी जैनियों के समान थी ।

मूल में उनके तीन देवता - ओसिरिस और इसिस से वे होरस की उत्पत्ति मानते थे । ओसिरिस का चिन्ह वे बैल मानते थे, जो धर्म का द्योतक है । इन तीनों देवों के अतिरिक्त जैन धर्म के समान इतर देवताओं नगर रक्षक आदि को

भी वे मानते थे ।[१०७] इन तीन देवताओं की कथा गुप्तवाद में गुंथी हुई मिलती है, जिसका भाव यही है कि ओसिरिस जो शुद्धात्मा है, वह सेठ-सांसारिक माया के द्वारा नष्ट किया जाकर अपने खास अस्तित्व को प्राय: खो बैठता है और खंड रूप में नील नदी में वहां फिरता है किन्तु इसिस उसकी लाश को ढूंढ निकालती है और ओसिरिस के पुत्र होरस की सहायता से उसे पुन: जीवित करके परमात्म पद में पधरवा देती है, जहां वह अमर जीवन को प्राप्त होता है।[१०८] इसिस ओसिरिस की ढूंढती हुई अपने पर्यटन में सब कठिनाइयों आदि का मुकाबिला करती है और इसीलिए उसने गुप्तवाद को जन्म दिया है कि उसके चित्रपट को देखकर हर कोई उन कठिनाइयों को सहन करने की शिक्षा ग्रहण कर ले, जो कि उसे आशा की रेखा के दर्शन करा दे ।[१०९]

इसमें शक नहीं कि यह गुप्तवाद एक नवीन सुखमय जीवन को प्राप्त करने का मार्ग बतानेवाला है । अस्तु; उपरोक्त कथानक में संसारी आत्मा के मोक्ष लाभ करने का ही विवरण है । ओसिरिस शुद्धात्मा का द्योतक है, जो पुद्गल (सेठ) के वशीभूत होकर अपने स्वाभाविक जीवन से हाथ धोकर भवसागर में (नील में) रुलता फिरता है । इस भवसागर में शुद्धात्मा को तपश्चरण की कठिनाइयां सहन करनेवाले और सर्वथा ध्यान करनेवाले ऋषिगण ही पा सकते हैं । इसलिए इसिस ऋषिगण का ही रूपान्तर है । ऋषि और भृष्ट शुद्धात्मा से ही तीसरा व्यक्ति अर्हत् (Horus = होरस) उत्पन्न होता बतलाया गया है; क्योंकि ऋषिगण के लिये अर्हत् पद ही एक द्वार है जो उसे शुद्ध-बुद्ध बनाकर परमात्म पद में पधरवा देता है । इसलिये ओसिरिस अन्तत: सिद्ध परमात्मा ही है ! अर्हत् और होरस शब्द की सादृश्यता भी भुलाई नहीं जा सकती; यही बात ऋषि और इसिस शब्द में हैं । ओसिरिस भी सिद्ध शब्द का रूपान्तर हो सकता

है । यसिरिस (Ysiris) रूप में उसकी सदृशता सिद्ध शब्द से मिल जाती है । इस शब्द का भाव मिश्र वासियों के निकट परमात्मा (Supreme Being) से था, यह हेलानिक्स नामक ग्रीक विद्वान बतलाता है ।[११०]

इस तरह हमारे ख्याल से मिश्र के तीन देवता सिद्ध, साधु और अरहत ही हैं । होरस (Horus) की जो एक मूर्ति देखने में आई है,[१११] वह भी इस व्याख्या का समर्थन करती है । वह बिलकुल नग्न खड्गासन है; शीश पर सर्प का फण है जैसा कि जैन तीर्थंकर पार्श्व और सुपालव की मूर्तियों में मिलता है; किन्तु जैन मूर्ति से कुछ विलक्षणता है तो सिर्फ यही कि उसके दोनों हाथों में दो-दो सर्प और एक कुत्ता व एक मेंढा है तथापि वह मगरमच्छ के आसन पर खड़ी है। वैसे मूर्ति की आकृति से भयंकरता प्रकट नहीं है; प्रत्युत गंभीरता और शांती ही टपक रहीं है । यहां पर सर्पों आदि को हाथों में लिये रखने से गुप्त संकेत रूप में (Haeratic Synibols) इन देवता के स्वरूप को स्पष्ट करना ही इष्ट होगा । चार सर्पों से भाव अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य से हो सकता है; क्योंकि सर्प को मिश्रवासियों ने बुद्धि और स्वास्थ्य का चिन्ह माना था । इसी तरह कुत्ते और मेंढे का कुछ भाव होगा ।

सारांशतः होरस की मूर्ति भी जैन मूर्ति से सदृशता रखती थी । वह मूल में नग्न थी, जो मोक्ष प्राप्ति का मुख्य लिङ्ग है । प्राचीन और जैन मूर्तियों की आकृति भी मिश्र के मूल निवासियों (Nigro) से मिलती हुई अनुमान की गई है।[११२] किन्हीं का कहना है कि एक कुटिल केश नामक नीग्रो जाति पहले भारत में मौजूद थी और यह जैन मूर्तियां उन्हीं द्वारा निर्मित हुई थी ।[११३] किन्तु साथ में यह भी ध्यान में रखने की बात है कि २२वें और २३वें तीर्थंकरों के शरीर का वर्ण भी जैन शास्त्रों में नील बतलाया गया है ।

मथुरा से जो प्राचीन जैन मूर्तियां आदि निकली है उनकी भी सदृशता मिश्र देश के ढंग से है । खासकर उनमें जो चिन्ह थे वह मिश्र देश जैसे ही थे।[११४] मिश्र देश में जो क्रास (Cross) चिन्ह माना जाता है वह अन्य देशों से भिन्न समकोण का होता था (+), यह जैन स्वस्तिक का अपूर्ण रूप है । मिश्रवासी अपने को ज्योतिषवाद के सृष्टा समझते थे और उनके निकट ज्योतिष का महत्व अधिक था,[११५] यह खासियत भी जैन धर्म से सदृशता रखती है । जैन धर्म की द्वादशाङ्ग वाणी के अंतरगत इसका विशद विवरण दिया हुआ था, जिसका उल्लेख श्रवण बेलगोल के भद्रबाहुवाले लेख में भी है ।[११६] बौद्धों के प्रख्यात ग्रन्थ 'न्यायबिन्दु' में जैन तीर्थंकरों ऋषभ और महावीर वर्द्धमान को ज्योतिष ज्ञान में पारगामी होने के कारण सर्वज्ञ लिखा है ।[११७] साथ ही मिश्रवासियों का जो स्फटिक चक्र[११८] (Zodiacal stone at Deuderah) डेन्डेराह में है वह जैनियों के ढाई द्वीप के नकशे से सदृशता रखता है ।

मिश्र की प्रख्याति मेमनन की मूर्ति (Statue of Memnon) की एक विद्वान 'महिमन' की जिन को हम महावीरजी समझते हैं, उनकी बतलाते हैं । अतएव इन सब बातों से मिश्र देश में किसी समय जैन धर्म का अस्तित्व होना भी संभक्ति हो जाती है । इस अवस्था में जो हम लंका को वहां पाते हैं वह ठीक ही है । स्वयं हिन्दू शास्त्र भी इस बात को अस्पष्ट रूप में स्वीकार करते हैं । वह पहले शंख द्वीप (मिश्र) में ब्राह्मणों का अस्तित्व नहीं बतलाते हैं और राक्षसों एवं म्लेच्छों को बसते लिखते हैं,[११८] जो जैन ही थे, जैसे कि हम पहले बतला चुके हैं ।

इसके अतिरिक्त 'बृहद हेम' नामक हिन्दू शास्त्र में, पांडवों का शंख द्वीप में काली तट पर आना लिखा है । वहां पर उन्हें एक त्रिनेत्रवाला मनुष्य राजसी

ठाठ से उपदेश देता मिला था, जिसके चारों ओर मनुष्य और पशु बैठे हुए थे। यही उपरांत 'अमानवेश्वर' नाम से ज्ञात हुआ था।[११९] यह वर्णन जैन तीर्थंकर की विभूति से मिल जाता है। तीर्थंकर भगवान भूत, भविष्यत्, वर्तमान को चराचर देखनेवाले रत्नत्रयकर संयुक्त सम्राटों से बड़ी चढ़ी विभूति रूप समवशरण में मनुष्यों और पशुओं और देवों, सब ही को समान रूप उपदेश देते हैं, यह प्रगट ही है। अतएव हिन्दू शास्त्र यहां परोक्ष रूप में जैन धर्म का ही उल्लेख करता प्रतीत होता है। इस तरह लङ्का का मिश्र में होना ही उचित जंचता है।

लंका से पातालपुर समुद्र भेदकर जाया जाता था, यह पद्मपुराण के उल्लेख से स्पष्ट है। आजकल पातालपुर सोगडियन देश (Sogdiana) की राजधानी अश्म अथवा अक्षयना (Oxiana) का रूपान्तर बतलाया गया है।[१२०] परन्तु हिन्दू शास्त्रों में पातालपुर एक नगर के रूप में व्यवहृत है और जैन शास्त्र इसे एक प्रदेश बतलाते हैं; जिसकी राजधानी पुण्डरीकणी नगरी थी। हिन्दू पुराणों में पाताल इसी भाव का द्योतक है और यह वहां 'नि तल' के पर्यायवाची रूप में व्यवहृत हुआ है।[१२१] इसलिये सोगडियन देश ही पाताल था। श्वेत हूणों के लिये व्यवहृत 'इफथैलिट्स' (Ephthalites) शब्द से पाताल की उत्पत्ति हुई बतलाई गई है और इस पाताल में सारी मध्य एशिया का समावेश होना बतलाया गया है।[१२२]

श्वेत हूण अथवा इफथैलिट्स जक्षरतस का (Jaxartes) की उपत्यियिका में बसनेवाली एक बलवान जाति थी, जिसने सिकन्दर आजम के बहुत पहले भारत पर चढ़ाई की थी और वह पंजाब एवं सिंध में बस गई थी।[१२३] स्कंध गुप्त के जमाने में भी उनके वंशजों ने भारत पर आक्रमण किया था।[१२४] इफथैलिट्स

के लिये हिन्दुओं ने इलापत्र शब्द व्यवहार में लिया था । इलापत्र का अपभ्रंश 'अला' और 'पाता' होता है, जिसको पलटकर रखने से पाताल शब्द बना हुआ आजकल विद्वान बतलाते हैं ।[१२५] सिंध में इन्हीं लोगों के बसने के कारण यूनानी इतिहास वेत्ताओंने सिंध प्रदेश को पातालेन (Patalene) और उसकी राजधानी को पाताल लिखा है ।[१२६] इस तरह समग्र पाताल अथवा रसातल पूर्व में बृहद् पामीर (Great Pamir) पश्चिम में बेबीलोनिया, उत्तर में कैस्पियन समुद्र के किनारेवाले देशों और जक्षरतस नदी एवं दक्षिण में संभवतः भारत महासागर से सीमित था ।[१२७]

पातालपुर

इस विवरण से पातालपुर कैस्पियन समुद्र के पास अवस्थित प्रमाणित होता है । मिश्र से वहां तक पहुंचने में कैस्पियन समुद्र बीच में आ सकता है, इसलिये वहां पर हनुमान का समुद्र भेदकर जाना लिखा है, वह ठीक है । उपरांत वहां पर भवनोन्माद वन में समुद्र की शीतल पवन का आना बतलाया है[१२८] वह भी इस बात का द्योतक है कि पाताल समुद्र के किनारे था, किन्तु वहां के राजा वरुण और राजधानी पुण्डरीकणी के विषय में हम विशेष कुछ नहीं लिख सकते हैं । अतएव जैन पद्मपुराण के अनुसार भी पाताल वही प्रमाणित होता है जो आजकल विद्वानों को मान्य है ।

जैन 'उत्तर पुराण' से भी इसी बात का समर्थन होता है । वहां प्रद्युम्न को विजयार्ध की दक्षिण श्रेणी के मेघकूट नगर में स्थित बतलाया है । वहां से उसे बराह बिल में गया लिखा गया है, जहां उसने बराह जैसे देव को वश किया था। आगे वह काल नामक गुफा में गया जहां महाकाल राक्षस देव को उसने जीता था । वहां से चलकर दो वृक्षों के बीच में कीलित विद्याधर को उसने मुक्त

किया था । फिर वह सहस्रवक्त्र नाम के नागकुमार के भवन में गया था और वहां शंख बजने से नाग-नागनी उसके सम्मुख प्रसन्न होकर आए थे । उन्होंने धनुष आदि उसे भेंट किये थे । वहां से चलकर कैथ वृक्ष पर रहनेवाले देव को उसने बुलाया और उस देवने भी उसको आकाश में ले जानेवाली दो चरण पादुकायें दीं । आगे अर्जुन वृक्ष के नीचे पांच फणवाले नागपति देव से उसने काम के पांच बाण प्राप्त किए । वहां से चलकर वह क्षीरवन में गया; वहां के मर्कट देव ने भी उसे भेंट दी थी । आखिर वह कंदवक्र मुखी बावडी में पहुंचा था और वहां के देव से नागपाश प्राप्त किया था । फिर वह पातालमुखी बावड़ी में पहुंचा था, वहां पर उसे नारद मिले थे और भारत लिवा ले गये थे ।[१२९]

विजयार्ध पर्वत को हम उत्तर ध्रुव में पहले बता चुके हैं । अस्तु, वहां से चलकर पहले वराह द्वीप अर्थात् यूरोप का आना ठीक है । बराह बिल वराह द्वीप का रूपान्तर ही है । काल गुफा में राक्षस देव बतलाया है सो यह गुफा अफ्रीका या मिश्र देश में होना चाहिये; क्योंकि राक्षसों का निवास हम वहीं पाते हैं और यूरोप के नीचे यह आता भी है । तिस पर यहां के निवासी त्रिगलोडेट्स (Triglodytes) गुफाओं में रहते थे ।[१३०] इस कारण इसका गुफा रूप में उल्लेख होना उचित ही था । काल गुफा से विद्याधर को मुक्त करके प्रद्युम्न का नागकुमार के भवन में जाना लिखा है सो यहां से उनका नागलोक अथवा पाताल में पहुंचना ही समझ पड़ता है । सहस्रवक्त्र संभवतः सू अथवा किडेटिस (Kiderites) जाति के लोगों का परिचायक है, जो नाग लोग या पाताल के एक सिरे पर बसते थे ।[१३१] और नाग शब्द 'ह्यिङ्ग नु' (Hiung-nu) शब्द का बिगड़ा रूप बतलाया गया है, जो हूण लोगों का प्राचीन नाम था ।[१३२] सुजाति की भी गणना हूणों में है । इसलिये इनका उपरोक्त प्रकार नाग बतलाना ठीक है ।

आगे वृक्षों का उल्लेख है सो पाताल में काश्यप से इनकी उत्पत्ति भी बतलाई गई है ।[१३३] कैथ वृक्ष वाले देव से भाव शायद कुर्द अथवा कार्डु की[१३४] (Carduchi) जाति के अधिपति से हो जो वहां निकट में वसती थी । इसी तरह अर्जुन वृक्ष पर का पांच फणवाला नागपति 'अंजि' (Azi)[१३५] जाति के राजा का द्योतक प्रतीत होता है । इसी का अपभ्रंश रूप 'अहि' हैं, जो नाग का पर्यायवाची शब्द है ।

आगे क्षीर वन का जो उल्लेख है वह क्षीर सागर अर्थात् कैस्पियन समुद्र के तटवर्ती भूमि का द्योतक है । कैस्पियन समुद्र को पहले 'शिर वन का समुद्र' कहते थे, जो क्षीर वन से सदृशता रखता है ।[१३६] यहां का मर्कट देव मस्सगटै (Massagatae) जाति का अधिपति होना चाहिये; क्योंकि यह जाति कैस्पियन समुद्र के किनारे पूर्व की ओर बसती थी ।[१३७] तथापि मर्कट और मस्सगटै नाम में सदृशता भी है । साथ ही यह भी दृष्टव्य है कि प्रद्युम्न पाताल लोक में चल रहा है और काल गुफा से आगे उसका सात प्रदेशों को लांघकर भारत पहुंचना लिखा है । अतएव यह सात प्रदेश पाताल के सात भागों का ही द्योतक है । इसलिये यहां की बसनेवाली उक्त जातियों के लोग ही उसे मिले होंगे । इनको देव योनि का मानना उचित नहीं है, यह पद्म पुराण के कथन से स्पष्ट है । अस्तु, मर्कट से मिलकर आगे प्रद्युम्न कंदबक मुखी बावड़ी में पहुंचे थे वहां का देव नाग शायद कास्पी जाति का हो । कापौतसर (Lake Urumiah)[१३८] संभवत: कंदवक बावड़ी हो । यह कास्पी लोग बड़े बलवान थे । इनमें सत्तर वर्ष से अधिक वय के वृद्धों को जंगल में छोड़कर भूखों मारने के नियम का उल्लेख स्ट्रेबो करता है ।[१३९]

जैन शास्त्रों में मनुष्य के लिये ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानपृस्थ आश्रमों से गुजरकर सन्यास आश्रम में पहुंचना आवश्यक बतलाया है । जैन शास्त्र ऐसे उदाहरणों से भरे पड़े है जिनमें वृद्धावस्था के आते ही लोगों ने सन्यास को धारण किया है । सन्यास में शरीर से ममत्व रहता ही नहीं है और अन्तत: सल्लेखना द्वारा समाधि मरण करना आवश्यक होता है । कास्पी लोगों में ऐसा ही रिवाज प्रचलित होगा । इसी कारण स्ट्रेबो उसका उल्लेख विकृत रूप में कर रहा है । आजकल भी अनेक विद्वान् जैन सल्लेखना का भाव भूखों मरना समझते हैं; किन्तु वास्तव में उसका भाव आत्मघात करने का नहीं है ।

कंदवक बावड़ी से प्रद्युम्न पातालमुखी बावड़ी में पहुंचे थे । इसका नाम अन्त में लिखा गया है, इसलिये संभव है कि यह रसातल अथवा रसा-तेले (Rasa-tele) होगा जो रसा अर्थात् अक्षरतस नदी की उपत्ययिका थी[१४०] और यहां से भारत की सरहद भी बहुत दूर नहीं रह जाती थी; क्योंकि अफगानिस्तान यहां से दूर नहीं है, जो पहले भारत में सम्मिलित और उसका उत्तर पश्चिमीय सीमा प्रान्त था ।[१४१] इस प्रकार उत्तर पुराण के कथन से भी पाताल अथवा नाग लोक का मध्य एशिया में होना प्रमाणित हो जाता है; जैसा कि आजकल विद्वान् प्रमाणित करते हैं, किन्तु इतना ध्यान रहे कि जैन दृष्टि से यह पाताल लोक देव योनि का पाताल नहीं है; बल्कि विद्याधर के वंशजों का निवास स्थान है ।

आजकल के विद्वान मध्य एशिया में बसनेवाली उपरोक्त जातियों को अनार्य समझते हैं; परन्तु जैन दृष्टि से वह अनार्य नहीं हैं; क्योंकि पहले तो वह आर्य खण्ड में बसते थे; इसलिए क्षेत्र अपेक्षा वे आर्य थे और फिर यह लोग अपने को काश्यप का वंशज बतलाते हैं । काश्यप जैन तीर्थंकरों का गोत्र रहा है

और भगवान ऋषभदेव काश्यप से नमि-विनमि राजा राज्याकांक्षा करके विजयार्ध पर्वतीय देशों के अधिकारी हुये थे और वही क्रमश: इन सब प्रदेशों में फैल गए, यह हम पहले बतला चुके हैं । अतएव इस दृष्टि से उनका कुल अपेक्षा भी आर्य होना सिद्ध है । जैन तीर्थंकरों की अपेक्षा ही कैस्पिया आदि नाम पड़ना आधुनिक विद्वान् भी स्वीकार करते हैं ।[१४२] स्वयं जेरूसालम के एक द्वार का नाम वहां पर जैनत्व को प्रकट करनेवाला था ।[१४३] ओकसियाना (Oxiana), बलख और समरकन्द में भी जैन धर्म प्रकाशमान रह चुका है । (देखो मेजर जनरल फरलांग की शार्ट स्टडीज पृ. ६७) बैबीलोनिया का 'अररत' नामक पर्वत 'अर्हत्' शब्द की याद दिलानेवाला है ।[१४४] अर्हन् शब्द को यूनानवासी 'अरनस' (Urnus), रूप में उल्लेख करते थे ।[१४५] जैन धर्म एक समय सारे एशिया में प्रचलित था, यह वहां के जरदस्त आदि धर्मों की जैन धर्म से एकाग्रता बैठ जाने से प्रकट है ।[१४६]

वास्तव में आजकल के पुरातत्व अन्वेषकों ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि किसी समय में अवश्य ही जैन धर्म सारे एशिया में फैला हुआ था।[१४७] उत्तर में साइबीरिया से दक्षिण को रासकुमारी तक और पश्चिम में कैस्पियन झील से लेकर पूर्व में कमस्करका की खाड़ी तक एक समय जैन धर्म की विजय वैजयन्ती उड्डायमान थी । तातारलोग 'श्रमण' धर्म के माननेवाले थे, यह प्रकट है । (देखो पीपल्स ऑफ नेशन्स भाग १ पृ. ३४३) और श्रमण धर्म के नाम से जैनधर्म भी परिचित है । (कल्पसूत्र पृ. ८३) इसलिये तातार लोगों का मूल में जैनी होना भी संभव है । तिस पर ईरान और अरब तो तीर्थ रूप में आज भी लोगों के मुंह से सुनाई पड़ते हैं । श्रवणवेलगोल के श्री पंडिताचार्य महाराज का कहना था कि दक्षिण भारत के जैनी मूल में अरब से

आकर वहां बसे थे । करीब २५०० वर्ष पूर्व वहां के राजा ने उनके साथ घोर अत्याचार किया था और इसी कारण वे भारत को चले आये थे । (देखो ऐशियाटिक रिसर्चेज भाग ९ पृ. २८४) किन्तु पंडिताचार्यजी ने इस राजा का नाम पार्श्व भट्टारक बतलाया एवं उसी द्वारा इस्लाम धर्म की उत्पत्ति लिखी है वह ठीक नहीं है ।

'ज्ञानानंद श्रावकाचार' में भी मक्का से मस्करी द्वारा इस्लाम धर्म की उत्पत्ति लिखी है, वह भी इतिहास बाधित है । किन्तु इन उल्लेखों से यह स्पष्ट है कि एक समय अरब में अवश्य ही जैन धर्म व्यापी हो रहा था । इस तरह ईरान, अरब और अफगानिस्तान में भी जैन धर्म का अस्तित्व था;[१४८] बल्कि दधिमुख द्वीप में चारण मुनियों का उपसर्ग निवारण स्थान तो ईरान में हीं कहीं पर था, वह हम पहले देख चुके हैं । मध्य एशिया के अगाड़ी मिश्र वासियों में तो जाति व्यवस्था भी मौजूद थी, जो प्राय: क्षत्री, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र और चण्डाल रूप में थी ।[१४९] इसलिए इन लोगों को अनार्य कहना जरा कठिन है । हां, पातालवासी उपरोक्त काश्यपवंशी जातियों के विषय में यह अवश्य है कि बड़े-बड़े युगों के अन्तराल में और अपने मूल देश विजयार्ध को छोड़कर चल निकलने पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के प्रभाव अनुसार यह अपने प्राचीन रीति रिवाजों को पालन करने में असमर्थ रहे हों ।

सारांशत: पाताल में बसनेवाले नागवंशी मूल में आर्य थे और उन्हें जैन धर्म में प्रतीति थी तथापि भगवान पार्श्वनाथजी पर फण का छत्र लगाकर जिस राजा ने अहिच्छत्र में उनकी विनय की थी वह भी इसी वंश का था । वह धरणेन्द्र के साथ नाम सामान्यता की अपेक्षा ही भुला दिया गया है । धरणेन्द्र के पर्यायवाची शब्द नागपति, अहिपति, फणीन्द्र आदि रूप में थे और यह

नागवंशी राजाओं के लिये भी लागू थे; क्योंकि हम जान चुके हैं कि इन जातियों में की ह्युङ्ग-नु जाति से नाग शब्द की और अजि जाति से अहि शब्द की उत्पत्ति हुई थी। उरग-नागों का[१५०] अधिपति जो उसे बताया है, वह उनकी 'ऊइगरस' (Uigurs)[१५१] जाति की अपेक्षा होगा तथापि फणीन्द्र भी इन्हीं में की एक जाति फणिक अथवा पणिक के राजा का सूचक है।[१५२] पणिक या फणिक एक विदेशी जाति थी, यह एक जैन कथा से भी प्रकट है।

इस कथा में फणीश्वर शहर के राजा प्रजापाल के राज्य में सेठ सागर दत्त और सेठाणी पणिका का पुत्र पणिक बतलाया गया है। यह सेठ पुत्र पणिक कदाचित भगवान महावीर के समवशरण में पहुंच गया और उनके उपदेश को सुनकर यह जैन मुनि हो गया। अन्तः गंगा को पार करते हुये नांव पर से यह मुक्त हुआ था।[१५३] यहां पर देश, सेठाणी और सेठ पुत्र के नाम पणिक-वाची हैं; जो उनका सम्बन्ध पणिक जाति से होना स्पष्ट कर देते हैं। राजा और सेठ के नाम केवल पूर्ति के लिये तद्रूप रख लिये गये प्रतीत होते हैं। पणीश्वर शहर फॉनीशिया (Phoenecia) देश का रूपान्तर ही है और पणिक एवं पणिका स्पष्टः पणिक जाति की अपेक्षा हैं। पहले कुल और जाति अपेक्षा भी लोगों के नाम रक्खे जाते थे, यह हम देख चुके हैं। अतएव इस कथा के पणिक मुनि पणिक जाति के ही थे, यह स्पष्ट है। इस कथा से पणिकों का व्यापारी होना तथा भगवान महावीर स्वामी के समय विदेश से आना भी प्रगट होता है; क्योंकि यदि वह यहां अपनी जाति अपेक्षा प्रख्यात हुये, यह उनका विदेशी होने का द्योतक है। यदि वह यहीं के निवासी होते तो उनकी प्रख्याति जाति अपेक्षा न होकर दिक्षीत नाम के रूप में होना चाहिये थी। अस्तु; पणिक या फणिक जाति की अपेक्षा इस जाति के राजा फणीन्द्र भी कहलाते थे और यह मनुष्यों

के नाग लोक में रहते थे; इसलिये नागकुमारों के इंद्र धरणेन्द्र का उल्लेख सदृशता के कारण फणीन्द्र रूप में हुआ मिलता है । यहां पर यह दृष्टव्य है कि पहले विदेशी लोगों को जैन धर्म धारण करने और मुनि होकर मुक्तिलाभ करने का द्वार खुला हुआ था । मूल में जैन धर्म का रूप इतना संकीर्ण नहीं था कि वह एक नियमित परिधि के मनुष्यों के लिये ही सीमित होता । अस्तु,

इस प्रकार भगवान पार्श्वनाथ के शासनरक्षक देवता धरणेन्द्र और पद्मावती एवं उनके अनन्य भक्त अहिच्छत्र के नागवंशी राजा का विशद परिचय प्रगट है और उनका निवास स्थान पाताल कहां था, यह भी स्पष्ट हो गया है । अतएव आइए, पाठकगण अब आगे भगवान पार्श्वनाथजी के शेष पवित्र जीवन के दर्शन करके अपनी आत्मा का कल्याण कर लें ।

सन्दर्भ

१ - *पार्श्वनाथ चरित में श्री वादराजसूरि ने इन्हें यक्ष बताया है, यह हम देख चुके हैं । श्री सकलकीर्ति* आचार्य ने भी धरणेन्द्र का उल्लेख 'यक्षराज' रूप में अपने 'पार्श्वनाथ चरित' में (सर्ग १७ श्लो. १०४-१०५) में किया है । बरजेस (Burgess) साहब ने दिगम्बर मानता के अनुसार ऐसा ही प्रकट किया है । (Ind. Anti; XXXII, 459-464)

२ - श्री पद्मपुराण पृ. ४६ ।

३ - पूर्वग्रन्थ पृ. १०६-१०९ ।

४ - पूर्वग्रन्थ पृ. ११३ ।

५ - पूर्वग्रन्थ पृ. ६८ ।

६ - संक्षिप्त जैन इतिहास, पृ. २ ।

७ - तत्वार्थाधिगम् सूत्र (S.B.J.) पृ. ९१ ।

८ - वृन्दावनविलास पृ. १३० ।

९ - ऐशियाटिक रिसर्चज भाग-३, पृ. ८८ और विश्वकोष भाग-२ पृ. ६७१-६७४ ।

१० - पद्मपुराण पृ. ५८-५९ ।

११ - हरिवंश पुराण पृ. ५४ ।

१२ - दी रायल वर्ल्ड ऐटलस पृ. ७ ।

१३ - एशियाटिक रिसर्चेज भाग-३ पृ. ६८ ।

१४ - प्री हिस्टॉरिक इन्डिया पृ. ४२-४५ ।
१५ - हिस्ट्री ऑफ नेपाल पृ. ७७ ।
१६ - एशियाटिक रिसर्चेज भाग-३, पृ. ५२ ।
१७ - 'वीर' भाग-२, अंक १०-११ ।
१८ - प्री हिस्टोरिक इन्डिया पृ. ४३ ।
१९ - पद्मपुराण पृ. ५२-१२५ ।
२० - इन्डियन हिस्टॉरीकल क्वारटर्ली भाग-२, पृ. २८ ।
२१ - पूर्वभाग १ पृ. १३२ ।
२२ - पूर्वभाग १ पृ. १३४ ।
२३ - लाल मुखवाले 'रेड इन्डियन्स' आज उत्तरीय अमेरिका में मिलते है । संभव है वानरवंशी राजाओं का राज यहीं रहा हो ।
२४ - जैन पद्मपुराण पृ. ५५६ ।
२५ - बनिंघम, एनशियन्ट जागराफी ऑफ इन्डिया, पृ. ६३७-६३८ ।
२६ - ऐशियाटिक रिसर्चेज भाग-३ पृ. १०० ।
२७ - पूर्व. पृ. १८५ ।
२८ - पूर्व. पृ. १०० ।
२९ - संक्षिप्त जैन इतिहास पृ. ११-१२१ ।
३० - ऐशियाटिक रिसर्चेज भाग ३ पृ. १०० ।
३१ - पूर्व. पृ. १८९ ।
३२ - पूर्व. पृ. १८९ ।
३३ - पूर्व. पृ. १५४ ।
३४ - माडर्नरिव्यू Vol. XL.
३५ - ऐशियाटिक रिसर्चेज भाग ३ पृ. ९७ ।
३६ - पूर्व. पृ. १६४ ।
३७ - पूर्व. पृ. ५६ ।
३८ - पूर्व. पृ. ६४ ।
३९ - पूर्व. पृ. १०६ ।
४० - सर विलियम जोन्स इन जैम्नोसूफिटस को बौद्ध धर्मानुयायी बताते हैं (पूर्व. पृ. ६) किन्तु उस प्राचीन काल में बौद्धों का अस्तित्व भारत के बाहर मिलना कठिन है, क्योंकि बौद्ध धर्म का विदेशों में प्रचार सम्राट अशोक द्वारा ही हुआ था । तिसपर सर विलियम के जमाने में जैन और बौद्ध एक समझे जाते थे । इसलिये यहां बौद्धों से मतलब जैन ही समझना चाहिए ।
४१ - इन्साइक्लोपेडिया ब्रेटिनिका भाग ३५ ।
४२ - ऐशियाटिक रिसर्चेज भाग-३, पृ. १३९ ।
४३ - पूर्व. पृ. ४-५१ ।
४४ - पूर्व. पृ. ५५ ।

४५-४६ - विष्णुपुराण २-४ ३५-४४ ।
४७-४८ - ऐशियाटिक रिसर्चेज भाग-३ पृ. ८७ ।
४९ - हरिवंशपुराण पृ. २०४ ।
५० - भावदेवसूरि, पार्श्वनाथ चरित्र सर्ग ५ में कुशस्थल के राजा प्रसेनजित बतलाये है, पर यह राजा कौशल के थे । इसलिए यहां कुशस्थल से भाव कौशल के ही प्रगट होते हैं ।
५१ - हरिवंश पुराण पृ. २०५ ।
५२ - दी इन्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली भा. १ पृ. १३५ ।
५३ - नेमिनिर्वाण काव्य ५३-६१ ।
५४ - महाभारत सभा. १३ अ. ।
५५ - ऐशियाटिक रिसर्चेज भाग ३, पृ. १६७ ।
५६ - पद्मपुराण पृ. ६४२ ।
५७ - ऐशियाटिक रिसर्चेज भाग ३ पृ. ५२ ।
५८ - इन्डियन हिस्टॉरिकल क्वाटरली भाग २ पृ. ३४९ ।
५९-६० - पूर्व. भाग १ पृ. ४६० ।
६१ - पूर्व. भाग २ पृ. २४६ ।
६२ - पूर्व. भाग १ पृ. १३५ ।
६३ - दी इंडियन हिस्टोरिकल क्वाटरली भाग १ पृ. १३५ ।
६४ - पूर्व. भा. १ पृ. १३६ ।
६५ - पद्मपुराण पृ. ६५१ ।
६६ - दी इंडि. हिस्टा. क्वाटरली भाग २ पृ. ३५.
६७ - पूर्व. भाग १ पृ. ४५६ ।
६८ - पूर्व. भाग २ पृ. २४३ ।
६९ - पद्मपुराण पृ. ६८ और ७७ ।
७० - दि इंडि. हिस्टा. क्वारटर्ली भाग १ पृ. १३१ ।
७१ - पूर्व. भाग १. पृ. ४६२ ।
७२ - ऐशियाटिक रिसर्चेज भाग ३ पृ. ५६ ।
७३ - पूर्व. पृ. ९६ ।
७४ - पूर्व. पृ. ९२ ।
७५-७६ - ऐशियाटिक रिसर्चेज भाग ३ पृ. ११६ ।
७७ - पूर्व पृ. ११५ ।
७८ - पूर्व पृ. ५६ ।
७९ - पूर्व. पृ. ५६ ।
८० - राजपूताने का इतिहास प्रथम भाग पृ. २३० ।
८१ - दि. इन्डि. हिस्टॉ. क्वाटरली भाग २ पृ. ३४८ ।
८२ - मध्य प्रांत के प्राचीन जैन स्मार्क. भूमिका पृ. ६ ।

८३ - भुवनकोष १७ ।
८४-८५ - इन्डिय हिस्टॉ. क्कार. भाग २ पृ. ३४५ ।
८६ - पूर्व. पृ. ३४६-३४७ ।
८७ - रामायण उत्तरकांड २३-२४ ।
८८ - इन्डि. हिस्टॉ. क्कार. भाग २ पृ. २४० ।
८९ - पूर्व. भाग १ पृ. ४५६ ।
९० - ऐशियाटिक रिसर्चेज भाग ३ पृ. १०० ।
९१ - पूर्व. पृ. १८२-१८५ ।
९२ - भुवनकोष १७ ।
९३ - ऐशियाटिक रिसर्चेज भाग ३ पृ. १७९ ।
९४ - पूर्व. पृ. २३१ ।
९५ - इन्डि. हि. क्काटर्ली भाग १ पृ. १३५ ।
९६ - अग्रवाल इतिहास प.
९७ - मिस्ट्रीज ऑफ फ्री. मैसनरी पृ. २७१ ।
९८ - मिस्ट्रीज ऑफ फ्री मैसनरी पृ. २७१ ।
९९ - दी स्टोरी ऑफ मैन पृ. १८७ ।
१०० - ऐशियाटिक रिसर्चेज भाग ३ पृ. ६ ।
१०१ - सपलीमेन्ट टू कान्फल्यून्स ऑफ ऑपोजिट्स पृ. १-६ ।
१०२ - दी स्टोरी ऑफ मैन पृ. १७३ ।
१०३-१०४ - पूर्व. पृ. २९१ ।
१०५ - पूर्व. पृ. २१२ ।
१०६ - पूर्व. पृ. १९१ ।
१०७-१०८ - पूर्व प्रमाण ।
१०९ - पूर्व पृ. १८७ ।
११० - अडेन्डा टू कान्फ्लयन्स ऑफ ऑपोजिट्स पृ. २ ।
१११ - पूर्व. पृ. ३ और हिस्टॉरिकल ग्लीनिन्गस पृ. ४२ ।
११२ - १६ इन्डि. हिस्टा. क्काटर्ली भाग २ पृ. २९३ ।
११३ - 'वीर' भाग -५ ।
११४ - दी स्टोरी ऑफ मैन पृ. १८६ ।
११५ - पूर्व. पृ. १६९ ।
११६ - अडेन्डा टू कॉन्फ्लूयन्स ऑफ ऑपोजिट्स पृ. २ ।
११७-११८-११९ - दी स्टोरी ऑफ मैन पृ. १८६ ।
१२० - कान्फ्लूयन्स ऑफ ऑपोजिट्स पृ. २४८ ।
१२१ - पूर्व. पृ. २४७ ।
१२२ - ऐशियाटिक रिसर्चेज भाग ३ पृ. १४१ ।

१२३ - दी स्टोरी ऑफ मैन पृ. २१० ।
१२४ - ऐशियाटिक रिसर्चेज भाग ३ पृ. १२२-१२३ ।
१२६ - 'ओरियन्टल' अक्टूबर १८०२, पृ. २३-२४ ।
१२७ - स्टोरी ऑफ मैन पृ. १७२ ।
१२८ - पूर्व. पृ. १८७ ।
१२९ - भद्रबाहु व श्रवणबेलगोल - इन्डियन एन्टी क्वेरी भाग ३ पृ. १५३ ।
१३० - न्यायबिन्दु अ. ३ ।
१३१ - स्टोरी ऑफ मैन पृ. २२६ ।
१३२ - ऐशियाटिक रिसर्चेज भाग ३ पृ. १९९ ।
१३३ - ऐशियाटिक रिसर्चेज भाग ३ पृ. १०० ।
१३४ - पूर्व. पृ. १७५ ।
१३५ - इन्डि. हिस्टॉ. क्वार्टर्ली भाग १, पृ. १३६ ।
१३६ - पूर्व प्रमाण । पूर्व. पृ. ४५९ ।
१३७ - पूर्व. पृ. ४५९ ।
१३८-१३९ - पूर्व प्रमाण ।
१४०-१४१ - पूर्व. ।
१४२ - पूर्व. पृ. ४५७ ।
१४३ - पद्मपुराण पृ. ३१२ ।
१४४ - उत्तरपुराण पृ. ५४५-५४७ ।
१४५ - एशियाटिक रिसर्चेज भाग ३ पृ. ५६ ।
१४६ - इन्डि. हिस्टॉ. क्वार्टर्ली भाग १ पृ. ४५६ ।
१४७ - पूर्व. भाग २ पृ. ३६ ।
१४८ - पूर्व. भाग १ पृ. ४५७-४५८ ।
१४९ - पूर्व. भाग २ पृ. २४३ ।
१५० - पूर्व पृ. ३८ ।
१५१ - पूर्व. पृ. ३७ ।
१५२ - पूर्व. पृ. २३८ ।
१५३ - पूर्व. भाग १, पृ. ४६१ ।
१५४ - पूर्व. भाग २ पृ. २४५ ।
१५५ - इन्डि. हिस्टा. क्वार्टर्ली भाग २ पृ. ३३-३४ ।
१५६ - पूर्व. भाग १ पृ. ४५६ ।
१५७ - कनिंघम, ए. जाग. इन्डिया पृ. १००-१०३ और नोट पृ. ६७२ ।
१५८ - इन्डि. हिस्टा. क्वार्टर्ली भाग २, पृ. २४० ।
१५९ - रालिन्सन सेन्ट्रल ऐशिया २४६ और अं. जैनगजट भाग-३ पृ. १३ ।
१६० - मेजर जनरल फरलांग की "शार्ट स्टडीज" पृ. ३३ ।

१६१ - स्टोरी ऑफ मैन पृ. १४३ ।
१६२ - ऐशियाटिक रिसर्चेज भाग ३ पृ. १५७ ।
१६३ - असहमत संगम देखो ।
१६४ - डुबाई, डिस्क्रिपशन ऑफ दि करैकृर... ऑफ पीपुल ऑफ इन्डिया की भूमिका ।
१६५ - राइस, मालाबर क्काटरली रिव्यू भाग ३ और इन्डियन सैकृ. आफ दी जन्स पृ. ४ नोट ।
१६६ - स्टोरी आफ मैन पृ. १८८ ।
१६७ - पार्श्वाभ्युदय के टीकाकार योगिराट् यही लिखते है, यथा - 'नागराजन्य साक्षात् नागानां राजानः **उरगेन्द्राः** तेषामपत्यानि नागराजन्या पृ. २६५ ।
१६८ - इन्डि. हिस्टॉ. क्काटर्ली भाग १ पृ. ४६० ।
१६९ - पूर्व भाग २ पृ. २३२-२३५ ।
१७० - आराधना कथाकोष भाग २ पृ. २४३ ।

❑

भगवान् पार्श्वनाथ का दीक्षाग्रहण और तपश्चरण

साकेत नगरे सोऽय जयसेनाख्य भूपतिः ।
धर्म्मप्रीत्यान्यदासौ प्राहिणोछ्री पार्श्व सन्निधं ।।

निःसृष्टार्थं महादूतं कृत्स्न कार्यकरं हितं ।
भगलादेशसंजातहयादिवाभृतेः समं ।।

- भट्टारक सकलकीर्तिः ।

राजकुमार पार्श्वनाथ आनन्द से काल-यापन कर रहे थे । पिता के राजकार्य में वे उनका हाथ बटाये हुये थे । युवावस्था को प्राप्त हो चुके थे । युवक वयस के ओत पूर्ण रस ने उनके शरीर को ऐसा खिला दिया था कि मानों कामदेव भी वहां आते खिज रहा है । भगवान तो जन्म से ही अतीव सुन्दर और सुदृढ़ शरीर के धारी थे, पर इस समय उनकी शोभा देखे नहीं बनती थी । नीलाकाश में जैसे शरद-पूनों का चन्द्रमा अपनी सानी नहीं रखता, वैसे ही भगवान के नीलवर्ण के सुन्दर शरीर में यौवन अन्यत्र उस उपमा को नहीं पाता था । भगवान् जिस ओर से होकर निकल जाते थे उस ओर के लोग उनके रूप सौन्दर्य पर बावले हो जाते थे । स्त्रियों को यह भी पता नहीं रहता था कि हमारा अंचल वक्षःस्थल से कब स्खलित हो गया है और हमारी लोक लज्जा क्या है ? जैन शास्त्रों में भगवान के विषय में ऐसा ही वर्णन मिलता है ।[१]

एक रोज यौवन सम्पन्न राजकुमार पार्श्व को देखकर उनके पिता को पुत्र के विवाह करने की सुध आई । सचमुच भारतीय मर्यादा के अनुसार पहले ब्रह्मचर्य आश्रम में पूर्ण दक्षता प्राप्त कर चुकने पर और युवा हो जाने पर ही

लोग गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते थे । आजकल की तरह नन्हें-नन्हें बालकों के विवाह उस जमाने में नहीं होते थे । अनमेल और वृद्ध विवाहों का भी अस्तित्व उस समय इस धरातल पर नहीं था; क्योंकि लोग गृहस्थ आश्रम का उपभोग करके वानप्रस्थ आश्रम का अभ्यास करने लगते थे । इस प्रकार के नियमित और संयमी सामाजिक वातावरण में ही आर्य संतान फल फूल रही थी और संसार भर में वह अपनी समानता में एक थी । जहां पहले उनके पूर्वज अपने पुत्र-पुत्रियों को युवास्था प्राप्त करने तक जैन उपाध्यायों के सुपुर्द करके धार्मिक और लौकिक ज्ञान में पारंगत बनाते थे, वहां अब उनको नन्हीं सी उमर से ही गृहस्थी की झंझट में फंसा दिया जाता है । वे बालक अपरिपक्व शरीर और अधूरे ज्ञान को ही रखकर गृहस्थी का महान् बोझा अपने कोमल कंधों पर लेकर चलने को बाध्य किये जाते हैं; जिसका परिणाम यह होता है कि वे गृहस्थ-धर्म का समुचित पालन करने में असफल रहते हैं । धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ का वह भली भांति पालन ही नहीं कर सकते हैं । वह तो पहले ही नाम को पुरुष रह जाते हैं । इस दशा में वृद्धावस्था तक उनकी वही असंयमी दशा बनी रहती है और वानप्रस्थ धर्म एवं सन्यास धर्म का पालन करना उनके लिये कठिन हो जाता है । इसके साथ ही अपने पूर्वजों के खिलाफ आज के जैनियों ने अपने को अलग-अलग खेमों में सीमित कर रक्खा है, जिससे विवाह क्षेत्र संकुचित हो गया है और योग्य वर कन्याओं के ठीक सम्बंध नहीं मिलते हैं । इससे भी सामाजिक ह्रास बहुत कुछ हो रहा है । किन्तु पूर्वकाल के जैनियों में यह बात नहीं थी । उनका विवाह क्षेत्र विशद था और उनके जीवन आदर्श रूप थे । आज उनके पदचिन्हों पर चलने में ही हमारा कल्याण है । अस्तु; उस समय के आदर्श सामाजिक जीवन के अनुसार ही जब भगवान पार्श्वनाथ पूर्ण

युवा हो गये तो उनके पिता ने उनका विवाह करना आवश्यक समझा था ।

राजा विश्वसेन ने राजकुमार पार्श्व के समक्ष जब विवाह का प्रस्ताव रक्खा, तो वे सकुचा गये । उन्होंने अपने बल-पराक्रम और योग्यता पर दृष्टि डाली, कर्तव्याकर्तव्य की ओर निगाह फेरी । पिता ने कहा - वंश वेल को आगे चलाने के लिये भगवान ऋषभनाथ की तरह तुम भी विवाह कर लो परंतु राजकुमार पार्श्व ने ऋषभदेव से जो अपनी तुलना की तो उनको इस प्रस्ताव से सहमत होना कठिन हो गया । उन्होंने कहा - 'मैं ऋषभदेव के समान नहीं हूं, मात्र सौ वर्ष की मेरी आयु है, जिसमें से सोलह वर्ष तो व्यतीत हो चुके हैं और तीस वर्ष में संयम धारण करने का अवसर आ जायगा । इसलिए नरराज ! अब मुझे इस झंझट में न फंसाइये । देखिये चहुं ओर का वातावरण कैसा असंयमी बन रहा है । लोग ब्रह्मचर्य के महत्व को ही नहीं समझते हैं । गृहत्यागी लोग तक पुत्रोत्पत्ति की आशा से विवाह करना अपना धर्म माने हुये हैं । गृहवास छोड़कर जंगलों में आकर बसे हुये लोग भी आज इंद्रिय निग्रह से मुंह मोड़ रहे हैं। इसलिये हे पिताजी ! कर्तव्य मुझे बाध्य कर रहा है कि मैं आपके प्रस्ताव को अस्वीकार करूँ । अल्पकाल और अल्प सुख के लिये आप ही बताइये मैं क्यों कर इस झंझट में पडूं ? इस अल्प प्रयोजन के लिये अपने कर्तव्य को कैसे ठुकरा दूं ?'

राजकुमार पार्श्व के इस प्रकार सारपूर्ण वक्तव्य को सुनकर राजा विश्वसेन चुप हो गये; परन्तु इस घटना ने उन्हें मर्माहत बना दिया । वह मन ही मन विलखते हुये नेत्रों में ही आंसुओं को छुपा ले गये । पुत्र का विवाह करने की लालसा किसे नहीं होती है और उस लालसा पर कहीं पानी फिर जाय तो अपार दु:ख का अनुभव क्यों नहीं होगा ? किन्तु राजा विश्वसेन बुद्धिमान थे ।

वह कर्तव्य अकर्तव्य और हिताहित को जानते थे । पार्श्वनाथजी के मार्मिक शब्दों का उनके पास कोई समुचित उत्तर नहीं था । उन्होंने समझ लिया कि इनके द्वारा तीनों लोक का कल्याण होनेवाला है; इसलिये इनके परमार्थ भाव पर अवलंबित निश्चय में अडंगा डालना वृथा है । राजकुमार पार्श्व इसके उपरांत श्रावकों के व्रतों का पालन करते हुये रहने लगे ।

वैराग्य

एक दिवस की बात है वह प्रसन्नचित्त राज-सभा में बैठे हुये थे, उसी समय द्वारपाल ने आकर सूचना दी कि अयोध्या के नरेश राजा जयसेन का दूत उनके लिये प्रेमोपहार लेकर आया है और सेवा में उपस्थित होने की प्रार्थना कर रहा है । द्वारपाल का यह निवेदन स्वीकृत हुआ और उसने राज अनुमति पाकर दूत को सभा में भेज दिया । दूत ने प्रणाम करके जो कुछ भेंट राजा जयसेन ने भेजी थी वह राजकुमार को नजर कर दी । इस भेंट में भगली देश के सुन्दर घोड़े आदि अनेक वस्तुयें थीं । भेंट की ओर निगाह फेरते हुये राजकुमार पार्श्व ने दूत से अयोध्या नगर का पूर्व महत्व वर्णन करने को कहा । दूत तो चतुर था ही, उसने भगवान ऋषभदेव से लगाकर उस समय तक का समस्त वृत्तांत अयोध्या का कह सुनाया । तीर्थंकरों के अनुपम कल्याणकों का जिक्र भी उसने किया । राजकुमार ने दूत को पुरस्कृत करके विदा किया; परन्तु उसके चले जाने पर भी वह उसके शब्दों को न भुला सके । अयोध्या के विवरण को सुनकर उनके हृदय में वैराग्य की लहर उमड़ पड़ी । नाचीज दूत के वचन उनके वैराग्य का कारण बन गये ।

राजकुमार पार्श्वनाथ का चित्त संसार से विरक्त हो गया - उनको संसार की सब वस्तुएं नि:सार जंचने लगी । उनमें उनको अब जरा भी ममत्व न रहा !

सांसारिक सम्पत्ति और विषय भोग उनको महादु:खदायी भासने लगे । विवेक नेत्रों के बल वह उनमें दु:ख ही दु:ख भरा देखने लगे ! वे ज्ञानवान थे । तीन ज्ञान के धारी जन्म से थे - वे इंद्रियजनित विषय - सुखों के इन्द्रायण सरीखे असली रूप को जानते थे ! फिर भला उनके लिये यह कैसे सम्भव था कि वह और अधिक समय गृहस्थ अवस्था में बने रहते ! विष से अनभिज्ञ मनुष्य भले ही विष भक्षण कर ले; परन्तु जो विष को जानता है वह उसको कैसे खा सकता है ? राजकुमार पार्श्वनाथ जन्म से ही निर्मल सम्यग्दर्शन के ज्ञाता थे - गृहस्थ दशा में भी वे संयमी जीवन व्यतीत करने के इच्छुक थे, वे उत्तम मार्ग का ही अनुसरण करना जानते थे, इसलिये उन्हें अपने स्वरूप रूप मुक्ति-धाम पाने की योजना करना प्राकृत आवश्यक थी । वैराग्य का गाढ़ा रंग उनके मन को सरवोर कर देगा, यह सर्वथा सुसंगत था । अनेक दोषों के घर स्वरूप और त्याज्य भोगों से पीछा छुड़ा लेना और परमार्थ सिद्ध के मार्ग में लग जाना ही बुद्धिमानों का कार्य है । राजकुमार पार्श्वनाथ ने सोचा कि जब स्वर्गों के सुखों से विषय तृष्णा की तृप्ति न हुई, तो अब मनुष्य पद में उसकी शांति क्या होगी ?

एक कवि यही लिखते हैं:-

'जो सागर के जलसेती, न बुझी तिसना तिस एती ।
सो जभ-अनी के पानी, पीवत अब कैसे जानी ?

ईंधनसौं आगि न धापै, नदियौं नहिं समापै ।
यों भोग विषै अति भारी, तृपते न कभी तन धारी !'

यही विचार कर के राजकुमार पार्श्वनाथ संसार से बिल्कुल विरक्त हो गये। वे अनित्य, अशरण आदि बारह भावनाओं का चिंतवन कर रहे थे कि

इतने में अपने कर्तव्य के प्रेरे हुये लौकांतिक देव वहां पर आ पहुंचे और भगवान के वैराग्य की सराहना करने लगे । कहने लगे कि 'पुरुषोत्तम ! यदि अपने जातीय स्वभाव के वशीभूत होकर और इस कार्य को अपना कर्तव्य समझकर हम आपके निकट आये हैं; परंतु नाथ ! आपको प्रबुद्ध करने की हम में सामर्थ्य कहां है ? आप स्वयं वस्तुओं के क्षणभंगुर विनाशीक स्वभावसे परिचित हैं । उनसे आपका स्वयमेव विरक्त होना कोई अचरज भरी बात नहीं है। त्रिलोकीनाथ बनने का उद्यम करना यह आपके लिये पहले से ही निर्णीत है। यह तो हमारी उतावली है, मन की व्यग्रता है जो हम आपको वैराग्य प्राप्ति में सहायक बनने का दम भरकर यहां आ पहुंचे हैं । सचमुच हमारी यह क्रिया सूरज को दीपक दिखाने के समान है ! बस, चलिये और महाव्रतों को धारण कीजिये । आपके इस दिव्य कल्याणक से ही हमारी आत्माओं को आनन्द का आभास मिलेगा।' इतनी विनय के साथ वे सब ब्रह्म लोक को चले गए ।

दीक्षा ग्रहण

इधर लौकांतिक देवों की इस बिनती को सुनकर भगवान वैराग्य रस में मग्न हो गये और दिगम्बरी दीक्षा धारण करने का दृढ़ निश्चय करने लगे । इस परमोच्च भाव के उदय होते ही संसार में फिर एक दफे इतनी प्रबल आनन्द-लहर फैल गई कि वह विद्युत गति से भी तेज चलकर संसार के कोने-कोने में भगवान् के दीक्षा कल्याणक के समाचार पहुंचा आई ! विशिष्ट पुण्य प्रकृति के प्रभाव से महान् पुरुषों के निकट दिव्य बातें स्वमेव ही होने लगती हैं । भगवान् के तप धारण करने के समाचार जानकर देवेन्द्र पुलकित वदन होकर चट सर्व ही देव देवांगनाओं सहित बनारस नगर में आया और भगवान का अनेक प्रकार से जयगान करने लगा । उपरांत सब देवों ने मिलकर भगवान् का अभिषेक

किया और उन्हें दिव्य वस्त्राभूषणों से अलंकृत बनाया; जिनको धारण करके वे ऐसे ही जान पड़ने लगे कि मानों मोक्षरूपी कन्या को वरने के लिये साक्षात् दूल्हा ही हों ! फिर देवेन्द्र ने भगवान से निम्न प्रकार प्रार्थना की; यही आचार्य कहते हैं -

'अमर्त्यादवतारोऽयं पारार्थैकफलस्तव ।
किं पुनस्त्रिदिवादन्यभोगातिशयहेतवः ।।

निर्वेदस्तेन देवायं फलेन प्रतिमन्यताम् ।
समुन्मील्यास्त्वया चैताः सतामंतारदृष्टयः ।।'

'हे भगवान ! देवलोक से जो आपका अवतार हुआ है, उसका फल परहित का सम्पादन करना है । इसलिये स्वर्ग से अन्य जितने भर भी भोग हैं वे स्वर्ग के भोगों से अधिक आपको अच्छे नहीं लग सकते । दूसरों का हित सम्पादन करनेवाले आप, विषय भोगों में नहीं फंस सकते । इसलिये हे भगवन् ! आपको जो वैराग्य हुआ है उसे सफल बनाइये, दिगम्बरी दीक्षा धारण कीजिये और केवलज्ञान पाकर उपदेश दे भव्य जीवों के अन्तरंग नेत्रों को खोल दीजिये। - (पार्श्वनाथ चरित्र पृ. ३८१-३८२)

इन्द्र ने अपने इस निवेदन को पूर्ण करते हुये भगवान को अपने हाथ का सहारा दे दिया । भगवान ने इन्द्र के हाथ को ग्रहण करके चट सिंहासन छोड़ दिया ? वहां देर ही किस बात की थी - वैराग्य तो पहले ही उनको वहां से उठ चलने को प्रेरणा कर रहा था । भगवान् तो इधर तप धारण करने का साधन करने लगे और उधर रणवास में जब यह समाचार पहुंचे तो इनकी माता एकदम विह्वल बन गईं ! मां की ममता एक साथ ही उमड़ पड़ी । 'हाय ! पुत्र नयनों के

तारे मुझे छोड़कर कहां जाते हो' ऐसे ही अनेक रीति से विलाप करने लगीं । राजा विश्वसेन भी खिन्नचित्त हो गये ! परन्तु प्रबुद्ध भगवान ने इनको आश्वासन बंधाया, माता को बड़े ही मधुर शब्दों में समझाया । उन्हें जगत के विनाशीक पदार्थों का स्वरूप सुझाया और सांसारिक सम्बन्धों की निस्सारता जतलाई ! प्रभु के उपदेश को सुनकर-हितमित पूर्ण वचनों को ग्रहण करके रानी ब्रह्मदत्ता का हृदय शांत हुआ ।[२] वह जान गई कि उनके महाभाग्यवान पुत्र का जन्म ही इसी हेतु हुआ है और वे इस अवस्था में अपने को धन्य मानने लगीं ।

माता-पिता को समुचित रीति से समझा बुझा और ढाढस बंधाकर भगवान् इन्द्र की लाई हुई विमला नामक पालकी में बैठकर वन की ओर प्रस्थान कर गये । पहले नरलोक के भूमिगोचरी और विद्याधर राजाओं ने क्रम से सात-सात पैंढ़ तक उस पालकी को उठाया और फिर समस्त देवसंघ उसको उठाकर ले चला ! इस दिव्य अवसर पर आकाश देव दुंदुभी के बजने से घनघोर झंकार से भर गया, देव कन्यायें अनेक प्रकार से नृत्य करने लगीं और चारों ओर से भगवान के ऊपर पुष्प वृष्टि होने लगी । आखिर भगवान् निकट के 'अश्वत्थ' नाम वन में पहुंचे ।[३] यहां पर इन्द्र का इशारा पाकर सब ही लोग शांत हो गये ।

भगवान् पालकी से उतर आये । शत्रु, मित्र और तृण-कंचन सब में समभाव रखकर उन्होंने अपने सब वस्त्राभूषण उतार डाले । इतने में शचीने वहीं पर एक वटवृक्ष के तले[४] स्थित चन्द्रकांत शिला को 'स्वस्तिका' से अलंकृत कर दिया ।[५] भगवान् पूर्व की ओर मुख करके उसी स्फटिक मणी पाषाण शिला पर बिराज गए और हाथ जोड़कर 'नमः सिद्धेभ्यः' कहकर

उन्होंने सिद्धों को नमस्कार किया । फिर बाह्याभ्यंतर परिग्रह को तजकर पंचमुष्टि लोंच किया ।[६]

इस प्रकार दिगम्बर मुद्रा को धारण करके वे ध्यान लीन हो गये । नर नारी और देव समूह भी भगवान की अभिवंदना करके अपने अपने स्थानों को चले गये । उस दिगम्बर मुद्रा में भगवान् बड़े ही सुन्दर जंचने लगे । कवि भी यही कहते हैं :-

'सोहै भूषन वसन बिन, जातरूप जिनदेह ।
इन्द्र नीलमनिकौं किधौं, तेजपुंज सुभ येह ।।

पोह प्रथम एकादशी, प्रथम प्रहर शुभ वार ।
पद्मासन श्री पार्सजिन, लियौ महाव्रत भार ।।

और तीनसै छत्रपति, प्रभु साहस अविलोय ।
राज छांरि संयम धरयौ, दुख दावानल-तोय ।।

तब सुरेश जिनकेश सुचि, छीर समुद पहुंचाय ।
कर थुति साथ नियोग सब, गयौ सुरग सुरराय ।।'[७]

भगवान् वीतरागमयी ध्यान अवस्था में लीन हो गये । तीन दिन तक वे वहीं उसी ध्यान मग्न दशा में स्थित रहे । उन्होंने तेला-उपवास कर लिया ! मुनियों के अट्ठाईस मूलगुण और चौरासी लाख उत्तर गुण उन भगवान ने धारण कर लिये । वे मौन[८] सहित योग साधन में अचल थे । इसी समय उन्हें मन:पर्यय ज्ञान की प्राप्ति हो गई थी । इसके उपरान्त वे निर्ममत्व, शांति मुद्रा के धारक, परम दयावान और परम उदास भगवान् शरीर की रक्षा के लिये योग निरोध कर खड़े हो गये और दीक्षा वन से एक ओर को विधि सहित भूमि

शोधते हुये चलने लगे और क्रमकर गुल्मखेट नामक नगर में पहुंच गये । वहां के धर्मोदय[९] अथवा धन्य[१०] नामक राजा ने उनको बड़ी भक्ति से पड़गाहकर-आमंत्रित करके शुद्ध और सरल आहार कराया था, जिसके पुण्य प्रभाव से उसके राजमहल में देवों ने पंचाश्चर्य किये थे । तीर्थंकर भगवान के समान त्रिलोक पूज्य परमोत्कृष्ट उत्तम पात्र को निर्विघ्न आहारदान देकर उस राजा ने अपनी कीर्ति तीनों काल के लिये तीनों लोक में फैला दी ! इस आहार दान से स्वयं राजा धर्मोदय अपने को संसार से पार पहुंचा समझने लगा ! वह थोड़ी दूर तक भगवान के साथ गया और फिर भगवान की आज्ञा पाकर अपने राजमहल को लौट आया । भगवान् वन में जाकर तपश्चरण में लीन हो गये !

तपश्चरण

तपोधन् भगवान् पार्श्वनाथ वन में आकर प्रतिमा योग से दुर्द्धर तप तपने लगे और धर्मध्यान में मग्न रहने लगे । उस समय उनकी परम पवित्र शांत मुद्रा के जो भी दर्शन कर लेता था, वह अपने दु:ख शोक सब ही भूल जाता था, स्वभावत: वह उनके चरणों में नत मस्तक हो जाता था ! परन्तु भगवान तो परमोच्च उद्देश्य की सिद्धि में तन्मय थे । उन्हें सिवाय निज पद प्राप्त करने के और कुछ भी ध्यान नहीं था - एकचित्त हो मौन धारण किये हुये वह उसी को प्राप्त करने की चेष्टा में प्रयत्नशील थे । कोई भी बाधा - कैसा भी प्रलोभन उन्हें उनके इष्ट मार्ग से विचलित नहीं कर सका था । वे एक व्यवस्थित और नियमित ढंग से आत्मोन्नति के मार्ग में पग बढ़ा रहे थे । वस्तु-स्वभावरूप तत्त्वों का चिन्तवन करके और इन्द्रिय निग्रह एवं विविध प्रकार की तप-क्रियायों द्वारा संयम का पालन करते हुये वह अपनी आत्मा को निर्मल और शुद्ध रूप परम शक्तिवान बना रहे थे ।

वह उस समय ऐसे प्रतिभाषित होते थे जैसे कल्लोलों से रहित निस्तब्ध नील समुद्र ही हो अथवा अडोल सुमेरु गिरी की शिखिर पर नीलमणि की सुंदर प्रतिमा ही बिराजमान हों । उनके चहुं ओर शांति का साम्राज्य फैल रहा था । सचमुच -

'वैरभाव छांड्यौ वन जीव, प्रीत परस्पर करैं अतीव ।
केहरि आदि सतावैं नाहिं, निर्विष भये भुजग वनमांहि ।।
सील सनाह सजौ सुचिरूप, उत्तरगुन आभरन अनूप ।
तपमय धनुष धरयौ निजपान, तीन रतन ये तीखतवान ।।
समताभाव चढ़े जगशीस, ध्यान कृपान लियौ कर ईस ।
चारितरंगमही में धीर, कर्मशत्रु विजयी वरवीर ।।'

इसी अवस्था में भगवान चार मास तक रहे थे और उपरान्त वे काशी के निकट अवस्थित दीक्षावन में पहुंच गये थे । किन्तु श्वेताम्बर संप्रदाय के श्री भावदेवसूरि विरचित 'पार्श्वचरित में' भगवान का अन्य स्थानों में पहुंचने का भी उल्लेख है । वहां भगवान का पारणा स्थान कोपकटक स्थान बताया गया है और धन्य को उस नगर का एक गृहस्थ (House holder) लिखा है । यह कोकटक नगर आजकल का धन्यकटक नगर अनुमान किया गया है ।[11] इस नगर से प्रस्थान करके उपरान्त उनका आगमन कालिगिरि के निकट वाले कादम्बरी वन में होना लिखा है । वहां वे कुन्द नामक सरोवर के तट पर एक जैन प्रतिमा के निकट विराजमान रहे थे । इसी अवसर पर चम्पा के करकण्डु नामक राजा का यहां आना और भगवान की विनय करना एवं देवोपनीत प्रतिबिम्ब के लिए मंदिर बनवा देने का उल्लेख है । इस कलिकुण्ड से भगवान को शिवपुरी पहुंचा बतलाया गया है; जहां के 'कौशाम्ब' नामक वन में वे

कायोत्सर्ग रूप में विराजमान हुए थे । यहीं पर नागराज धरणेन्द्र ने आकर भगवान की पूजा की थी और तीन दिन तक उन पर वह छत्र लगाये रहा था, जिससे यह स्थान ''अहिच्छत्र के नामसे विख्यात हुआ था यह कहा गया है । यहां से वे राजपुर पहुंचे जहां के राजा को भगवान के दर्शन करते ही अपने पूर्वभव याद आ गए थे । उसने भी भगवान की विनय की थी और जहां पर भगवान विराजमान थे, वहां पर उसने एक चैत्य बनवा दिया था जो कुक्कटेश्वर नाम से प्रसिद्ध हुआ था, यह लिखा है । उपरान्त भगवान अन्यत्र विचरते बताये गए हैं और इसी अन्तराल में कमठ के जीव का उन पर उपसर्ग होना कहा है और फिर उनको काशी के दीक्षा वन में पहुंचा बतलाया है ।[१२]

दिगम्बर जैन शास्त्रों में यह वर्णन नहीं है और कमठ के जीव का दीक्षा वन में उपसर्ग करना लिखा है । अस्तु; इस प्रकार हम भगवान के दीक्षा ग्रहण करने के अवसर और तपश्चरण करने का दिग्दर्शन कर लेते हैं ।

सन्दर्भ

१ - पार्श्वनाथचरित पृ. ३६३-३६७ ।
२ - श्री सकलकीर्ति, पार्श्वचरित सर्ग १६ श्लोक १३०... और पार्श्वपुराण पृ. ११९ ।
३ - पार्श्वपुराण पृ. ११९ - पार्श्वचरित पृ. ३८४ ।
४ - पार्श्वपुराण पृ. ११९ ।
५ - चंद्रकीर्ति आचार्य-पार्श्वचरित अ. १० श्लो. ११३ ।
६ - पार्श्वचरित पृ. ३८४ ।
७ - पार्श्वपुराण १२० ।
८ - पूर्ववत् और पार्श्वचरित पृ. ३८५ ।
९ - पार्श्वचरित पृ. ३८५ ।
१० - हरिवंशपुराण पृ. ५६९ और चंद्रकीर्ति आचार्य, पार्श्वचरित अ. १२ श्लोक १३ ।
११ - बंगाल, बिहार, ओड़ीसा जैन स्मार्क पृ. ७९ ।
१२ - भावदेवसूरि पार्श्व. सर्ग ६ श्लोक १२०-२१४ ।

❑

केवलज्ञान प्राप्ति और धर्म प्रचार

'बृहत्फणामण्डलमण्डपेन यं स्फुरत्तडित्पिङ्गरुचोपसर्गिणम् ।
जुगूह नागो धरणो धराधरं विरागसन्ध्यातडिदम्बुदो यथा ।।
स्वयोगनिस्त्रिंशनिशातधारया निशात्य यो दुर्जयमोहविद्विषम् ।
अवापदार्हन्त्यमचिन्त्यमद्भुतं त्रिलोकपूजातिशयास्पदं पदम् ।।

- समन्तभद्राचार्यः ।

श्रमण पार्श्वनाथ पर उपसर्ग

बनारस के अश्वत्थ वन में दिगम्बर मुद्रा धारण किये परम धीर वीर और गम्भीर मुनिराजों के इन्द्र सुन्दर सुभग नीलवर्ण के शरीर को धारण किये हुए कायोत्सर्ग आसन से बिराजमान हैं ! न किसी जीव से राग है और न किसी से द्वेष है । अपनी शुद्धात्मा के ध्यान में वे लीन हैं । किन्तु यह क्या ? इन मुनींद्र की शांतिमुद्रा का द्रोही कौन बन गया ? किसने यह पर्वतों से प्रहार करना इन पर शुरू कर दिया ? अरे, यहां तो तूफान की वर्षा हो गयी ! प्रचंड आंधी चल पड़ी। बड़े-बड़े विशाल पेड़ उखड़-उखड़ कर इन प्रभु के ऊपर गिरने लगे ! बिजलियां चमकने लगीं - वज्रपात होते दिखाई पड़ने लगे । न जाने उस शांतमय वातावरण में यह कोलाहल कहां से खड़ा हो गया ? किन्तु जरा देखो तो इस महा भयानक दशा में भी वे मुनिराज पूर्ववत् ध्यान मग्न हैं - वे अपनी योग समाधि से जरा भी विचलित नहीं हुए हैं । वे ज्यों के त्यों नील इन्द्रमणि की मनमोहनीय प्रतिमा की भांति वैसे ही खड़े हुये हैं !

पाठक ! जरा संभलिये, इधर देखिये, यह विक्राल रूप धारण किये हुए कौन आ रहा है ? क्रोध के आवेश में इसके नेत्र लाल हो रहे हैं । मुख क्रूरता को धारण किये हुये हैं और शरीर भयानकता को लिये हुये है । यह दीठ पुरुष मुनिराज के समक्ष आकर गरज रहा है । वह कह रहा है कि रे मुनि ! मैंने तुझ से यहां से चले जाने को कहा, पर तू अपने पाखण्ड के घमण्ड में कुछ समझता ही नहीं है । पर याद रख मुने ! मेरा नाम शंबरदेव नहीं, जो मैं तुझे तेरे इस हठाग्रह के लिए अच्छी तरह न छका दूं ! न मालूम तुझे मेरे विमान को रोक रखने में क्या आनन्द मिलता है । मुने ! अब भी मान जाओ और मेरे विमान के मार्ग को छोड़ दो ।'

किन्तु इस देव के इन वचनों का कुछ भी उत्तर उन मुनिराज से न मिला, वे शब्द उनके कानों तक पहुंचे ही नहीं । उन मुनिराज का उपयोग तो अपने आत्मा के निजरूप चिन्तवन में लग रहा था । उनका इन बाह्य घटनाओं से सम्बन्ध ही क्या ? शंवरदेव का गर्जना कोरा अरण्यरोदन था । उसकी धृष्टता उन शांत मुनिराज का कुछ न बिगाड़ सकी थी । यह देखकर वह बिलकुल ही आग-बबूला हो गया । उसके नेत्रों से अग्नि की ज्वालायें निकलने लगीं और वही बड़ी भयंकरता से उन मुनिराज पर घोर उपसर्ग करने लगा । अनेक सिंहों और पिशाचों का रूप बना-बना कर वह उन मुनिराज को त्रास देने लगा । कभी गहन जल बरसाने लगा, कभी शस्त्रों का प्रहार उन पर करने लगा और कभी अग्नि को चहुं ओर प्रज्वलित करने लगा !

यह शंबरदेव एक पूर्व भव में कमठ नामक द्विजपुत्र था और मुनिराज भगवान् पार्श्वनाथ के अतिरिक्त और कोई नहीं है । शंबर के कमठवाले भव में

भगवान उसके भाई थे और तब ही से इनका आपसी वैर चला आ रहा है, यह पाठक गण भूले न होंगे । उसी पूर्व वैर के वशीभूत होकर जब यह कमठ का जीव संबर ज्योतिषी देव अपने विमान में बैठा हुआ अश्वत्थ वन में से जा रहा था, तब मुनिराज के ऊपर नियमानुसार विमान के रुक जाने से वह अपना पूर्व वैर चुकाने के लिये उपरोक्त प्रकार से भगवान पर घोर उपसर्ग करने लगा था ।

ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों में हुये महान् विद्वान् श्री समंतभद्राचार्यजी इस घटना का उल्लेख इन शब्दों में करते हैं कि - ''उपसर्ग युक्त जो पार्श्वनाथ हैं उनको धरणेन्द्र नाम के सर्पराज ने अपने पीली बिजली की भांति चमकते हुये कांतिवान् फण समूह से वेष्टित किया है (अर्थात् उपसर्ग दूर किया है) - जिस प्रकार मानो संध्या की लालिमा नष्ट हो जाने पर उसमें जो पीत विद्युत से मिला हुआ पीतमेघ पर्वत को आच्छादित करता है ।'' (बृहद् स्वयंभू स्तोत्र पृ. ७१)

पापाचारी दुष्ट संबर की दुश्चेष्टा का पता जब धरणेन्द्र को लगा तो वह शीघ्र ही अपनी देवी पद्मावती सहित वहां आये । जिनके प्रताप से वे नाग-नागिनी भव से देव-देवी हुये, उनको वह कैसे भुला सकते थे ? वे फौरन ही भगवान की सेवा में आकर उपस्थित हुये थे । उन्होंने भगवान को नमस्कार किया और मणियों से मंडित अपना फण उनके ऊपर फैला दिया । पद्मावती देवी ने उन पर सफेद छत्र लगाया था । इसी का उल्लेख श्री समन्तभद्राचार्यजीने किया है । एक अन्य आचार्य भी धरणेन्द्र के इस सेवा भाव के विषय में कहते हैं कि -

'असमालोचयन्नेव जिनस्वाजप्यतां परैः ।
चक्रे तस्योरगो रक्षामीदक्षा हि कृतज्ञता ।।८०।।'

"भगवान जिनेन्द्र अजेय हैं । दूसरों से जीते नहीं जा सकते इस बात का विचार न कर धरणेन्द्र उनकी रक्षा के लिये प्रवृत्त हो गया । कृतज्ञता इसी का नाम है ।" (पा. च. पृ. ३९४)

दुष्ट संबर उनके आने पर और भी भयानकता से उपसर्ग करने लगा, जिससे वन के मृग आदि जंतु भी बुरी तरह व्याकुल होने लगे । पर वह अपने विकट भाव को पूरी तरह कार्य रूप में परिणत करने में जरा भी शिथिल न हुआ। पहले की तरह उपसर्ग करने में वह तुला ही रहा । कवि कहते हैं :-

"किलकिलंत बेताल, काल कज्जल छवि सज्जहिं ।
भौं कराल विकराल, भाल मदगज जिपि गज्जहिं ।।

मुंडमाल गल धरहिं, लाल लोयननि डरहिं जन ।
मुख फुलिंग फुंकरहिं, करहिं निर्दय धुनि हन हन ।।

इहि विध अनेक दुर्भेषधारि, कमठजीव उपसर्ग किय ।
तिहुंलोकवंद जिनचंद्र प्रति, धूलि डाल निजसीस लिय ।।"

सचमुच संबर देवने उन जिनेन्द्रचंद्र भगवान पर उपसर्ग करके चन्द्रमा पर मट्टी फेंकने का ही कार्य किया था ! वह उपसर्ग उन भगवान का कुछ भी न बिगाड़ सका; प्रत्युत उनके ध्यान को एकाग्र बनाने में ही सहायक हुआ; परन्तु उस संबरदेव ने अवश्य ही अपने आत्मा के लिये कांटे बो लिये वृथा ही पाप संचय कर लिया !

केवलज्ञान प्राप्ति

भगवान उपसर्ग दशा में और भी दृढ़ता पूर्वक समाधि लीन रहे । वास्तव में मनीषी पुरुष भयानक उपद्रव के होते हुये भी अपने इष्ट पथ से विचलित नहीं

होते हैं । अनेकों घोर संकट उनके मार्ग में आड़े पड़े हों, पर वे उनका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते हैं । फिर भला तीर्थंङ्कर भगवान का विचलित होना बिलकुल असंभव था । प्रत्युत इस परीक्षा समय पर घोर उपसर्ग दशा में भी अपने ध्यान को इतना प्रबल बनाने में वे सफल हुये थे कि इसी समय उनको **केवलज्ञान-सर्वज्ञता की प्राप्ति हो गई थी** ! संबर देव के भयानक संकटमय कृत्य उनके लिये फूल माल हुये थे । वे त्रिलोक्य पूज्य अर्हतपद-तीर्थंकर अवस्था को प्राप्त हुये थे । शुद्ध, बुद्ध-जीवन्मुक्त परमात्मा बन गये थे । श्री समंतभद्राचार्यजी कहते हैं कि "भगवान पार्श्वनाथ ने दुर्जय मोह शत्रु को परम शुक्ल ध्यान रूप खड्ग की तीक्ष्ण धार से मार कर के अचिन्तनीय अद्भुत गुणों युक्त स्थान स्थान पर तीन लोक की पूजा का अतिशय आधार, ऐसा जो "आर्हन्त्य" पद है उसको प्राप्त किया । अर्थात् उपसर्ग दूर होने के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त में ही मोह कर्म को नाशकर केवलज्ञान लक्षणरूप अर्हन्त अवस्था उन्हें प्राप्त हो गई ।" (बृ. स्वं. स्तोत्र पृ. ७१)

यह चैत्र कृष्ण चतुर्दशी का पवित्र दिन था । समय दोपहर से कुछ पहले का था । इसी समय पार्श्वनाथ भगवान तीर्थंकर पद को प्राप्त हुये थे, स्वयं बुद्ध परमात्मा हो गये थे । चराचर वस्तु तीनों लोक की उनके ज्ञान नेत्रों में स्पष्ट प्रतिभाषित होने लगी थी । अनन्त दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत सुख और अनंतवीर्य की अपूर्व निधि उनको प्राप्त हो गई थी । उनका दिव्य औदारिक शरीर ऐसा चमकने लगा था मानो सहस्र सूर्य-रश्मि का ही प्रकाश हो ! दुःख, शोक, क्षुधा, तृषा, राग, द्वेष आदि सब ही मानवी कमजोरियों को उन्होंने परास्त कर दिया था । वे अब उनके निकट फटकने भी नहीं पाती थीं । वे सशरीरी जीवित परमात्मा हो गये थे और उनके इस परमपद प्राप्त करने का

उत्सव मनाने इन्द्र व देव देवांगनायें फिर आये थे । आचार्य कहते हैं कि -

ततः प्रघोष जयकारतूर्यैर्दिवौकासां उल्लसितं समंतात् ।
निशम्य निर्मुच्च्यरूपं तदैव वभूव शत्रुः स च कांदिशीकः ।।

अर्थात् - 'केवलज्ञान के प्रगट होते ही देवों का बड़े जोर से जय जयकार शब्द होने लगा जिसे सुनते ही भूतानंद (संबर) का क्रोध एकदम शांत हो गया और वह एकदम अवाक् रह गया !' और अपने को अशरण जानकर भगवान की शरण में आया ! उसे वही शांति का लाभ हुआ ! उसे ही क्या, सारे संसार को इस दिव्य अवसर पर आनंद रस का आस्वाद मिल गया था ।

'प्रकटी केवलरविकिरन जाम, परिफूल्यो त्रिभुवनकमल ताम ।
आकास अमल दीसै अनूप, दिसि-विदिसि भई सब कमलरूप ।।'

समवशरण

देवों ने आकर भगवान का केवलज्ञान पूजन किया और बड़े ठाठ से भगवान का समोशरण-सभा भवन रच दिया । मानस्तंभ, पीठिका, आदिकर संयुक्त दिव्य मणियों का बना हुआ वह समवसरण तीन लोक की संपदा को भी लज्जित कर रहा था । भगवान के इस सुन्दर समोशरण को देखकर पाखंडी लोगों को यह भय होता था कि यहां कोई इन्द्रजाल की माया फैला रहा है । परंतु भगवान के निकट आने से यह सब मिथ्या धारणायें दूर भाग जातीं थीं । समवशरण के ठीक मध्य में उत्तमोत्तम पदार्थों से बनी हुई भगवान की गंधकुटी थी । इसके बीचों बीच में 'उदयाचल पर्वत की शिखिर के समान, सिंहों से चिह्नित, मणिमयी सिंहासन पर विराजमान परम तेजस्वी भगवान उस समय नम्रीभूत देवों को ऐसे जान पड़ते थे मानो ये साक्षात् सूर्य हैं ।' उन पर तीन छत्र

लग रहे थे और यक्षेन्द्र चंवर ढाल रहे थे । वहां मंद मंद पवन चल रहा था और समवशरण के बारह कोठों में अलग अलग मुनि-आर्यिका, देव-देवांगना, श्रावक-श्राविका, पशु-पक्षी आदि भव्यजन बैठे हुये अपूर्व शोभा को प्राप्त हो रहे थे । जिनेन्द्र भगवान के प्रभाव से समवशरण की भूमि निर्दोष हो गई थी । वहां उस समय किसी के परिणामों में किसी तरह का भी दोष नहीं था । सब ही जीव साम्यभाव से वहां विराजमान थे । आत्मबल का प्रत्यक्ष साम्राज्य वहां फैल रहा था । आचार्य कहते हैं कि इसी समय भगवान के प्रमुख शिष्य स्वयंभू नामक गणधर भगवान उनके निकट आकर उनका स्तवन बड़े भक्तिभाव से करने लगे थे, यथा-

देवस्तदा गणधरः प्रथमं स्वयंभूर्देवाधिदेवमुपढौक्य कृतप्रणामः ।
अ नम्रमौलिकतया स्थितिमत्सु पश्चादिंद्रेषु वस्तुगणने हितमन्वयुक्तं ।।

अर्थात् - ''प्रथम गणधर स्वयंभू देवाधिदेव भगवान् जिनेंद्र के पास आये । भक्तिपूर्वक नमस्कार करके उनके समीप में बैठ गये तथा अपने पीछे मस्तक नमाकर इन्द्रों के बैठ जाने पर उन्होंने पदार्थों के विचार में चित्त लगाया और वे इस प्रकार भगवान् जिनेंद्र की स्तुति करने लगे ।''

इत्याद्यनेकनयवादनिगूढतत्वं,
जीवादिवस्तु खलु मात्मदृशामभूमिः ।
त्वं विश्वचक्षुरसि देव तव प्रसादात,
सन्निर्णयोस्तु सुलभः स्वयमस्मदाद्यैः ।।

अर्थात् - 'अनेक नयवादों से जिसका स्वरूप छिपा हुआ है ऐसे जीव अजीव आदि पदार्थ आप सरीखे महानुभावों के ज्ञान के अगोचर नहीं । यथार्थ

रूप से आपको उनके स्वरूप का ज्ञान है । आप विश्वचक्षु सर्वज्ञ है । भगवन् ! आपकी कृपा से हमें उनका निर्णय सुलभ रीति से हो सकेगा ।' (पा. च. पृ. ४०६-४०७)

दिव्यध्वनि

प्रथम गणधर स्वयंभू के इस प्रकार निवेदन करने पर मेघ की गर्जना के समान भगवान की दिव्यध्वनि खिरने लगी । उसमें वस्तु स्वरूप में अनुपम पदार्थों का निर्णय होने लगा और सप्तभंगी नय कर परिपूर्ण परमोपादेय उपदेश हुआ । इस दिव्य उपदेश को सब ही जीव अपनी-अपनी भाषा में समझने लगे यह शास्त्रों में लिखा हुआ है । जिनेन्द्र भगवान के मुख से यथावत् तत्त्वों का स्वरूप जानकर सब ही भव्यजीव आनन्द मग्न हो गये । इसी समय भगवान का जिससे अनेक पूर्वभवों से वैर चला आ रहा था वह भूतानंद संबर नामक देव भगवान के निकट हीन गर्व होकर अपने वैर को भुला सका ! उसे परम सुखकर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो गई । धरणेन्द्र और पद्मावती भगवान के शासन रक्षक देवता माने जाने लगे और धरणेन्द्र के सम्बन्ध में भगवान ने कहा था कि वह मोक्ष जायगा । इस भविष्य सन्देश को सुनकर उपस्थित प्राणियों के हृदय प्रफुल्लित हो गये थे । वह भी भगवान के निकट से विनयपूर्वक यथाशक्ति चारित्र नियमों को ग्रहण करने लगे थे । आचार्य कहते हैं कि:-

'तथा धर्म्मोपदेशेन सभासर्वां जिनाधिराट् ।
पार्श्वः प्रल्हादयामास चंद्रः कैरविणीमिव ।।१८।।

सभासीना जनाः केचित्पीत्वा तद्वचनामृते ।
बभूव ग्रंथनिर्मुक्ताः काललब्धा प्रणोदिता ।।१९।।

अनून ललनाः काश्चिद्धर्म्मं श्रुत्वा जिनोदितं ।
बभूवुश्चार्य्यिकाधीश सर्वसंगविवर्जिताः ।।२०।।

जगृहुः श्रावकाचारं तत्रैकेचिन्नृपादयः ।
लोकाः प्रसन्नभावेन पीतार्हद्वाक् सुधारसा ।।२१।।२८।।'[१]

जिनराज पार्श्व भगवान के वचनामृतों को पीकर सभामध्य स्थित प्राणियों में से कितने ही ने तो सर्व परिग्रह का त्याग करके निर्ग्रंथ मुनि का चारित्र धारण कर लिया, किन्हीं ललनाओं ने उस जिन प्रणीत कल्याणकारी धर्म को सुनकर संसारी परिजन का सम्बंध त्याग दिया और वे आर्यिका हो गई और बहुतेरे राजाओंने श्रावक के व्रतों को ग्रहण कर लिया ! तथापि जो किसी प्रकार के भी व्रतों को धारण करने में असमर्थ थे वह भगवान् के वचनों को प्रसन्नचित्त होकर सुनने लगे । सारांशतः प्रत्येक उपस्थित प्राणी को भगवान् के सदुपदेश से लाभ हुआ था । वह प्रफुल्ल वदन उनके गुणों में लीन था । ब्रह्मचर्य और अहिंसा का भाव भगवान् ने स्वयं अपने चारित्र से प्रगट कर दिया था, जिसका उस समय बड़ी भारी आवश्यकता थी । इसी कारण उनकी प्रख्याति सर्व लोक में "जनप्रिय" (People's Favourite) के नाम से हो गई थी ![२] सचमुच वे भगवान् जनप्रिय ही नहीं थे, बल्कि 'प्राणी मात्र के प्रिय' थे । उन्होंने विश्वात्मक ज्ञान को (Cosmic Consciousness) पा लिया था । उनमें विश्व प्रेम के साक्षात् दर्शन होते थे !

दिव्य देशना

विश्वात्मक ज्ञान और विश्व प्रेम के आगार भगवान् पार्श्वनाथ का जब सर्व प्रथम दिव्य उपदेश बनारस के निकट अवस्थित वन में हुआ तो उनका यश

दिगन्तव्यापी हो गया । वे भगवान् जो कुछ कहते थे वह प्राकृत भाषा रूप में कहते थे । वहां रागद्वेष को स्थान प्राप्त नहीं था । उनकी क्रियायें भी प्राकृत रूप निरपेक्ष भाव से होती थीं । इसी अनुरूप सर्व लोकों का कल्याण करने के लिये उनका विहार भी आर्य खंड में हुआ था । एक तीर्थंकर के लिये यत्र-तत्र भ्रमण करके संसार के दुःखों से छटपटाते हुये जीवों को धर्म का सुखकर पीयूष पिलाना आवश्यक होता है । यह उनकी तीर्थंकर प्रकृति का प्रकट प्रभाव है । इसी अनुरूप भगवान पार्श्वनाथ का भी पवित्र विहार और धर्म प्रचार समस्त आर्य खंड में हुआ था । श्री वादिराजसूरि भी अपने पार्श्वनाथ चरित में यही कहते हैं :-

देवस्तु धर्ममृतं वरभव्यशस्यैः,
संग्राहयन् प्रविजहार विधाय जिष्णुः ।
स्वाभाविकः खलु रवेः कमलावबोधी,
दिक्षु भ्रमस्स न विचारपथोपसर्पी ।।४४।।

अर्थात् - 'जिस प्रकार कमलों के खिलानेवाला; दिशाओं में सूर्य का भ्रमण स्वभाव से ही होता है उसके वैसे भ्रमण में विचार करने की जरूरत नहीं पड़ती उसी प्रकार जयशील भगवान् जिनेन्द्र का भी भव्य जीवरूपी धान्यों के लिये धर्मामृत वर्षानेवाला विहार स्वाभाव से ही होने लगा । आज यहां तो कल वहां विहार करना चाहिये इस प्रकार इच्छापूर्वक उनका विहार न था ।'

इस विहार में भगवान् बिना किसी भेदभाव के सब ही जीवों को समान रूप से धर्मामृत का पान कराते थे । उनका विहार देवोपनीत समवशरण की विभूति सहित होता था । जहां जहां भगवान पहुंच जाते थे वहां वहां इन्द्र की

आज्ञा से कुबेर समवशरण की रचना कर देता था। जैन शास्त्रों का कहना है कि तीर्थंकर भगवान का प्रस्थान साधारण मनुष्यों की तरह नहीं होता है। उनके निकट से अशुभ रूप चार घातिया कर्मों का अभाव हो गया था। इसलिये उनका परम औदारिक शरीर इतना पवित्र और कमवजन हो गया था कि वह पृथ्वी से ऊपर बना रहता था। उसके लिये पृथ्वी का सहारा लेने की आवश्यकता नहीं रही थी। इसमें आश्चर्य करने के लिए बहुत कम स्थान हैं; क्योंकि योगसाधन के बल किंचित् काल के लिये छद्मस्थ मनुष्य भी अधर आकाश में तिष्ठते बतलाये गये हैं। फिर जो महापुरुष साक्षात् योगरूप हो गया है, उसके लिये आकाश ही आसन हो जाय तो कुछ भी अचरज की बात नहीं है।

योगशास्त्रों के पारंगत विद्वान् इस क्रिया में कुछ भी अलौकिकता नहीं पायेंगे। वास्तव में इसमें कोई अलौकिकता है भी नहीं; यद्यपि यह ठीक है कि आजकल ऐसे योगी पुरुषों के दर्शन पा लेना असंभव हो गया है। यही नहीं योग शास्त्रों में बताये हुये सामान्य नियमों के पालन में पाण्डित्य प्राप्त मनुष्य ही मुश्किल से देखने में मिलते हैं। इसलिये आजकल के लोग इन बातों की गिनती 'करिश्मो' (अतिशय) अथवा 'अलौकिक' बातों में करने लगते हैं और ऐसी बातें उनके गले के नीचे सहसा नहीं उतरती हैं! किन्तु वह भूलते हैं और आत्मा की अनन्तशक्ति में अपना अविश्वास प्रकट करते हैं। आत्मा में सब कुछ कर सकने की महोघ शक्ति विद्यमान है। उसके लिये कोई कार्य कठिन नहीं है।

आत्मा के स्वाभाविक रूप परमात्म पद को प्राप्त हुये भगवान् पार्श्वनाथ के लिये इसमें कुछ भी अलौकिकता नहीं थी कि वह दिव्य देह के धारक थे,

पृथ्वी का सहारा लिये बिना ही अधर गमन करते थे और सिंहासन पर अंतरीक्ष बिराजमान होकर मेघ गर्जन की भांति धर्मोपदेश देते थे, जिसे हर एक प्राणी अपनी अपनी भाषा में समझ लेता था । यदि इन बातों को अलौकिक मान लिया जाय और इस कारण स्वयं भगवान् पार्श्वनाथ मनुष्यों से विलग कोई लोकोत्तर व्यक्ति मान लिये जाय, तो उनसे हमारा क्या मतलब सध सकता है ? हम मनुष्य हैं । हमारा पथ प्रदर्शक भी मनुष्य होना चाहिये । जैनी करीब ढाई हजार वर्षों से इन पार्श्वनाथ भगवान को अपना मार्गदर्शक पूज्य नेता मानते आये हैं और वह इनको एक हम आप जैसा मनुष्य ही बतलाते हैं । इसलिये उनके विषय में अलौकिकता का अनुमान करना वृथा है । वह हमारे समान मनुष्य ही थे; परन्तु वह अपने कितने ही पूर्व भवों से ऐसे सद्प्रयत्न करते चले आ रहे थे कि उनकी आत्मा विशेषतर अपने निजी गुणों को प्राप्त करने में सफल हुई थी और उनके भाग्य में पुण्य प्रकृतियों की ही अधिकता थी ।

इसी कारण अपने इस तीर्थंकर भव में वह जन्म से ही इतर मनुष्यों से प्राय: अपनी सब ही क्रियायों में विलक्षणता रखते थे । महापुरुषों के लिये सचमुच यह विलक्षणता स्वाभाविक है । वह अपना मार्ग स्वयं निर्मित करते हैं। साधारण जनता के पीटे हुये रास्ते का सहारा लेना जरूरी नहीं समझते । इसीलिये यह कहा गया है कि 'होनहार विरवान के होत चीकने पात' और 'महाजना: येन गता: सा पन्था: ।'

भगवान् पार्श्वनाथ हमारे लिये पूर्णता के एक अनुकरणीय और अनुपम आदर्श हैं । उन्होंने अपने अमली जीवन से उस समय की जनता को अपने धर्मोपदेश की सार्थकता स्पष्ट कर दी थी । वे ग्राम-ग्राम और खेड़े-खेड़े में पहुंचकर धर्म का प्राकृत स्वरूप सब ही जीवित प्राणियों को समझाते थे ।

उनके निकट कोई खास मनुष्य समुदाय ही केवल धर्म धारण करने का अधिकारी नहीं था । उन्होंने उस समय की प्रगति के विरुद्ध सब ही श्रेणियों के मनुष्यों को धर्माराधन करने का अधिकारी बताया था । ऊंच-नीच का भेद लोगों में से हटा दिया था ! प्रत्येक हृदय में स्वाधीनता की पवित्र ज्योति जगमगा दी थी ! उन्होंने स्पष्ट कह दिया था कि पराश्रित होकर - दूसरों के मुहताज बनकर तुम को कुछ नहीं मिल सकता ! यदि तुम आत्म-स्वातंत्र्य को पाने के इच्छुक हो - स्वाधीनता के उत्कट पुजारी हो तो दृढ़तापूर्वक संयमी बनकर अपने पैरों पर खड़ा होना सीखो । तुम ही अपने प्रयत्नों से अपने को स्वाधीन और सुखी बना सकोगे ! उनका यह प्राकृत उपदेश हर समय और हर परिस्थिति के मनुष्यों के लिये परम हितकर है । यह एक नियमित सूत्र है जो तीन लोक और तीन काल में समान रूप से लागू है ।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ का विभिन्न देशों में विहार

भगवान् पार्श्वनाथ अपने इस दिव्य संदेश को प्राकृत रूप में दिगन्त व्यापी बनाते हुए समस्त आर्य खंड में विचरे थे । श्री सकलकीर्ति आचार्य उनके विहार का विवरण इस प्रकार लिखते हैं :-

'जिनभानूदये संचरंति साधु मुनीश्वराः ।
तदाकुलिंगिनो मंदा नश्यंति तस्करा इव ।।१७।।

कुरुकौशलकाशी सुह्यावंती पुंड्र मालवान् ।
अंग बंग कलिंगाख्य पंचालमगधाभिधान् ।।१८।।

विदर्भभद्रदेशाख्य दर्शार्णोदीन बहूनजिनः ।
विहारमहाभूत्या सन्मार्ग देशिनोद्यतः ।।१९।।२३।।'

अर्थात् - जिनेन्द्र रूपी भानु के उदय होने से साधु मुनीश्वरों का संचार हो गया और कुलिंगी जटिल आदि पाखंड रूप अंधकार का उसी तरह नाश हो गया जैसे चोरों का हो जाता है । फिर भगवान का पवित्र विहार कुरु, कौशल, काशी, अवंती, पुंड्र, मालवा, अंग, बंग, कलिंग, पंचाल, मगध, विदर्भ, भद्र, दर्शार्ण आदि देशों में महाविभूति के साथ हो गया था । यह सारे ही देश आजकल इसी भारत के अन्तर्गत मिल जाते हैं । इसी तरह एक अन्य आचार्य भगवान् के विहार में आकर पवित्र हुये देशों का उल्लेख एक दूसरे रूप में यूं करते हैं :-

'तत्वभेदप्रदानेन श्रीमत्पार्श्वप्रभुर्महान् ।
जनान् कौशलदेशीयान् कुशलान् संव्यध्यद्धृश ।।७६।।

भिंदन् मिथ्यातमोगाढं दिव्यध्वनिप्रदीपकैः ।
काशीय देशीयकोकान् स चक्रे संयमतत्परान् ।।७७।।

श्रीमन्मालवदेशीय भव्यलोकसुचातकान् ।
देशनारसधाराभिः प्रीणयाभास तीर्थराट् ।।७८।।

अवंतीयान् जनान् सर्वान् मिथ्यात्वानलतापितान् ।
रयान्निर्वापयामास पार्श्वचंद्रामृतैः ।।७९।।

गौर्जराणां जनानां हि पार्श्वसम्राट् जितेंद्रियः ।
मिथ्यात्वं जर्ज्जरंचक्रे सद्वचः शस्त्रघातनैः ।।८०।।

महाव्रतधरान् कांश्चिन्महाराष्ट्रजनान् व्यधान् ।
दीक्षोपदेशदानेन पार्श्वकल्पद्रुमस्तहा ।।८१।।

पार्श्वभट्टारका श्रीमान् पादन्यासेर्विहारतः ।
सर्वान् सौराष्ट्र लोकाश्च पवित्रान् चिद्रधेमृशं ॥८२॥

अंगे वंगे कलिंगेऽथ कर्णाटे कौकणे तथा ।
मेदपादं तथा लाटे लिंतिगे द्राविडे तथा ॥८३॥

काश्मीरे मगधे कच्छे विदर्भे च दशाके ।
पंचाले पल्लवे वत्से पराभीरे मनोहरे ॥८४॥

इत्यार्यखंड देशेषु व्यक्रीणात्समहाधनी ।
दर्शनज्ञानचारित्ररत्रान्मेवोतयान्यलं ॥८५॥१५॥'[३]

भावार्थ - तत्त्व भेद को प्रदान करने के लिये महान् प्रभु श्री पार्श्व भगवान ने कौशल देश के कुशल पुरुषों में विहार किया और अपनी दिव्यध्वनि रूप प्रदीप से गाढ़ मिथ्या तम की धिज्जियां उड़ा दीं । फिर संयम में तत्पर काशी देश के मनुष्यों में धर्म चक्र का प्रभाव फैलाया । श्री मालवदेश के निवासी भव्य लोक रूप चातकों ने भी तीर्थराट्के धर्मामृत का पान किया था । अवंती देश जो मिथ्यानल से तप्त था सो पार्श्वरूपी चंद्र के अमृत को पाकर शांत हो गया था। गौर्जर देश में भी जितेन्द्रिय पार्श्व सम्राट् के सद्वचनों के प्रभाव से मिथ्यात्व बिलकुल जर्जरित हो गया था । महाराष्ट्र देशवासियों में अनेकों ने पार्श्व भगवान से दीक्षा ग्रहण की थी । सर्व सौराष्ट्र देश में भी पार्श्व भट्टारक का विहार हुआ था, जिससे वहां के लोक पवित्र हो गए थे । अंग, बंग, कलिंग, कर्नाटक, कौंकन, मेदपाद (मेवाड़) लाट, द्राविड़, काश्मीर, मगध, कच्छ, विदर्भ, शाक, पंचाल, पल्लव, वत्स इत्यादी आर्य खंड के देशों में भी भगवान् के उपदेश के सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र रत्नों की अभिवृद्धि हुई थी ।

बिजैलिया पार्श्वनाथ तीर्थ

इस वर्णन में आये हुए देश भी विशेषकर आजकल के भारत में ही गर्भित हैं, किन्तु पूर्वोल्लेख से इसमें कर्णाटक, कौकण मेदपाद, द्राविड़, काश्मीर, शाक और पल्लव देश तो दक्षिण भारत में आ जाते हैं । मेदपाद-मेद अथवा मेड़ लोगों का निवास स्थान आजकल का राजपूताना है ।[१-९] यहां पर बिजौलिया पार्श्वनाथ नामक महान अतिशय जैन तीर्थ आज भी राजस्थान के मेवाड़ रिसायत जिला भीलवाड़ा के अंतर्गत विद्यमान है । यह स्थान भगवान पार्श्वनाथ के समवशरण के आने के कारण ही अतिशय क्षेत्र में परिगणित किया गया है । यहाँ बड़ी-बड़ी शिलाओं पर प्राचीन बड़े-बड़े शिला-लेख हैं और कुछ लोगों की मान्यता है कि कमठ का उपसर्ग भी यहाँ हुआ था । काश्मीर आजकल का काश्मीर ही हो सकता है । यहां भी उस प्राचीन काल में जैन धर्म का प्रचार हुआ जैनशास्त्रोंसे प्रकट होता है ।

देश-विदेशों में धर्म प्रचार

सिकन्दर आजम के और उपरान्त चीनी यात्रियों के जमाने में जब उत्तर पश्चिमीय सीमा प्रान्त में एवं स्वयं अफगानिस्तान में विशाल दिगम्बर जैन मुनि मिलते थे तो यह बिलकुल संभव है कि काश्मीर में भी उनकी गति रही हो ! प्राकृत यह ठीक नहीं मालूम देता कि सीमा प्रान्त और मद्र देश (मद्रि-पंजाब) में जैन धर्म का बाहुल्य रहते हुये काश्मीर उससे अछूता बच गया हो ।

आगे शाक देश का उल्लेख है । इससे स्पष्ट नहीं है कि किस शाकदेश का भाव यहां पर इष्ट है ?

भारत में महात्मा बुद्ध का वंश 'शाक्य' नाम से प्रसिद्ध है और उनका देश भी 'शाक्य भूमि' से परिचित है । संभव है, भगवान पार्श्व का विहार यहीं

पर हुआ हो । यह प्रदेश नेपाल की तराई में था और नेपाल के कथानक से भी ऐसा प्रकट होता है कि भगवान पार्श्व का आगमन वहां हुआ था । उसमें कहा गया है कि काश्यप बुद्ध बनारस से आये थे और स्वयंभू मंदिर में रहकर उन्होंने उपदेश दिया था ।

फिर वहाँ गौड़ देश (बंगाल) को चले गए थे । वहां के प्रचण्ड देव नामक राजा ने उनको पिण्डपात्र दिया था । बुद्ध ने उनसे स्वयंभू क्षेत्र (नेपाल) जाने को कहा था । सो वह अपना राज्य अपने पुत्र शक्तिदेव को देकर भिक्षु हो गया था और शास्त्राध्ययन करने लगा था । उपरांत वह नेपाल गया और शांतिकर नाम से परिचित हुआ ।[६] यहां भगवान पार्श्वनाथ का उल्लेख गोत्ररूप (काश्यप) में किया गया है । उनका बनारस को आना और बंगाल को जाना स्पष्ट कर देता है कि सचमुच काश्यप बुद्ध भगवान् पार्श्वनाथ ही होंगे; क्योंकि भगवान ने धर्मोपदेश बनारस से ही देना प्रारम्भ किया था और वे बंगाल में भी गये थे, यह प्रगट है ।

आजकल की खोज से यह प्रमाणित हुआ है कि श्री पार्श्वनाथजी के धर्म तथा उपदेश का असर अंग-बंग और कलिंग में फैला हुआ था । भगवान् ताम्रलिप्त से चलकर कोपक अथवा कोप कटक पुहंचे थे; जो उनके वहां पिण्ड-आहार ग्रहण करनेके कारण उपरांत धन्य कटक कहलाने लगा था और जो आजकल का कोपारी ग्राम है ।[७] इन प्रदेशों में भगवान् पार्श्वनाथ की मान्यता और मूर्तियां भी बहु संख्या में प्राचीन मिलती है ।

कलिंग देश के महाराजा खारवेल द्वारा उदयगिरि-खण्डगिरि में निर्मित्त हाथी गुफा शिलालेख आदि में इन तीर्थंकर भगवान्‌की सम्पूर्ण जीवनी के चित्र दीवालों पर अंकित हैं ।[८] उन्होंने पौड्र, ताम्रलिप्त आदि में विशेष रीति से अपना

विहार किया था । आज भी रांची, मानभूम आदि जिलों में हजारों मनुष्य केवल भगवान् पार्श्वनाथ के नाम की उपासना करते हैं, उनको अपना इष्टदेव मानते हैं - परन्तु उनके धर्म के विषय में और अधिक आज वे कुछ भी नहीं जानते; यद्यपि वे अब भी सराक (श्रावक) नाम से प्रख्यात हैं ।[९] इससे स्पष्ट है कि भगवान का विहार बंगाल में भी हुआ था और ऊपर शाक देश में उनका पहुंचना लिखा ही है, जो नेपाल की तराई का शाक्य प्रदेश ही हो सकता है । स्वयं शाक्यवंशी राजा शुद्धोदन के गृह में जैन धर्म की मान्यता थी, ऐसा बौद्ध ग्रन्थों के कथन से प्रमाणित होता है ।[१०] इस अवस्था में भगवान् पार्श्वनाथजी का ही नेपाल में धर्म प्रचार करना संभवित होता है, जिसका उल्लेख पूर्वोक्त प्रकार नेपालके इतिहास में किया गया है । शाक्य भूमि के अतिरिक्त किसी अन्य देशका नाम 'शाक' भारत में तो देखने को मिलता नहीं है । हां ! इन्डो-ग्रीक राजाओं की राजधानी शाकल अथवा साकल (आजकल का स्यालकोट) अवश्य शाक से सादृश्यता रखती है और वहां के प्रख्यात् राजा मिलिन्द (Mencider) अधिकांश यवनों के साथ एक समय जैनधर्मानुयायी थे, यह भी प्रगट है ।[११] परन्तु यह साकल और राजा मनेन्द्र अथवा मिलिन्द आदि भगावान् पार्श्वनाथ से एक दीर्घकाल उपरांत भारतीय इतिहास में स्थान पाते हैं। इसलिये उक्त शाख का शाकदेश साकल नहीं हो सकता है ।

इसके अतिरिक्त भारत के हर शाकद्वीप (Sythia) में भगवान् पार्श्वनाथ का विहार हुआ हो, तो कोई आश्चर्य नहीं है, क्योंकि प्राचीनकाल में भारत और शाकद्वीपका विशेष सम्बंध था ।[१२] लोगों का कहना है कि कृष्ण के पुत्र शम्ब शाकद्वीप से आये थे और वह अपने साथ शाकद्वीपस्थ ब्राह्मणों को भी लाये थे जो सूर्यकी उपासना करते थे । यही ब्राह्मण आजकल के भोजक हैं, जो जैन

सम्प्रदाय में विशेष परिचित हैं । तिस पर मध्य ऐशिया और यूनान तक जैन धर्म के अस्तित्व के चिन्ह मिलते हैं । इसलिये यह भी अनुमान किया जा सकता है की भगवान का विहार शाकद्वीप में हुआ हो, जो जैन दृष्टि से आर्यखण्ड में आ जाता है ।

अब सिर्फ दक्षिण देशों के प्रदेश रहे हैं । जैन शास्त्रों में यहां भगवान् पार्श्वनाथ के बहुत पहले से जैन धर्म का अस्तित्व बतलाया गया है; किन्तु आजकल के विद्वानों को ऐसी धारणा हो गई है कि सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के जमाने में श्रुतकेवली भद्रभाहु द्वारा ही सर्व प्रथम वहां जैन धर्म का प्रचार हुआ था। इस धारणा में कुछ अधिक वजन है यह दिखता नहीं, क्योंकि जैनेतर शास्त्रों से वहां इस काल के बहुत पहले से जैन धर्म का प्रचलित होना प्रतिभाषित होता है । तिस पर स्वयं भद्रबाहुस्वामी की घटना से ही यह बात प्रमाणित है । यदि उनके समय के दुष्काल में दक्षिण में जैनी न होते तो वह वहां को प्रस्थान कैसे कर जाते ? क्योंकि जैन मुनि श्रावकों के यहां सविधि आहारदान पा सकते हैं अन्यत्र उसका मिलना कठिन है । इससे यही प्रगट है कि वहां पर जैनधर्म उनके पहले से विद्यमान था । 'राजाबलीकथे' नामक ग्रन्थ में यही कहा गया है और इस कथन को विद्वान् लोग करीब-करीब विश्वसनीय बतलाते हैं ।[१३] तिस पर बौद्धों के 'महावंश' नामक ग्रन्थ में ईस्वी सन् से पहले ४३७ के करीब सिंहल 'महावंश' (Ceylon) में अनुरूद्रपुर के बसाये जाने का वर्णन दिया हुआ है । उसमें वहां पर 'गिरि' नामक एक निगन्थ (जैन) उपासक को स्थान देने एवं वहां के राजा पांडुगाभय द्वारा 'निगन्थ कुम्बन्ध' के लिये एक मंदिर बनवाने के उल्लेख आये हैं ।[१४] इस कथन से स्पष्ट है कि सिंहल-लंका में ईसा से पूर्व पांचवीं शताब्दि में जैन धर्म मौजूद था । इस दशा में दक्षिण भारत

का उस समय उसके प्रचार से अछूता बच जाना कुछ जी को नहीं लगता । इसी कारण कतिपय विद्वान् इस बात को मानने के लिये तैयार हुये हैं कि *श्री भद्रबाहुस्वामी से पहले ही जैन धर्म का अस्तित्व दक्षिण भारत में मौजूद था ।*[१५]

यहाँ पर यह शंका करना भी वृथा है कि जैनधर्म समुद्र मार्ग द्वारा सीधा सिंहल-लंका को पहुंच गया होगा; क्योंकि जब वह जहाजों द्वारा लंका पहुंच सकता है तो उसी तरह दक्षिण भारत में भी दाखिल हो सकता है । दक्षिण भारत से भी सामुद्रिक व्यापार तब चलता था । तिस पर जैन शास्त्र स्पष्ट कहते हैं कि वहां पर जैन धर्म का अस्तित्व बहुत प्राचीन काल से है । इसलिये इसमें शंका करना वृथा है कि भगवान पार्श्वनाथ का विहार दक्षिण भारत में हुआ था। उनके वहां पुहंचने के स्पष्ट प्रमाण वहां पर के उनके आगमन के स्मारक स्वरूप अतिशय तीर्थक्षेत्र आज भी मिलते हैं । कलिकुण्डपार्श्वनाथ नामक तीर्थ दक्षिण भारत में ही है ।[१६]

इसी तरह भगवान का विहार मध्य भारत में भी हुआ था, यह उपरोक्त शास्त्र उद्धरणों से प्रमाणित है । प्राचीन 'निर्वाणकांड' गाथा से भी यही प्रकट है-

पारस्स समवसरणे सहिया वरदत्त मुणिवरा पंच ।
रिस्सिदेभिरिसिहरे, णिव्वाणगया णमो तेसिं ।।१९।।

यह रेशिंदेगिरी नैनागिर के नामसे प्रसिद्ध है, जो की मध्यप्रदेश के छतरपुर जिले में है तथा महातीर्थ सागर (म.प्र.) से चालीस कि.मी. दूर दलपतपुर ग्राम के पास स्थित है और यहां पहाड़ी पर चालीस दिगम्बर जैन

मंदिर हैं । यहाँ भगवान पार्श्वनाथ समवसरण आया था। यहाँ से उनके उपदेश दिक् दिगंत तक फैले थे ।

इनके अतिरिक्त श्वेताम्बराचार्य भावदेवसूरि भगवान पार्श्व का विहार-वर्णन इस प्रकार करते हैं । वह कहते है कि पहले भगवान ने गंगा-जमना के किनारे वाले देशों में धर्म प्रचार किया[१७] और फिर वह पुंड्रदेश को विहार कर गये थे[१८] । वहां के प्रसिद्ध नगर ताम्रलिप्ति में उनका विशेष उपदेश हुआ था[१९] । उपरांत बाहरह वर्ष के बाद वे मध्यभारत की नागपुरी में पहुंचे थे[२०] और यहां से उनका आगमन सम्मेदाचल पर्वत पर हुआ बतलाया गया है[२१] । यहां पर श्वेताम्बराचार्य ने केवल उन स्थानों का उल्लेख किया है, जहां पर की किसी खास घटना का वर्णन उनको देना इष्ट है । इस हालत में उनका अन्य प्रदेशों को अछूता छोड़ देना ठीक ही है । इस तरह पर जहां भगवान पार्श्वनाथ का पवित्र विहार हुआ था, वहां वहां का वर्णन जैन शास्त्रों में मिलता है । इस पवित्र विहार में अव्याबाध सुख को दिलानेवाले धर्म का बहु प्रचार हुआ था । भव्य रूपी चातकों के लिये दुर्लभ धर्मामृतकी अपूर्व वर्षा हुई थी । जो भी भगवान के समवशरण में पहुंच गया वह कृतकृत्य हो गया । यही नहीं, जिस ओर भगवान का विहार हो गया उस ओर कोसों में सुकाल फैल गया था - ग्रामीण लोग आनन्द मग्न हो गए थे । दुर्भिक्ष का वहां पता ही नहीं मिलता था । साक्षात् परमात्मा तीर्थंकर भगवान की पुण्य प्रकृति से सब को सब ठौर सुख ही सुख नजर पड़ता था । इस तरह पर भगवान का सर्वत्र सुखकारी धर्मप्रचार और विहार हुआ था ।

'बहुदेशन माही प्रभु विहराही भवि जीवन संबोधि दये ।
मिथ्यामत भारी तिमिर विदारी जिनमत जारी करत भये ॥

कछु इच्छा नारी विनि डगधारी होत विहारी परमगुरू ।
जिन प्राणिन केरा तरब सवेरा तितै नाथ मग होत शुरू ॥

वामाके प्यारे जग उजियारे मनसों थारे पद परसों ।
जिन परसे सारे पातक जोर और सवारे शिव दरसों ॥'

सन्दर्भ

१ - श्री चंद्रकीर्त्याचार्य प्रणीत पार्श्वचरित सर्ग २८ ।
२ - कल्पसूत्र (S. B. E.) पृ. २४९ ।
३ - पार्श्वनाथतचरित सर्ग १५ ।
३-ए - राजपूतानेका इतिहास भाग १ पृ.२ ।
४ - जर्नल आफ दी रायल-ऐशियाटिका सोसाइटी, जनवरी सन् १८५५ ।
५ - कनिन्धम, ऐ. जाग. आफ इन्डिया पृ. ६१७ ।
६ - हिस्टरी आफ नेपाल पृ. ८३-८४ ।
७ - आर्केलॉजिकल सर्वे ऑफ मयूरभंज सन् १९११ और बंगाल प्राचीन जैनस्मार्क पृ. ७९ ।
८ - बंगाल, ओडीसा, बिहार के प्राचीन जैनस्मार्क पृ. ८९-९० ।
९ - पूर्व. पृ. ४२ और १४० -१४७ पृ. ४१३ ।
१० - भगवान महावीर और म. बुद्ध पृ. ३७ ।
११ - 'वीर' वर्ष २ पृ. ४१३ ।
१२ - टॉड का राजस्थान (वकेंटेश्वर प्रेस) भा. १ पृ. २७ ।
१३ - स्टडीज इन साउथ इन्डियन जैनीज्म पृ. ३२ ।
१४ - महावंश पृ. ४९ ।
१५ - स्टडीज इन साउथ इंडियन जैनीज्म भाग १ पृ. ३३ ।
१६ - दि. जैन डायरेक्टरी देखो ।
१७ - पार्श्वचरित सर्ग ६ श्लो. २५८ ।
१८ - पूर्व. स. ८ - श्लो. १-६ ।
१९ - पूर्व. स. ८ श्लो. ५-६ ।
२० - पूर्व. ८-१९९ ।
२१ - पूर्व. ८-३६३ ।

❑

तीर्थंकर पार्श्वनाथ के दिव्य धर्मोपदेश

समन्तभद्राचार्य : ने स्वयंभू स्तोत्र में लिखा है -

तमोत्तु ममतातीत ममोत्त ममतामृत ।
ततामितमते तात मतातीतमृतेमित ॥१००॥'

'हे पार्श्वनाथ ! आप ममत्व रहित हैं !' ममता-तस्कर आप से कोसों दूर रहता है; इसीलिये 'आपका आगम रूपी अमृत सर्वोत्कृष्ट है । आपका केवलज्ञान भी अतिशय विशाल और अपरिमित है ।' उसके धवल आलोक में अज्ञान तम से चुंधियाई हुईं आंखें यथार्थ सत्य को देखने में समर्थ होती हैं । उस वैज्ञानिक उपदेश के बल ही लोक इस अगाध संसार सागर के पार पुहंचने का साहस कर पाता है ।

वस्तु स्वरूप का तत्त्वोपदेश -

सचमुच भगवान के वस्तु स्वरूपमय धर्म-पीयूष को पीकर ही महान् संसार-रोग में ग्रसित मनुष्य उससे मुक्ति पा लेते हैं । इसलिये हे भगवन् ! 'आप सबके बंधु हैं ! जन्म जरा मरण रहित हैं तथा अपरिमित हैं ।' आपके ये चरण युगल मेरा ही क्या सारे संसार का अज्ञानांधकार दूर कर दें यही भावना है। आपके परम पावन चरित्र का अवगाहन करते हुये आपके दिव्योपदेश के दर्शन पा लेना परम उपादेय और आवश्यक है । भगवान पार्श्वनाथ के जीवन चरित्र में यही एक अवसर इतना महत्त्वशाली है कि इसका प्रभाव उसी क्षण दिगन्तव्यापी हो गया था । तीर्थंकर भगवान का सर्वज्ञ पद को प्राप्त होना और फिर प्राकृत धर्मामृत की वर्षा करना बड़ा ही महत्त्वपूर्ण और प्रभावशाली कार्य है । जिस तरह भगवान महावीर के जीवन में उनके इस दिव्य अवसर का प्रभाव

महात्मा बुद्ध और मक्खलिगोशाल जैसे उत्कट प्रचारकों पर पड़ा था। वैसे ही भगवान पार्श्वनाथ के प्रभाव से उनके समय के धार्मिक वातावरण में एक क्रांति खड़ी हो गई थी, यह हम आगे देखेंगे। यहां पर तो यह देखना मात्र इष्ट है कि भगवान ने अपने धर्मोपदेश में कहा क्या था?

जैन मान्यता है कि तीन काल और तीन लोक में जब जब जो जो तीर्थंकर होंगे, उनके धर्मोपदेश भी वैसे ही एक समान होंगे। उनमें एक दूसरे से किञ्चित भी अन्तर नहीं पड़ सकता है। यह एक बड़ा ही अटपटा और अनोखा सा दावा है, परन्तु ध्यान देने से इसकी सार्थकता प्रकट हो जाती है। बेशक यह जी को नहीं लगता कि हर समय के हर तीर्थंकर का धर्मोपदेश एक ही प्रकार और एक ही ढंग का हो। यदि उनका धर्मोपदेश एक ही प्रकार और एक ही ढंग का हर समय होता मान लिया जाय, तो फिर विविध तीर्थंकरों का कालान्तर में अवतीर्ण होना कुछ महत्त्वशाली रहता भी नजर नहीं पड़ता, क्योंकि समय की परिस्थिति हर समय एक सी नहीं रहती और एक अमुक प्रकार की परिस्थिति के अनुकूल कहा गया उपदेश एक अन्य प्रकार की परिस्थिति के लिये समुचित नहीं रह सकता और यह स्पष्ट है कि प्रत्येक क्षेत्र और प्रत्येक काल में संसारी जीवों की दशा कभी भी एक समान नहीं रहती है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार उनकी दशा पलटती रहती है। चौथे काल के जीवों से आजकल के जीवों की आयु, काय, बुद्धि, सहनन आदि सब बातें बहुत ही अल्प हैं और अब से आगे के जीवों की हालत इससे भी बदतर होगी, यह जैन शास्त्रों का कथन है। स्वयं चौथे काल में भी सर्वदा एकसा समय नहीं रहा था। जो आयु काय, बल आदि शक्तियां भगवान ऋषभदेव की थी, वह भगवान पार्श्वनाथ की नहीं थीं, यह पहले जैन शास्त्र के उद्धरण से प्रकट हो चुका है। अस्तु; इस

दशा में जैनियों की तीर्थंकरों के एक समान सनातन धर्मोपदेश देने की मान्यता कुछ असंगत सी जँचती है और इस दृष्टि से यह है भी ठीक !

परन्तु तीर्थंकर भगवान द्रव्योंका यथावत स्वरूप बतलाते हैं । जो वस्तु का स्वरूप है वही वह निर्दिष्ट करते हैं । वह सर्वज्ञ कथित एक वैज्ञानिक भाषण है । इसलिये उसमें अन्तर पड़ना कभी और किसी दशा में भी संभव नहीं है । जो सिद्धान्त और जो तत्त्व एक तीर्थंकर ने बता दिये हैं, वही सिद्धान्त और वही तत्त्व दूसरा तीर्थंकर भी बतायेगा क्योंकि सब ही तीर्थंकर सर्वज्ञ होते हैं और उनकी सर्वज्ञता में कुछ भी अन्तर नहीं होता । इसलिए जो बातें एक सर्वज्ञ तीर्थंकर बतायेगा, उसके विरुद्ध दूसरा सर्वज्ञ कुछ कथन कर ही नहीं सकता और यह प्रत्यक्ष प्रमाणित है ।

सप्त तत्त्व

आज भगवान महावीर के बताये हुये जैन धर्म में सात तत्त्व बतलाये हुये मिलते हैं । अब यह कभी भी संभव नहीं है कि किसी भी तीर्थंकर के धर्मोपदेश में इन सात तत्त्वों की संख्या घटा बढ़ा दी जाय अथवा इनका क्रम बदल दिया जाय !

आज यह वैज्ञानिक ढंग से निर्णीत हैं - जीव अजीव मुख्य दो द्रव्य इस लोक में हैं । उपयोग चेतना लक्षण को धारण करने वाला जीव है और अजीव में यह लक्षण नहीं है । जीव अजीव पुद्गल के सम्बन्ध से संसारिक दु:ख सागर में गोते लगा रहे है । अपने मन, वचन, काय की भली बुरी क्रियायों की कषाय प्रवृत्ति के अनुसार वह उसी प्रकार की पौद्गलिक शक्तियां, जिनको कर्मवर्गणायें कहते हैं, अपने में खींच लेता है । जब यह सुख दुख देनेवाली कर्म वर्गणायें

संसारी जीव से सम्बद्ध हो जाती हैं, तब वहां अपनी प्रबलताके अनुसार नियत स्थिति के लिये ठहर जाती हैं ।

पहले दो तत्त्व तो **जीव अजीव** हुये और उपरांत कर्मों का आगमन रूप **आश्रव** और उनका जीव में स्थिर होने रूप **बन्ध** यह क्रम से तीसरे और चौथे तत्त्व प्रमाणित होते हैं । यहां तक तो प्राणी के सुख दुख भुगतने का संबंध स्पष्ट किया गया है; अब आगे इन उपाय का बतलाना ही शेष है कि इस सुख दुख से कैसे छूटा जाता है ? इसके लिये आवश्यक है कि सुख दुख देनेवाली कर्म वर्गणाओं को आने देने का मार्ग रोक दिया जाय । यही क्रिया पांचवा **संवर तत्त्व** है । अब जब कि कर्मों का आना तो रुक गया तब यही कार्य शेष रह जाता है कि कर्मों को नष्ट कर दिया जाय । यह छठा **निर्जरा** तत्त्व है। बस जब सब कर्म ही नष्ट हो गये तब जीव स्वाधीन और सुखी हो जाता है । यह सातवां **मोक्ष** तत्त्व है ।

इन सातों तत्त्वों की यह वैज्ञानिक लड़ी है औ.र इसमें का एक भी दाना इधर से उधर सारी लड़ी को तोड़े बिना नहीं किया जा सकता है । इस कारण यह कभी भी सम्भव नहीं है कि भगवान् महावीर से पहले के श्री पार्श्वनाथ अथवा किसी अन्य तीर्थंकर ने इनसे किसी अन्य प्रकार और ढंग के तत्त्वों का निरूपण किया हो ! इस अवस्था में यहां पर एक गोरखधंधा सा नेत्रों के आगे आ उपस्थित होता है । समय प्रवाह के अनुसार तीर्थंकरों के धर्मोपदेश में किंचित् अन्तर पड़ना आवश्यक ठहरता है और वस्तुस्थिति अथवा वैज्ञानिक रूप में उसका सदा सर्वदा एक सा होना जरूरी प्रमाणित होता है । तो फिर यहां क्या बात है ? इसके लिये तीर्थंकर भगवान के बताये हुए स्याद्वाद सिद्धांत का आश्रय लेना समुचित प्रतीत होता है ।

प्रत्येक वस्तु में अनेक गुण हैं और परिमित शक्ति को रखनेवाले मनुष्य के लिये यह संभव नहीं है कि वह एक साथ ही उसके सब गुणों का निरूपण कर सके । वह अपेक्षा करके ही उनका उल्लेख करेगा। यदि कोई कहे कि कुचला प्राण शोषक है, तो उसका यह कथन सर्वथा सत्य नहीं है, क्योंकि कुचले में प्राण पोषक तत्त्व भी मौजूद हैं । वातरोग में वह बड़ा ही लाभप्रद है । इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि कुचला प्राण शोषक ही है। अतएव तीर्थंकर भगवान के धर्मोपदेश के विषय में भी यही बात है । समय प्रवाह की अपेक्षा उसके विधायक क्रम में किंचित् अन्तर उसी हत तक हो सकता है जो उसके मूल भाव का नाशक न हो और मूल भाव अथवा सैद्धांतिक तत्त्व सदा सर्वदा एक समान ही रहेंगे । यही बात दिगम्बर और श्वेतांबर सम्प्रदाय के शास्त्रों में निर्दिष्ट की हुई मिलती है ।

दिगम्बर परम्परा में श्री वट्टकेर नामक एक प्राचीन और प्रसिद्ध आचार्य हुये हैं । उनका 'मूलाचार' नामका एक मुनियों के आचार अर्थात् यत्याचार विषयक ग्रन्थ विशेष प्रामाणिक और बहु प्रचलित है । इस ग्रंथ में श्री वट्टेकेराचार्य ने सामायिक आवश्यक का वर्णन करते हुये स्पष्ट रीति से कहा है कि-

'बावीसं तिथ्थयरा समाइयं संजमं उवदिसंति ।
छेदोवट्ठावणियं पुण भयवं उसहो य वीरो य ॥७-३२॥

अर्थात् - 'अजित से लेकर पार्श्वनाथ पर्यंत बाईस तीर्थंकरों ने सामायिक संयम का और ऋषभदेव तथा महावीर भगवान ने 'छेदोपस्थान' संयम का उपदेश दिया है ।' यहां मूल गाथा में दो जगह 'च' (य) शब्द आया है । इसको लक्ष्य करके प्रसिद्ध जैन विद्वान् पं. युगलकिशोरजी लिखते हैं कि 'एक

चकार से परिहार विशुद्धि आदि चारत्रि का भी ग्रहण किया जा सकता है और तब यह निष्कर्ष निकल सकता है कि ऋषभदेव और महावीर भगवान् ने सामायिकादि पांच प्रकार के चारित्रका प्रतिपादन किया है जिसमें छेदोपस्थापना की यहां प्रधानता है । शेष बाईस तीर्थंकरों ने केवल सामायिक चारित्र का प्रतिपादन किया है[१] ।'

यहां पर यह स्पष्ट है कि यद्यपि वर्तमान काल के चौबीस तीर्थंकरों के धर्मोपदेश के मूल भाव में कोई विशेष अन्तर नहीं था । परन्तु उनके विधायक क्रम में भेद अवश्य था ! और यहां क्यों था ? इसका उत्तर यही है कि समय प्रभाव की वजह से यह भेद था । यही बात श्री वट्टेकराचार्य अपने मूलाचार की निम्न दो गाथाओं में बतलाते हैं :

'आचक्खिदुं विभजिदुं विण्णादुं चावि सुहदरं होदि ।
एदेण कारणेण दु महव्वदा पंच पण्णत्ता ।।३३।।

आदीए दुव्विसोधणे णिहणे तह सुट्ठ दुरणुपालेया ।
पुरिमाद्य पच्छिमा विहु कप्पाकप्पं ण जाणंति ।।३४।।'

अर्थात् - 'पांच महाव्रतों (छेदोपस्थापन) का कथन इस वजह से किया गया है कि इनके द्वारा सामायिक का दूसरों को उपदेश देना, स्वयं अनुष्ठान करना पृथक्-पृथक् रूप से भावना में लाना सुगम हो जाता है और अंतिम तीर्थ में शिष्य जन कठिनता से निर्वाह करते हैं, क्योंकि वे अतिशय वक्र-स्वभाव होते हैं । साथ ही इन दोनों समयों के शिष्य स्पष्ट रूप से योग्य अयोग्य को नहीं जानते हैं । इसलिये आदि और अन्त के तीर्थ में इस छेदोपस्थापना के उपदेश की जरूरत पैदा हुई है ।

यहां यह भी दृष्टव्य है कि आचार्य ने नं. ३३ की गाथा में छेदोपस्थापना के लिये पंच महाव्रत शब्द व्यवहृत किया है । वास्तव में छेदोपस्थापना की संज्ञा पंचमहाव्रत भी है और इसमें हिंसादिक भेद से समस्त सावद्य कर्म का त्याग करना पड़ता है । श्रीभट्टाकलंकदेव अपनी 'तत्त्वार्थराजावर्तिक' में यही लिखते हैं; यथा -

''सावद्यं कर्म हिंसादिभेदेन विकल्पनिवृत्तिः छेदोपस्थानपा ।''

तथापि उन्होंने सामायिक की अपेक्षा व्रत एक ही कहा है और छेदोपस्थापना की अपेक्षा उसके पांच भेद किये हैं; जैसे -

'सर्वसावद्यनिवृत्तिलक्षणसामायिकापेक्षया एकं व्रतं ।
भेदपरतंत्रच्छेदोपस्थापनापेक्षया पेंचविधं व्रतम् ।।'

अस्तु; इस शास्त्रीय उल्लेख से हमारे पूर्वोक्त वक्तव्य का समर्थन होता है । श्री वट्टकेरस्वामी इन गाथाओं से आगे की कुछ गाथाओं द्वारा भी इसी भाव को स्पष्ट करते हैं । वह तीर्थंकरों का और भी शासन भेद बतलाते हैं। लिखते हैं :-

'सगडिक्कमणो धम्मो पुरिसस्सय पच्छिमस्स जिणस्स ।
अवराह पडिकम्मणं मज्झिमयाणं जिणवराणं ।।७-१२५।।

जावेदु अप्पण्णो वा अण्णदरे वा भवे अदीचारो ।
तावेदु पडिक्कमणं मज्झिमयाणं जिणवराणं ।।१२६।।

इरिया गोयर सुमिणादि सव्वामाचरदु मा व आचरदु ।
पुरिम चरिमादु सव्वे णियमा पडिक्कमदि ।।१२७।।'

अर्थात् - 'पहले और अंतिम तीर्थंकर का धर्म अपराध के होने और न होने की अपेक्षा न करके प्रतिक्रमण सहित प्रवर्त्तता है । पर मध्य के बाईस तीर्थंकरों का धर्म अपराध के होने पर ही प्रतिक्रमण का विधान करता है, क्योंकि उनके समय में अपराध की बाहुल्यता नहीं होती । मध्यवर्ती तीर्थंकरों के समय में जिस व्रत में अपने था दूसरों के अतीचार लगता है उसी व्रत सम्बन्धी अतीचार के विषय में प्रतिक्रमण किया जाता है । विपरीत इसके आदि और अन्त के तीर्थंकरों (ऋषभ और महावीर) के शिष्य ईर्या, गोचरी और स्वप्नादि से उत्पन्न हुए समस्त अतीचारों का आचरण करो या मत करो उन्हें समस्त प्रतिक्रमण दंडकों का उच्चारण करना होता है । आदि और अन्त के दोनों तीर्थंकरों के शिष्य को क्यों समस्त प्रतिक्रमण दंडोकों का उच्चारण करना होता है और क्यों मध्यवर्ती तीर्थंकरों के शिष्य उनका आचरण नहीं करते हैं ? इसके उत्तर में आचार्य वट्टकैर महोदय लिखते हैं -

''मज्झिमयादिढबुद्धी एयग्गमणा अमोहलक्खाय ।
तुम्हादु जमाचरंति तं गरहंता विसुज्झंति ॥१२८॥
पुरिम चरिमादु जम्हा चलचित्ता चेव मोहलक्खवाय ।
तो सव्व पडिक्कमणं अंधलय घोड-दिट्ठंतो ॥१२९॥''

'अर्थात्-मध्यवर्ती तीर्थंकरों के शिष्य विस्मरणशीलता रहित दृढ़बुद्धि, स्थिर चित्त और मूढ़ता रहित परीक्षा पूर्वक कार्य करनेवाले होते हैं । इसलिए प्रगट रूप से वे जिस दोष का आचरण करते हैं उस दोष से आत्मनिन्दा करते हुए शुद्ध हो जाते हैं । पर आदि और अन्त के दोनों तीर्थंकरों के शिष्य चलचित्त और मूढमना होते हैं । शास्त्र का बहुत बार प्रतिपादन करने पर भी उसे नहीं

जानते । उन्हें क्रमशः ऋजु-जड़ और वक्र-जड़ समझना चाहिये । इसलिए उनके समस्त प्रतिक्रमण दंडकों के उच्चारण का विधान बतलाया गया है और इस विषय में अंधे घोड़े का दृष्टांत दिया गया है ।'[२]

इस शास्त्रीय उद्धरण से स्पष्ट है कि भगवान महावीर और भगवान पार्श्वनाथ ने अपने धर्मोपदेश में चारित्र निरूपण एक दूसरे से विभिन्न रीति पर किया था । भगवान पार्श्वनाथ का चारित्र निरूपण सामायिक संयम और कृत अपराध के प्रतिक्रमणरूप हुआ था और भगवान महावीर ने उसका निरूपण प्रथम तीर्थंकर की भांति छेदोपस्थापना अथवा पंचमहाव्रत और सर्वथा समस्त प्रतिक्रमण दंडक का उच्चारण करने रूप किया था ।[३]

यह एक ऐतिहासिक घटना है, जिसका उल्लेख वट्टकेराचार्य ने किया है और इसमें समय प्रवाह ही मुख्य कारण है किन्तु इससे मोक्ष प्राप्ति के मूल उद्देश्य और सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चरित्र रूप रत्नत्रय मार्ग में कुछ भी अन्तर नहीं पड़ा है । वह ज्यों त्यों रहा है, इसलिये यह कहा जा सकता है कि दोनों तीर्थंकरों के उपदेश क्रम में कुछ भी अन्तर नहीं था । मूल सिद्धांतो में कभी भी कोई अन्तर नहीं पड़ सकता है । यही कारण है कि अगाध जैन साहित्य में कहीं भी प्रायः ऐसा उल्लेख नहीं मिलता है जिससे एक तीर्थंकर का उपदेश दूसरे के विरुद्ध प्रमाणित हो । इस अवस्था में यह स्वीकार किया जा सकता है कि जिस जैन धर्म का प्रतिपादन भगवान महावीर ने किया था और जो आज हमें प्राप्त है वही धर्म पार्श्वनाथ की दिव्य ध्वनि से निरूपित हुआ था ।

आजकल के प्राच्यविद्या अन्वेषकों को भी यही व्याख्या यथार्थ प्रतीत हुई है । उसमें से एक का कथन है कि 'इस ही प्रकार के अथवा इससे मिलते हुए प्रकार के धर्म के मुख्य विचार महावीरस्वामी के पहले भी प्रवर्तते थे, ऐसा

मानने में भी कोई बाधा नहीं आती । मूल तत्त्वों में कोई स्पष्ट फर्क हुआ, ऐसा मानने का कोई कारण नजर नहीं आता और इसलिये महावीरस्वामी के पहले भी जैन दर्शन था, ऐसी जैनों की मान्यता स्वीकार की जा सकती है । .... इसके लिये हमारे पास कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं है, परन्तु साथ ही इसके विरुद्ध भी कोई प्रमाण नहीं है । जैन धर्म का स्वरूप ही इस बात की पुष्टि करता है, क्योंकि पुद्गल के अणु आत्मा में कर्म की उत्पत्ति करते हैं, यह इसका मुख्य सिद्धान्त है और इस सिद्धान्त की प्राचीन विशेषता के कारण ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि इसका मूल ईस्वी सन् के पहले ८वीं - ९वीं शताब्दि में है[४] ।' अतएव भगवान पार्श्वनाथ ने भी ऐसा ही धर्मोपदेश दिया था, जैसा कि आज जैन धर्म में मिलता है, यह मान लेना युक्तियुक्त है ।

श्वेताम्बर शास्त्रों के कथन से भी हमारे उपरोक्त मन्तव्य में कुछ बाधा नहीं आती है । उनका भी कथन दिगम्बर जैन शास्त्रों के अनुसार इस व्याख्या की पुष्टि करता है कि मूल में सब तीर्थंकरों का धर्म एक समान होता है, परन्तु समयानुसार उनके प्रतिपादन क्रम में अथवा चारित्र नियमों में कुछ अन्तर पड़ सकता है, यद्यपि वह मूल भाव के प्रतिकूल और उसको मेटनेवाला नहीं होता है ।

श्वेताम्बरों के 'उत्तराध्ययन सूत्र' में ऐसा ही वर्णन हमें 'केशी और गौतम' के सम्वाद रूप में मिलता है । केशी श्रीपार्श्वनाथजी की शिष्य परम्परा के एक आचार्य हैं और गौतम भगवान महावीरजी के प्रधान गणधर हैं । इन दोनों महानुभावों का संघ सहित आकर श्रावस्ती के उद्यानों में ठहरना और फिर परस्पर समाधान करना बताया गया है । वहां लिखा है :-

''पुच्छ भन्ते जहिच्छन्ते केसिं गोयममब्बवी ।
तओ केसी अणुन्नाए गोयमं इणमब्बवी ॥२२॥

चाउज्जामो य जो धम्मो जो इमो पंचसिक्खिओ ।
देसिओ वद्धमाणेण पासेण य महामुणी ॥२३॥

एगकज्जपवन्नाणं विससे किं नु कारणं ।
धम्मे दुविहे मेहावि कहं विप्पच्चओ न ते ॥२४॥

तओ केसिं बुवन्तं तु गोयमो इणमब्बवी ।
पन्न समिक्खए धम्मतत्तं तत्तविणिच्छियं ॥२५।

पुरिमा उज्जुजडा उ वंकजडा य पच्छिमा ।
म जिज़मा उज्जुपन्ना उतेण धम्मे दुहा कए ॥२६॥

पुरिमाणां दुव्विसोज्झो उ चरिमाणं दुरणुपालओ ।
कप्पो मज्झिमगाणं तु सुविसोज्झो सुपालओ ॥२७॥

साहु गोयम पन्ना ते छिन्नो में संसओ इमो ।''

इसका भाव यही है कि ऋषि केशी ने गौतम गणधर से पूछा था कि यह क्या कारण है जब कि दोनों तीर्थंकरों के धर्म एक ही उद्देश्य के लिए हैं तब एक में चार व्रत और एक में पांच बताये गये हैं । भगवान पार्श्वनाथजी ने 'चाऊज्जाम' धर्म मुख्य बतलाया था और भगवान् महावीर 'पंचमहाव्वय' का प्रतिपादन करते हैं । इस पर गौतम गणधर यह उत्तर देते बतलाये गये हैं कि 'बुद्धि धर्म के सत्य को और यथार्थ वस्तुओं को पहिचानती है । पहले के ऋषि सरल थे परन्तु समझ के कोता (Slow) थे और पीछे के ऋषि अस्पष्टवादी और समझ के कोता (Slow) थे; किन्तु इन दोनों के मध्य के सरल और बुद्धिमान

थे। इसलिये धर्म के दो रूप हैं । पहले के मुश्किल से धर्म व्रतों को समझते थे और पीछे के मुश्किल से उनका आचरण कर सके थे; परन्तु मध्य के उनको सुगमता से समझते और पालते थे।'[५] यहां भी वही भाव है । समय प्रवाह के प्रभाव को व्यक्त किया गया है; यद्यपि धर्म के मूलभाव को बुद्धि नहीं भुलाती है यह स्पष्ट कह दिया गया है ।

दिगम्बराचार्य के उपरोक्त वक्तव्य के अनुसार यहां भी भगवान् महावीर के चारित्र धर्म का प्रति पादन ''पांच महाव्रत'' रूप बतलाया गया है और वह मध्य के २२ तीर्थंकरों के निरूपण क्रम से उन्हीं कारणों वश विभिन्न बतलाया है, जिसको दिगम्बराचार्य ने प्रकट किया है । यहां पर यदि अन्तर है तो सिर्फ 'चातुर्याम धर्म' का प्रतिपादन भगावान पार्श्वनाथ द्वारा बतलाने में है । दिगम्बराचार्य भगवान पार्श्वनाथ एवं मध्य के अन्य तीर्थंकरों का धर्म सामायिक संयम रूप बतलाते हैं और श्वेताम्बर सूत्र में वह चार प्रकार का बतलाया गया हैं। श्वेताम्बर के मूलसूत्र में इस 'चातुर्याम' शब्द की कुछ भी व्याख्या नहीं की गई है, परन्तु उपरान्त के श्वेताम्बर टीकाकार उसका भाव अहिंसा, अचौर्य, सत्य और अपरिग्रह व्रत रूप करते हैं । इस शब्द का भाव मूल में इसी रूप था, इस बातको प्रकट करने के लिये कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है । हां, यह अवश्य है कि बौद्ध शास्त्रों में भी इसी चतुर प्रकार के धर्म का निरुपण जैन साधुओं के संबंध में किया हुआ मिलता[६] है परन्तु वहां उसके भाव अहिंसादि चार व्रतों के रूप में नहीं बताये गये है; बल्कि दिगम्बर संप्रदाय के प्रख्यात आचार्य श्री समन्तभद्रस्वामी के निम्न श्लोक से उसका सामञ्जत्य ठीक बैठ जाता हुआ वहां मिलता है :

'विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रह : ।
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥१०॥'

इस श्लोक में तपस्वी अथवा मुनि वह बतलाया गया है जो विषयों की आशा और आकांक्षा से रहित हो, निराम्भ हो, अपरिग्रही और ज्ञान ध्यानमय तप को धारण किये हुये तपोरत्न ही हो । यहां निर्गंथ मुनि के चार ही विशेषण गिनाये गये हैं और यह ठीक वैसे ही हैं जैसे कि बौद्ध शास्त्र में बताये गये हैं । बौद्ध शास्त्र में यह उल्लेख साधु अवस्था (सामन्न फल) को विविध मतों के अनुसार प्रगट करते हुये आया है । इसलिये यहां पर ऋषियों के चार विशेषण दिंगबर जैनाचार्य ने उक्त प्रकार गिनाये हैं । अतएव निर्ग्रंथ धर्म में चातुर्याम धर्म का भार उक्त प्रकार था, यह बौद्ध शास्त्र के उल्लेख से स्पष्ट है । इसका विशद विवेचन हमने अन्यत्र प्रगट किया है ।* अतएव भगवान् पार्श्वनाथजी के सम्बन्ध में भी इस शब्द का भाव इस रूप में ही व्यक्त करना विशेष युक्तियुक्त प्रतीत होता है; क्योंकि भगवान् पार्श्वनाथजी के समय में भी ब्रह्मचर्य धर्म का आवश्यकता बहुत थी, यह हम पहले देख चुके हैं । जिस प्रकार कहा जाता है कि भगवान् महावीरजी के समय में साधुओं में ब्रह्मचर्य की शिथिलता देखकर उसका अलग निरूपण करना आवश्यक हो गया था उसी तरह वह आवश्यकता भगवान् पार्श्वनाथजी के समय में भी कुछ कम नहीं थी । इस दशा में श्वेताम्बर सूत्र की इस घटना कथा का परिचय ठीक नहीं बैठता है । श्री समंतभद्राचार्य के बताये हुये विशेषण रूप चातुर्याम धर्म पार्श्वनाथजी और महावीरजी दोनों ही तीर्थंकरों के शासन में मिलता प्रगट होता है । फिर यहां अंतर कुछ भी नहीं रहता है और इस हालत में उक्त श्वेताम्बर कथन का कुछ भी महत्त्व शेष नहीं रहता ।

यह सामान्य रीति से कुछ अटपटा सा मालूम होता है; परन्तु श्वेताम्बर आगम ग्रन्थों के संकलन - क्रम को ध्यान में रखने से इसमें संशय अथवा विस्मय करने को कोई स्थान शेष नहीं रहता ! उन्होंने अपने सैद्धांतिक भेद को स्पष्ट करने के लिये अनेक पूर्वापार विरोधित उल्लेख किये हैं । खासकर उन्होंने बौद्धों के साहित्य को अपना आदर्श सा माना है । यही कारण है कि श्वेताम्बर सूत्र ग्रन्थों में बहुत कुछ बौद्ध ग्रन्थों से लिया हुआ आज मिल जाता है ।[१] और इस अवस्था में यह कोई अनोखी बात नहीं है, यदि श्वेतांबराचार्य ने बौद्ध ग्रन्थ में चातुर्याम सिद्धांत का उल्लेख देखकर उसको अपने शास्त्र में स्थान दिया हो । आगे जो भगवान् पार्श्वनाथजी को वस्त्र धारण करते हुये बतलाया है, उससे यही प्रमाणित होता है कि यहां पर वास्तविक घटना का उल्लेख नहीं किया जा रहा है, क्योंकि यह स्वतंत्र साक्षी द्वारा प्रमाणित है कि भगवान् पार्श्वनाथ भी दिंगबर वेष में रहे थे; जैसे कि हम आगे देखेंगे । तिस पर उक्त श्वेताम्बर सूत्र में गौतम गणधर की अलग संघ सहित एकाकी विचरते प्रगट किया गया है । वहां भगवान् महावीर का कुछ भी उल्लेख नहीं है, किन्तु यह प्रगट है कि भगवान् महावीर संघ सहित विहार करते थे और उनके प्रधान गणधर गौतमस्वामी सदा ही उनके साथ रहते थे । श्वेताम्बर के सूत्रकृताङ्ग में (२/६) गोशाल ने इसी बात को लक्ष्य करके भगवान महावीर पर आक्षेप किया है । श्वेताम्बरों के उवासग दासाओं ग्रन्थ से भी भगवान के संघ में गौतम गणधर का साथ रहना प्रमाणित है। अतएव यह किस तरह पर संभव ही सकता है कि गौतमस्वामी अकेले ही केशी ऋषि को श्रावस्ती में मिले हों ? इस दशा में श्वेताम्बर सूत्र के उक्त कथन को यथार्थ सत्य स्वीकार कर लेना जरा कठिन है; परन्तु इतना तो स्पष्ट ही है कि उसका आधार एक ऐतिहासिक तथ्य है जो भगवान पार्श्वनाथ

और भगवान महावीर के धर्म में एक सामान्य अन्तर प्रगट करता है । अस्तु:

'उत्तराध्ययन सूत्र' में आगे बहुत से छोटे मोटे मतभेदों का उल्लेख किया गया है, जिनमें मुख्य मुनि लिङ्ग विषयक है । शेष में प्रतिक्रमण संबंध में वहां कहीं भी कुछ उल्लेख नहीं है । इस मुनि लिङ्ग विषयक उल्लेख का विवेचन हम आगे भगवान् महावीरजी का संबंध प्रगट करते हुये करेंगे । किंतु अपने विषय को स्पष्ट करने के लिये उस उद्धरण को यहीं दे देना हम आवश्यक समझते हैं, जिससे पाठकों को तीर्थंकरों के धर्मोपदेश संबंधी हमारी प्रारंभिक व्याख्या की सार्थकता और भी स्पष्ट हो जावेगी । उत्तराध्ययन सूत्र में लिखा है :-

''अन्नो वि संसओ मज्झं तं मे कहुंसु गोयमा ॥२८॥

अचेलगो य जो धम्मो जो इमो सन्तरुत्तरो ।
देसिओ वद्धमाणेण पासेण य महाजसा ॥२९॥

एगकज्जपवन्नाणं विसेसे किं नु कारणं ।
लिंगे दुविहे मेहावी कहं विप्पच्चओ न ते ॥३०॥

केसिमेवं बुवाणुं तु गोयमो इणमब्बवी ।
विन्नाणेण समागम्म धम्मसाहणमिच्छियं ॥३१॥

पच्चयत्थं च लोगस्स नारभाविह विगप्पणं ।
जत्तत्थं गहणत्थं च लोगे लिंगप ओयणं ॥३२॥

अहभवे पइन्ना उ मोक्खसब्भूय साहणा ।
नाणं च दंसणं चेव चरित्तं चेव निच्छए ॥३३॥''

यहां केशी श्रमण गौतम गणधर से यह पूछते बताये गये हैं कि '*वर्द्धमानस्वामी के धर्म में वस्त्र पहिनना मना है और पार्श्वनाथजी के धर्म में* आभ्यन्तर और बहिर वस्त्र धारण करना उचित है । दोनों ही धर्म एक उद्देश्य को लिये हुये हैं फिर यह अन्तर कैसा ?' गौतम गणधर उत्तर में कहते हैं कि 'अपने उत्कृष्ट ज्ञान से विषय को निर्धारित करते हुए तीर्थंकरों ने जो उचित समझा सो नियत किया । धार्मिक पुरुषों के विविध बाह्य चिन्ह उनको वैसा समझने के लिये बताये गये हैं । लक्षणमय चिन्हों का उद्देश्य उनकी धार्मिक जीवन में उपयोगिता है और उनके स्वरूप को प्रकट करना है । अब तीर्थंकरों का कथन है कि सम्यक्ज्ञान दर्शन और चारित्र ही मोक्षके कारण हैं (न कि बाह्य चिन्ह)।'[१०] केशी श्रमण इस उत्तर से संतोषित हो जाते हैं । इस घटना में भी ऐतिहासिक सत्य को पाना जरा कठिन है; यद्यपि आजकल इतिहासज्ञ इसी मान्यता से पार्श्वनाथजी की शिष्य परम्परा को वस्त्र धारी प्रकट कराते हैं, किन्तु हम आगे देखेंगे कि बात वास्तव में यूं नहीं है । जैन मुनियों का भेष प्राचीन काल में भी नग्न ही था ।

यहां पर जिस सरलता से इस गंभीर मतभेद का समाधान किया गया है, यह दृष्टव्य है । उक्त जमाने में जबकि सैद्धान्तिक वादविवाद का संघर्ष चरम सीमा पर था तब इस मतभेदका राजीनामा उस सरल ढंग से हो गया होगा जैसा कि उक्त श्वेताम्बर सूत्र में कहा गया है, यह कुछ जी को नहीं लगता है । फिर भी जो हो, इससे हमारे कथन की पुष्टि होती है कि समय प्रवाह का प्रभाव सामान्य धार्मिक क्रियायों में अन्तर ला सकता है । भगवान् पार्श्वनाथ और भगवान् महावीरजी के धर्मोपदेश के मध्य जो अन्तर था वह हम ऊपर देख

चुके हैं और उससे यह स्पष्ट है कि भगवान् पार्श्वनाथ द्वारा प्रतिपादित धर्म भी प्राय: वैसा ही था, जैसा कि आज हमें मिल रहा है । अस्तु;

भगवान पार्श्वनाथजी ने अपने धर्मोपदेश द्वारा उस समय के सैद्धान्तिक वातावरण को प्रौढ़ बना दिया था । साधरण जनता लौकिक और पारलोकिक दोनों ही बातों में पराश्रित हो रही थी । लौकिक बातों में ब्राह्मण वर्ण अपनी प्रधानता का सिक्का जमाये हुये था, यह हम देख चुके हैं । साथ ही यह भी जान चुके हैं कि ईश्वरवाद का बोलबाल उस समय हो रहा था और जनता पारलौकिक बातों में भी पराश्रित बनी हुई थी । लोगों को विश्वास था कि जगत में जो कुछ किया हो रही है वह ईश्वर आज्ञा का फल है तथापि विप्र लोगों की सहायता से यज्ञ आदि रचकर इतना पुण्य कमा लेना इष्ट होता था कि जिससे प्रभु प्रसन्न होकर उन्हें स्वर्ग सुख का स्वामी बना दें । इसी में पार लौकिक धर्म की इतिश्री साधारण जनता के लिये हो जाती थी और लौकिक धर्म में येनकेन प्रकारेण पुत्र-मुखके दर्शन कर लेना आवश्यक हो रहा था । यहां ब्रह्मचर्य धर्म का प्राय: अभाव ही था, साधारण जनता इस दशा से पूर्ण संतोषित नहीं थी, यह भी हम देख चुके हैं। अस्तु; इस अवस्था नें लोगों को पराश्रिता के दु:खदाई पंजे से निकालना आवश्यक था । पराबलम्बी होना हरहालतमें बुरा है, भगवान् पार्श्वनाथजी के धर्मोपदेश से लोगों को यह बातें बिल्कुल हृदयंगम हो गई थी ।

भगवान् पार्श्वनाथ ने कहा था कि यह लोक अनादि निधन है । न कभी इसका प्रारंभ हुआ और न कभी इसका अन्त होगा, यह जैसा है वैसा ही रहेगा। परंतु इसमें परिवर्तन होते रहते हैं । इन परिवर्तनों में एक पर्याय-हालत की

उत्पत्ति, उसका अस्तित्व और दूसरीका नाश होता रहता है । इस तरह इस लोक में कोई भी वस्तु स्थाई नहीं हैं । सब ही परिवर्तन शील हैं, अस्थिर हैं, पानी के बुदबुदे के समान नष्ट होने वाली हैं, इसलिये इस परिवर्तनशील संसार के मोह में पड़ा रहना ठीक नहीं हैं । जीव नित्य है । वह अनादिकाल से इस संसार के झूठे मोह में पड़ा हुआ दुःख भुगत रहा है । पर पदार्थ जो पुद्गल है उसके संबन्ध में पड़ा हुआ यह जीव एक भव का अन्त करके दूसरे में जन्म लेता है । इस तरह यद्यपि संसार में वह जन्म-मरण रूपी परिभ्रमण में पड़ा रुलता रहता है, परंतु वह मूल में अपने स्वभाव से च्युत नहीं होता है ।[११] वह अपने स्वभाव में अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतसुख और अनंतवीर्य रूप है; किंतु पौद्गलिक सम्बन्ध के कारण उसके यह स्वाभाविक गुण स्पष्टतः प्रगट नहीं रहते हैं । वह उसी तरह छुप रहे हैं जिस तरह गंदले पानी में उसका निर्मल रूप छुप जाता है ।

इस तरह जीव और पुद्गल अर्थात् अजीव की मुख्यता से ही इस लोक में विविध अभिनय देखने को मिल रहे हैं । अजीव पदार्थ पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल रूप हैं । पुद्गल स्पर्श, रूप, रस, गंधमय है और इसका जीव से कितना घनिष्ट संबंध है, यह ऊपर के कथन से प्रकट है । यह अनंत है और अणुरूप है । धर्म और अधर्म द्रव्यों का भाव पुण्य-पाप नहीं है । यह एक स्वतंत्र प्रकार का पदार्थ है जो जीव को क्रम से चलने और ठहरने में सहायक है। जिस तरह पानी मछली की सहायता करता है उसी तरह धर्म द्रव्य जीव की गति में सहायक है और जैसे वृक्ष की छाया वटोही की प्रिय है वैसे ही अधर्म द्रव्य जीव को स्थिर रखने में सहायता देती है । आकाश द्रव्य अनंत है और इसका कार्य जीवादि द्रव्य को अवकाश देना है और कालद्रव्य भी एक स्वतंत्र

और अखंड द्रव्य है जो पर्यायों में अन्तर लाने में कारणभूत है ।

इस प्रकार जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल-ये छह द्रव्य इस लोक को वेष्टित किये बतलाये गये है । प्रधानतया जीव और अजीव में ही ये सब गर्भित हैं और संसारी आत्मा के उल्लेख से इन दोनों द्रव्यों का बोध एक साथ होता है । अतएव भगवान् पार्श्वनाथ ने स्वयं जीव को ही पूर्ण स्वाधीन बतलाया था । इस लोक का नियंत्रण किसी अन्य ईश्वर आदि के हाथ में नहीं सौंपा था और न उसके द्वारा इस लोक को सिरजते और नाश होते बतलाया था। स्वयं जीवात्मा ही अपने कर्मों से संसार दु:ख में फंसा हुआ है और वही अपने सत् प्रयत्नों द्वारा इस दु:ख बन्धन से मुक्त हो सकता है । परावलम्बी होने की जरूरत नहीं है । सचमुच इस प्राकृत भाषा मय जनभाषा में दिये उपदेश का असर उस समय लोगों पर खासा पड़ा था । सब ही को अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिये इस प्राकृत संदेश के अनुरूप किंचित् अपने सिद्धान्तों को बना लेना पड़ा था और बहुतेरे लोग तो स्वयं भगवान की शरण आ गये थे, यह हम आगे देखेंगे । भगवान का उपदेश प्राकृत रूप में यथार्थ सत्य था, वह अगाध था और एक विज्ञान था । यहां पर उसके सामान्य अवलोकन द्वारा एक झांकी भर लगाई जा सकती है । पूर्ण परिचय और उसका पूर्ण महत्त्व जानने के लिये तो अतुल जैन सैद्धान्तिक ग्रंथों का परिशीलना करना उचित है । अस्तु;

धर्मोपदेश का प्रभाव

भगावान् के उस स्वाधीन संदेश का समुचित आदर हुआ । उस समय लोग यह जानने के लिये उत्सुक हो उठे कि आखिर संसार मोह में फंसा हुआ यह जीव किस तरह सुख-दुख भुगतता है । इसके भले-बुरे कार्यों का फल सुख दुखरूप में क्योंकर मिल जाता है ? कोई बाह्शक्ति तो ऐसी है नहीं जो इसे

सुख-दुःख पहुंचाती हो और यह सुख-दुःखका अनुभव करता ही है । इसका भी कोई कारण होना चाहिये ! भगवान् पार्श्वनाथ के निकट से उसकी इस शंका का समाधान हो गया था । भगवान् ने बतला दिया था कि इस लोक में एक ऐसा सूक्ष्म पुद्गल (Matter) मौजूद है, जो संसारी जीवात्मा की मन, वचन, कायरूप क्रिया की प्रवृत्ति, जिसको कि योग कहते हैं, उसके द्वारा उसकी और आकर्षित होकर कषायादि के कारण उससे संबंधित हो जाता है । यही उसे सुख और दुख का अनुभव कराता है जीवात्मा अनादि से इस पुद्गल के संबंध में पड़ा हुआ है और इसके मोह में पड़ा इच्छा का गुलाम बन रहा है । इस इच्छा राक्षसी के फरमानों के मुताबिक उसे अपने मन, वचन और काय को प्रगतिशील बनाना पड़ता है, जिसके कारण सूक्ष्म पुद्गल परमाणु उसमें उसी तरह आकर चिपट जाते हैं इस तरह शरीर में तेल लगाये हुये मनुष्य की देह पर मिट्टी स्वयं आकर जकड़ जाती है । जीवात्मा की मन, वचन और काय रूप क्रिया मुख्यतः क्रोध, मान, माया, लोभरूप होती है ।

बस जितनी ही अधिकता और तीव्रता इन क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषायों के करने में होती है उतने ही अधिक और तीव्र रूप से पुद्गल परमाणुओं, जिनको कर्मवर्गणायें कहते हैं, का आगमन उसमें होता है और उतना ही अधिक और तीव्र उसका संसार बंधता है । यदि कोई व्यक्ति बहुत ही मन्द कषायी है तो सचमुच ही उसका भविष्य किंचित् सुखमय है और इसके बरअक्स जो व्यक्ति बहुत ही उग्र रूप में कषायों में लीन है तो उसके लिये आगे दुःखों की जलती भट्टी तैयार है । इसलिये यह जीवात्मा के ही आधीन है कि वह चाहे अपने जीवन को सुखरूप बनाले अथवा उसे दुःखों से तप्तायमान एक ज्वालामुखी में पलट दे ! किन्तु उसे यह भी ध्यान रखना जरूरी है कि इस

संसार में वह पूर्ण सुखी नहीं बन सकता है । धन-सम्पत्ति और ऐश्वर्य उसे निराकुल सुख को नहीं दिला सकते हैं । स्त्री, पुत्र और बंधुजन उसे सच्चे सुख का अनुभव नहीं करा सकते हैं । लोक में कोई ऐसा पदार्थ नहीं है जो उसे स्थाई सुख का रसास्वादन करा सके !

जब कभी हम किसी कारण से आनंद मग्न हो जाते हैं, तो यही कहते हैं कि 'आज हमने अपने आपका खूब आनंद लूटा ।' (We well enjoyed ourselves) यह उद्गार साफ कह रहा है कि हमारे बाहिर कहीं भी आनंद अथवा सुख नहीं है ! हम कहते हैं कि बढ़िया मिष्टान्न या सोहन हलुए में बड़ा आनंद है, उसके खाने से हमें आनंद मिलता है, परन्तु यह झूठा ख्याल है । न तो सोहन हलुए में आनन्द है और न उसके मीठा-मीठा स्वाद लेने में कुछ सुख है। कितना भी खा लीजिये, पर उससे तृप्ति नहीं होती कि फिर उसको कभी न खाने के लिये तबियत न चले । फिर सोहन हलुआ सबको अच्छा भी नहीं लगता, कोई-कोई उसके नाम से चिढ़ते हैं तो फिर भला सोहन हलुआ में आनन्द कहां रहा । यदि उसका गुण आनंद रूप है तो सबको ही उसमें आनंद मिलता । इसी तरह पान भारतीयों को बड़ा प्रिय है । उसको खाने से उनको आनंद मिलता है, परन्तु युरोपियन लोग उसको एक बहुत बुरी चीज समझते हैं फिर वह आनन्द दायक वस्तु कहां रही । रोगी मनुष्य को वही मिष्टान्न कड़ुआ मालूम देता है जिसको वह पहले बड़े चाव से खाता था । इन प्रत्यक्ष उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि बाह्य पर पदार्थों में सुख अथवा आनन्द नहीं है ।

साथ ही जरा और विचार करने से यह भी विदित हो जाता है कि इंद्रिय जनित विषयों की तृप्ति करने में भी सुख नहीं है । लोग कहते हैं कि मिठाई खाने में बड़ा आनन्द मिलता है । दूसरे शब्दों में रसना इंद्रिय की मजा लूटने में

आनन्द मिलता ख्याल किया जाता है; परन्तु यहां भी भुलावा है । जिस समय हम किसी, गहन चिंता में व्यस्त होते हैं तो हमें रसना इंद्रिय का मजा तृप्त नहीं कर सकता है । हम उस विचार मग्न दशा में यह नहीं जान पाते हैं कि हमने क्या और कितना खा लिया है । यह क्यों होता है ? यदि रसना इंद्रिय में आनन्द देने या सुखी बनाने की शक्ति होती तो वह हर समय आनंद दायक होना चाहिये थी ? परन्तु प्रत्यक्ष ऐसा नहीं होता है । जब तक जीवात्मा का उपयोग उस इंद्रिय की क्रिया में लीन रहता है तब ही तक उसे आनन्द जैसा अनुभव होता है। इसलिये कहना होगा कि इन्द्रिय जनित विषय वासनाओं में भी सुख नहीं है।

वस्तुतः सुख स्वयं हमारे भीतर है - हम में है - हमारी उपयोग मई आत्मा में है । अतएव सच्चा सुख पाने के लिये हम को सब ही ऐसे सम्बन्धों को त्याग देना आवश्यक है जो जीवात्मा के स्वभाव के प्रतिकूल हैं, और इन पर सम्बंधों को त्याग देना उसी तरह संभव है जिस तरह देह पर चिपटी हुई मिट्टी को अलग कर देना सम्भव है । नाइट्रोजन और हाइड्रोजन गैसें अपने सम्बंधित रूप में अपनी असली हालत को जाहिरा गंवा देती हैं; परन्तु वह अपनी स्वाभाविक दशा में उसे फिर प्राप्त कर लेती हैं । यही संसार में रुलते हुये जीव के लिये संभव है, किन्तु यहां पर एक प्रश्न आगे आता है कि सूक्ष्म पुद्गल कर्म वर्गणायें उसे दुःख और सुख कैसे पहुंचाती है ? उनसे एक साथ दो तरह की हालत कैसे पैदा हो जाती है ?

भगवान् पार्श्वनाथ के धर्मोपदेश में इस शङ्का का प्राकृत निरसन किया हुआ मिलता है । उन्होंने बतला दिया है कि कर्म वर्गणाओं के अनेकानेक भेद हैं । जितनी ही हालतें इस संसार में हो सकती हैं. उन सबके अनुरूप कर्मवर्गणाएँ मौजूद हैं । शरीर को सिरजनेवाला केवल एक नाम कर्मरूपी सूक्ष्म

पुद्गल ही है; परन्तु उसके अन्तर भेद भी कई हैं । हड्डियों का निर्माण कर्ता एक 'अस्थिकर्म' उसी का भेद है, किन्तु यह समग्र कर्मवर्गणाएँ मुख्यत: आठ प्रकार की बताई गई हैं । इन्हीं के उत्तर भेद १४८ हो जाते हैं और फिर वह अगणित में भी परिगणित किये जा सकते हैं । उसके मुख्य आठ भेद इस प्रकार बताये गए हैं :

१. **ज्ञानावर्णीय कर्म** - वह शक्ति है जो जीवात्मा को ज्ञान गुण को आच्छादित करती है ।

२. **दर्शनावर्णीय कर्म** - वह शक्ति है जो जीवात्मा के देखने की शक्ति में बाधा डालती है ।

३. **अंतराय कर्म** - यह आत्मा के निज बलपर आच्छादन डालता है ।

४. **मोहनीय कर्म** - इसके द्वारा आत्मा का श्रद्धान व चारित्रगुण विकृत होता है । यहां तक यह चारों कर्म आत्मा के निजी स्वभाव के विरोधक हैं, इसलिये इन चारों को 'चार घातिया कर्म' कहते हैं ।

५. **वेदनीय कर्म** - वह शक्ति है जिसके द्वारा संसारी जीव को सुख - दु:ख की सामिग्री प्राप्त होती है ।

६. **नाम कर्म** - वह शक्ति है जिसके द्वारा जीवात्मा विविध शरीर धारण करता है ।

७. **गोत्र कर्म** - वह शक्ति है जिसके द्वारा जीवात्मा उच्च और नीच कुल में जन्म लेता है ।

८. **आयु कर्म** - वह शक्ति है जिसके द्वारा जीवात्मा एक नियत काल के लिये मनुष्य, देव, तिर्यंच और नर्क गति में निर्वासित रहता है ।

इन आठ प्रकार की क़र्म शक्तियों के कारण ही जीवात्मा संसार में सुख-दु:ख भुगतता रहता है । यह कर्म शक्तियां मनुष्य की मन, वचन, काय की बुरी और गली क्रिया के अनुसार ज्यादा और कम जटिल होती रहती हैं, यह ऊपर देखा जा चुका है । जैन शास्त्रों में बड़े विस्तार से इन कर्म शक्तियों के फल देने का ब्यौरा दिया है । तत्वार्थधिगम सूत्र और गोमट्टसारजी में इसको इस तरह स्पष्ट कर दिया है कि मनुष्य अपना भविष्य जैसा चाहे वैसा बना सकता है । उसे प्राकृत नियमों का प्रत्यक्ष अनुभव हो जाता है, जिसके बल वह अपने आय-व्यय का लेखा बराबर मिलता रहता है । यह कर्म वर्गणायें हर क्षण जीवात्मा में आती भी रहती हैं और झड़ती भी जाती हैं क्योंकि जीवात्मा इस संसार में किसी क्षण के लिये भी प्रतिदिन मन, वचन, कायरूपी संकल्प विकल्पों से रहित रहीं है । यदि किसी व्यक्ति ने चिढ़कर अपने विपक्षी के ज्ञानोपार्जन में अंतराय डाल दिया, उसकी पुस्तकों को छुपाकर रख दिया, उसने वहां अपनी असत् क्रिया से अपने आत्मा के ज्ञान गुण को और ज्यादा ढक लिया; क्योंकि दूसरे के ज्ञान में बाधा डालते समय उसके परिणामों में विकलता और काय की असत् क्रिया हुई थी, जो तद्रूप सूक्ष्म पुद्गल को अपनी और खींचने में मुख्य कारण थी । इसी तरह दूसरे के दर्शन करने में अंतराय डालना, किसी को लाभ न होने देना आदि ऐसी क्रियायें हैं जो आत्मा में दर्शनावर्णीय अन्तराय आदि कर्म मल को अधिकाधिक बढ़ाती हैं । इनके बरअक्स दूसरों को ज्ञानदान देना, पढ़ाना, शंका की निवृत्ति करना, छात्रवृत्ति देना, ग्रन्थों का प्रकाश करना आदि ऐसे कृत्य हैं जो ज्ञान को आवरण करनेवाली कर्मवर्गणा को क्षीण बना देते हैं और इस दशा में जीवात्मा का ज्ञान अधिकाधिक प्रगट होता है । संसार में जो कोई अधिक ज्ञानवान और कोई

बिलकुल जड़ बुद्धि दिखलाई पड़ता है उसका यही ज्ञानावर्णीय कर्म की अधिकता अथवा कमताई कारण है । इसी तरह किसी को इष्ट देव के दर्शन करा देना, लाभ के मार्ग में का रोड़ा दूर कर देना, धर्माचरण करना आदि सद्‌कृत्य ऐसे हैं जो आत्मा के निजी गुणों को प्रगट होने देने में सहायक हैं । इस तरह शुभाशुभ कर्मों द्वारा आत्मा की विविध दशाएं होती हुईं इस संसार में देखी जाती हैं ।

लेश्या रहस्य

भगवान् ने अपने उपदेश द्वारा प्रत्येक मनुष्य के लिये यह सुगम बना दिया है कि वह अपने प्रयत्नों द्वारा सच्चे सुख को पाले और अपने दैनिक *मीजान रोज लगा ले । षट् लेश्यायें आत्मा की विविध दशाओं का स्पष्ट* दिग्दर्शन करा देती हैं । इनके कारण आत्मा में कुछ अन्तर नहीं पड़ता है । आत्मा तो मूल में दर्शन ज्ञानमई और निरावरण हैं । यह लेश्यायें उसके सांसारिक दशा की हीनता और उन्नतावस्था की बतलाने वाली हैं । यह एक कांटा है, जिस पर मनुष्य जीवन की अच्छाई और बुराई हमेशा अन्दाजी जा सकती है । कुछ लोग इन षट् लेश्यों की मक्खलिगोशाल के छह अभिजाति सिद्धान्त के अनुसार समझते हैं; परन्तु यह भ्रम है । गोशाल जीवात्माओं का काय अपेक्षा विभाग करता है और उसकी सादृश्यता भगवान के बताये हुये जीवों के षट्काय भेद से किंचित् अवश्य होती है[१२] यह षट् लेश्यायें कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल रूप बतलाई गई हैं । पहले की तीन तो निःकृष्ट है और शेष शुभ रूप हैं ।

लेश्याओं को समझने हेतु उदाहरण

इनका भाव समझाने के लिये जैन शास्त्रों में छह मनुष्यों का उदाहरण दिया हुआ मिलता है । कहा जाता है कि छह मनुष्य आमों का मजा चखने के लिये एक मित्र के बगीचे में पहुंचे । मित्र साहब बड़े सन्तोषी और शांति प्रिय जीव थे । उन्होंने वहां पर स्वत: गिरे हुये जो आम पड़े हुये थे उनको ग्रहण करके अपनी तृप्ति कर ली । इनके एक घनिष्ट मित्र जिन पर इनका प्रभाव किंचित् अधिक पड़ा हुआ था, इन्ही के पास खड़े रह कर पेड़ को हिला-हिला कर आम लेने लगे । इनसे हटकर एक दूसरे मित्र थे, उनको इतने से तसल्ली नहीं हुई और वह चट से पेड़ पर चढ़ गये और उस पर से बीन कर आमों से अपनी झोली भरने लगे । इन के साथी इन से भी एक कदम आगे बढ़ गये उन्होंने गुंचेदार टहनियों को तोड़कर अपनी हाथ भर की जीभ की लालसा मिटाना चाही । किन्तु इन महाशय के पड़ोसी इनसे भी बड़े चढ़े निकले । उन्होंने गुद्दोंको काटकर अपनी हवश पुरी करना चाही । परन्तु उनके भी गुरू इनके हम जोली निकल पड़े । उन्होंने जड़ से ही पेड़ को काट लेने की ठहराई । इस तरह इस उदाहरण में आये हुए व्यक्तियों के व्यवहार से लेश्याओं का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है । पहले मित्र साहब के परिणाम शुक्ल लेश्या रूप थे । वह प्राकृत रूप में संतुष्ट थे । उनको आकांक्षा का प्राय: अभाव था । दूसरे पेड़ को हिलाने वाले महाशय पद्म लेश्या की कोटि में आ जाते हैं । इनकी तृष्णा मन्द रूप में भड़कती कही जा सकती है । पेड़ पर चढ़कर आम तोड़ने वाले महानुभाव के भाव पीत लेश्या रूप थे । यहां तक भी गनीमत है । यह परिणाम भी ज्यादा बुरा नहीं है । इस में असंतोष की मात्रा सीमा को उल्लंघन नहीं कर गई है । किन्तु शेष के तीनों मनुष्यों के परिणाम निष्कृष्ट हैं । वह सीमा को उल्लंघ गये हैं।

उनके क्रम से कापोत, नील और कृष्ण लेश्या का सद्भाव समझना चाहिये इस प्रकार से ये लेश्यायें मनुष्य को उसकी दैनिक प्रवृत्ति की चाहिये ।

इस प्रकार से ये लेश्यायें मनुष्य को उसकी दैनिक प्रवत्ति का स्पष्ट दर्शन करा देती है । पीत लेश्या रूप यदि उसका लौकिक व्यवहार है तो भी गनीमत है । वहां तक वह मनुष्य अवश्य रहेगा और अवश्य ही मौका पाकर पद्म और शुक्ल लेश्या रूप भी अपनी दैनिक चर्या बना सकेगा । परन्तु जो व्यक्ति कापोत लेश्या में जा फंसा है, उसके लिये पीत लेश्या में आना भी कठिन है । फिर भला नील और कृष्ण लेश्यावालों की तो बात पूंछना ही क्या है ? ऊपर की तीन शुभ लेश्यायों रूप जिसका जीवन व्यवहार होगा, वही अपने निज स्वरूप अर्थात् सच्चे सुख को जल्दी पा सकेगा ! इस तरह भगवान का धर्मोपदेश हर तरह से मनुष्य को स्वाधीन बनानेवाला था । उसको वस्तुका स्वरूप, सच्चे सुख का मार्ग और मार्ग को प्रकट बतलाने वाला कुतुबनुमा जैसा यंत्र भी अच्छी तरह समझा दिया गया था । अतएव यह मनुष्य की इच्छा पर निर्भर था कि चाहे वह पराधीन और चाहे तो स्वाधीन बनकर सच्चे सुख को पाले।

आध्यात्मिक तत्त्व

यह बात उस समय के लोगों को भगवान के धर्मोपदेश से बिलकुल स्पष्ट हो गई थी कि जीवात्मा स्वयं अपने ही बल से सच्चे सुख को पा सकता है । इसलिये वह अपने ही आत्मा का आश्रय लेना हर कार्य में आवश्यक समझने लगे थे । स्वातंत्र्य प्रिय बनकर वह न्यायोचित रीति से जीवन यापन करते थे और अपना उद्देश्य सच्चे सुख-मोक्षधाम को पाने में रखते थे । इसके लिए श्रीकुन्दकुन्दाचार्य के शब्दों में वे लोग निम्न उपाय को काम में लाते थे :

जह णाम कोवि पुरिसो रायाणं जाणिऊण सद्दहदि ।
तो तं अनुचरदि पुणो अत्थत्थीओ पयत्तेण ॥२०॥

एवं हि जीवाराया णादव्यो तह्य सद्दहे दव्यो।
अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेवदु मोक्खकामेण ॥२१॥

- समयसार

भाव यही है कि जिस प्रकार कोई धन का लालची पुरुष राजा को जानकर उसमें श्रद्धा कर लेता है और उनकी सेवा भक्ति बड़े प्रयत्न से करता है उसी तरह मोक्ष सुख को चाहने वाले व्यक्ति को अपने आत्मा रूपी राजा की पहिचान करके उसमें श्रद्धा करनी चाहिये और फिर उसकी आराधना करने में लीन हो जाना चाहिये । उसको जान लेना चाहिये कि आत्मा का स्वभाव रागादिक भावों से भिन्न ज्ञान, दर्शन और सुख रूप है । आत्मा अनादि, अनन्त और एक अखण्ड पदार्थ है, वह संकल्प - विकल्प से रहित शुद्ध बुद्ध है, वह स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण से भी रहित है, साक्षात् सच्चिदानंदरूप है । सच पूछो जो आत्मा है वही परमात्मा है - जो मैं हूं सो वह है । इसलिये अन्य की शरण में जाना वृथा है । इस प्रकार आत्मा के शुद्धस्वरूप में श्रद्धान करके, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान को पाकर के आत्मा के गुणों में विचरण करना श्रेष्ठ है । यही सम्यक्चारित्र है । मुक्ति का मार्ग इसी सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप है; परन्तु साधारण जीवात्माओं के लिये सहसा यह संभव नहीं है कि वह एकदम इस उच्च दशा को प्राप्त कर लें । वह संसार के मोह में फंसे हुये हैं । इस कारण उनके लिये व्यवहार मोक्षमार्ग का निरूपण किया गया है, जिस पर चलकर वह निश्चय रत्नत्रय धर्म को पा लेते हैं ।

व्यवहार से जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्रतिपादित सात तत्त्वों और नव पदार्थरूप धर्म में श्रद्धा रखना सम्यग्दर्शन है । उनका ज्ञान प्राप्त करना सम्यग्ज्ञान है और श्रीजिनेन्द्रदेव की उपासना करना, सामायिक जाप जपना; हिंसा, झूठ चोरी, कुशील, परिग्रह रूप पांच पापों से दूर रहना आदि नियम सम्यक् चारित्र में गर्भित हैं । सामान्य जैनी को मधु-मद्य-मांस का त्याग करके उपरोक्त प्रकार अपना जीवन बनाना आवश्यक होता है । इस प्रकार का आचारण बना करके वह क्रमशः उन्नति करता जाता है और इस लिहाज से उसके ग्यारह दर्जे भी नियुक्त हैं; जिनको ग्यारह प्रतिमायें कहते हैं । इनमें चारित्र की शुद्धता क्रमशः बढ़ती गई है, जो आखिर में उस मुमुक्षु को सच्चे मोक्षमार्ग के द्वार पर पहुंचा देती है । पवर्त की शिखर पर कोई भी व्यक्ति एक साथ छलांग मार कर नहीं पहुंच सकता है । यही दशा यहां है - जीवात्मा दुःखों के गार में पड़ा हुआ है, वह उससे तब ही निकल सकता है जब अपने को संभाल कर किनारे की ओर को पग बढ़ाता हुआ बाहर की ओर को निकले ।

यहां तक के कथन से संभव है कि यह शंकायें भी आगे आयें कि कभी जीवात्मा को संसार में फँसा हुआ दुःखी बताया गया है, कभी उसी को पूर्ण सुखरूप कहा है - कभी कर्म को उसके दुःख का कारण बतलाया है और कभी उनको पूर्ण स्वाधीन कह दिया है । यह तो एक गोरख धंधे का सा पेच है । लोगों को भुलावे में डालना है परन्तु बात दर असल यूं नहीं है । गम्भीर विचार के निकट ऐसी शंकायें काफूर हो जाती हैं । जीवात्मा को स्वभाव में शुद्ध और सुखरूप कहा गया है परन्तु वह अनादिकाल में संसार में कर्मों के आधीन हुआ दुःख उठा रहा है; इसलिये वह अपने स्वभाव को पूर्ण प्रगट करने में असमर्थ है। उसकी दशा उस चिड़िया की तरह है जिसके पंख सी दिये गये हों और जो

उड़ नहीं सकती है । परन्तु इस पराधीन अवस्थामें भी उसके उड़ने की शक्ति मौजूद है । यदि वह प्रयत्न करके अपने बंधनों को काट डाले तो वह अवश्य उड़ सकती है। यही दशा संसार में फंसे हुये जीवात्मा की है । संसारी अवस्था में वह स्वाधीन नहीं है । कर्मों की जटिलता और शिथिलता के अनुसार ही वह कम और अधिक रीति से अपनी स्वाधीनता का उपभोग कर सकता है; परन्तु इसके माने यह भी नहीं है कि जैसा कर्म उसे नाच नचायेंगे वैसा वह नाचेगा ! वह अपनी किंचित् व्यक्त हुई आत्मशक्ति को मौका पाकर पूर्ण व्यक्त करने में प्रयत्नशील हो सकता है - बराबर प्रयत्न जारी रखने पर वह जटिल से जटिल कर्मबंधन को नष्ट कर सकता है, क्योंकि आखिर को वह स्वाधीन और पूर्ण शक्तिवान ही तो है । इसलिये भगावन ने सर्व जीवन घटनाओं को बिल्कुल परिणामाधीन अथवा कर्माश्रित ही नहीं माना था । इस तरह प्राकृत रूप में जीवात्मा के दो भेद-शुद्ध और अशुद्ध अथवा मुक्त और संसारी बताये थे ।

मुक्त जीव इस लोक की शिखर पर सदा सर्वदा अनन्तकाल तक अपने सुखरूप स्वभाव में लीन रहते हैं और संसारी जीव इस संसार में अपने भले बुरे कर्मों के अनुसार उस समय तक भ्रमण करते रहते हैं जब तक कि वह सर्वथा कर्मों से अपना पीछा नहीं छुड़ा लेते हैं । संसारी जीवों का दश प्राणों के आधार पर जीवन यापन होता है । वे दश प्राण-स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्ररूप पांच इंद्रियां ; मन, वचन, काय रूपं तीन बल; आयु और श्वोसोच्छवास रूप हैं। यह दश प्राण भी व्यवहार के लिये हैं वरन् मूल में निश्चय रूप से एक चेतना लक्षण ही जीव का प्राण है । इंद्रियों की अपेक्षा जीव एकेंद्रिय, दो इंद्रिय, तीन इंद्रिय, चार इंद्रिय और पांच इंद्रिय रूप हैं । पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक-ये अनेक प्राकर के स्थावर

एक जगह स्थिर रहने वाले जीव एकेंद्रिय हैं और शंख, कीड़ी तथा मनुष्य या पशु पक्षी क्रमसे द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेंद्रिय जीव हैं । इनको त्रस और चतुरेन्द्रिय तक को विकलेन्द्रिय भी कहते हैं ।

नय-निरूपण

जीव के शुद्ध और अशुद्ध व्यवहार को समझने के लिये ही भगवान् के धर्मोपदेश में नयों का निरूपण किया गया है । नय मुख्य रूप में निश्चय और व्यवहार रूप ही हैं । निश्चय नय पदार्थों के असली स्वभाव को व्यक्त करता हैं और व्यवहार नय से उनकी विकृत दशाओं अर्थात् पर्यायों का परिचय मिलता है । इसी भेद को और स्पष्ट करने के लिये स्याद्वाद सिद्धांत अथवा सप्तभंगी नय का निरूपण किया हुआ मिलता है ।[१३] पदार्थों में अनेक गुण हैं, वह केवल दो दृष्टियों से भी पूर्ण व्यक्त नहीं हो सकते । इसीलिए सात नयों रूप स्याद्वाद सिद्धान्त उसको स्पष्ट कर देता है ।

स्याद्वाद सिद्धांत

यह स्याद्वाद सिद्धान्त स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, स्यात् अस्तिनास्ति, स्यात् अवक्तव्य, स्यात् अस्ति अवक्तव्य, स्यात् नास्ति अवक्तव्य और स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य इस तरह सातभंग होने से सप्तभंगी रूप है । स्यात् अस्ति नय से द्रव्य अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूप सत्ता में प्रगट होता है । स्यात् नास्ति दृष्टि से द्रव्य अपने विरुद्ध द्रव्य के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों को न रखने के कारण नास्ति रूप है । स्यात् अस्ति नास्ति की अपेक्षा द्रव्य है और नहीं भी है । स्यात् अवक्तव्य रूप से द्रव्य वक्तव्य के बाहिर है । यदि हम उसको उसके निज और पर दोनों रूपों से एक साथ कहना चाहते हैं ।

स्यात् अस्ति अवक्तव्य अपेक्षा द्रव्य अपने द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव रूप और साथ ही अपने एवं पर के संयुक्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूप से है और अवक्तव्य है । स्यात् नास्ति अवक्तव्य बतलाती है कि द्रव्य पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा और उसी समय अपने एवं पर के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के संयुक्त रूप से नास्ति रूप है और अवक्तव्य भी है । स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य दृष्टि से द्रव्य अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से और साथ ही अपने व पर के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के संयुक्त रूप से है, नहीं भी है और अवक्तव्य भी है ।

इस प्रकार स्याद्वाद सिद्धांत का प्रतिपादन भगवान् पार्श्वनाथ ने भी पदार्थो को स्पष्ट समझने के लिए अपने धर्मोपदेश में किया था । पदार्थों में नित्य, अनित्य, एक, अनेक आदि परस्पर विरोधी गुण एक साथ देखने को मिलते हैं; परन्तु यह एक साथ कहे नहीं जा सकते । इसीलिये इस स्याद्वाद सिद्धांत की आवश्यकता है । यह उस पदार्थ की खास अपेक्षा से उसके गुणों को ठीक तरह से प्रगट कर देता है वरन् एकांत पक्ष में पड़कर कभी भी पदार्थ का निर्णय नहीं हो सकता है । इस एकांत पक्ष के हठ में अन्धों वाला उदाहरण चरितार्थ हो जाता है ।

जिस प्रकार कई अँधोंने हाथी के विविध अंगोंपाग में से एक एक को देखकर हाथी को वैसा ही मानने की जिद की थी, उसी प्रकार एकांत दृष्टि से हम वस्तु के एक पक्ष को ही प्रगट कर सकते हैं और वह पूर्णत: सत्य नहीं हो सकता है । अनेकांत अथवा स्याद्वाद सिद्धांत में यही विशेषता है कि वह वस्तु को सर्वांग रूप में प्रगट कर देता है और परस्पर विरोधी जंचने वाली बातों को

मेट देता है। उक्त उदाहरण के अन्धे पुरुषों का झगड़ा इस सिद्धांत की बदौलत सहज में सुलझ जाता है। अन्धों का एक पक्ष से हाथी को उसके पैरों जैसा लम्बा या पेट जैसा चौड़ा आदि मानना ठीक नहीं है। परन्तु उसका वह कथन असत्य भी नहीं है। हाथी अपने पैरों की अपेक्षा लम्बा भी है, इस तरह कहने से वह ठीक रास्ते पर आ सकते हैं और परस्पर भेद को मेट सकते हैं। यही इसका महत्त्व है। आचार्य समन्तभद्र आप्तमीमांसा ग्रन्थ में कहते हैं कि :-

'कर्मद्वैतं फलद्वैतं लोकद्वैतं च नो भवेत्।
विद्याऽविद्याद्वयं न स्यात् बन्धमोक्षद्वयं तथा ॥२५॥'

भावार्थ - 'एकांत का हठ करने से पुण्य-पापका द्वैत, सुख दुःख का द्वैत, लोक परलोक का द्वैत, विद्या अविद्या का द्वैत तथा बंध मोक्ष का द्वैत कुछ भी नहीं सिद्ध हो सकेगा।' इसलिये स्याद्वाद सिद्धांत ही सर्वथा पदार्थ का सत्यरूप सुझाने में सफल हो सकता है। आपसी भेदों को भी वही मिटा सकता है। इसी सिद्धांत को ध्यान में रखने से कोई भी शंकायें आगे नहीं आ सकती हैं। अस्तु!

भगवान् पार्श्वनाथजी के धर्मोपदेश का महत्त्व इतने से ही हृदयंगम हो जाता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूप ही मोक्ष का मार्ग है। इस मार्ग का अनुसरण करके जीवात्मा अपने को कर्मों के फन्दे से छुड़ा लेता है। गत जन्मों में किये हुये कर्मों को वह कम कर नष्ट कर देता है और आगामी ध्यान-ज्ञान की उच्चतम दशा में पहुंच कर उनके आने का द्वारा मूंद देता है। फिर वह अपने रूप को पा लेता है। जो वह है सो ही बन जाता है।

गुणस्थान निरुपण

जीवात्मा की आत्मोन्नति के लिहाज से ही भगवान ने उसके लिये चौदह दर्जे बताये है, जिनको **गुणस्थान** कहते हैं । मोहनीय कर्म और मन, वचन, काय की क्रिया रूप योग के निमित्त से जो आत्मिक भाव उत्पन्न होते हैं, उन्हीं को गुणस्थान कहते हैं । जितने जितने ही वह भाव आत्मा के शुद्ध स्वरूप की ओर बढ़ते जाते हैं उतने उतने ही जीवात्मा आत्मोन्नति करता हुआ गुणस्थानों में बढ़ता जाता है ।

यह चौदह गुणस्थान क्रम कर १. मिथ्यात्व, २. सासादन, ३. मिश्र, ४. अविरतसम्यक्त्व, ५. देशसंयत, ६. प्रमत्तसंयत, ७. अप्रत्तसंयत, ८. अपूर्वकरण, ९. अनिवृत्तिकरण, १०. सूक्ष्मसांपराय, ११. उपशांत मोह, १२. क्षीण मोह, १३. सयोग केवली और १४. अयोग केवली रूप हैं । इनमें से पहले के पांच गुणस्थानों को पुरुष, स्त्री, गृहस्थ और श्रावक समान रीति से धारण कर सकते हैं । ग्यारहवीं उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा पर्यंत, जिसमें गृह त्यागी व्यक्ति के पास केवल लंगोटी मात्र का परिग्रह होता है, इसकी उत्कृष्ट श्रावक (ऐलक) संज्ञा है । इस ग्यारहवीं प्रतिमा पर्यंत स्त्रियां भी श्रावक के व्रत पाल सकती हैं । शेष में छठे गुणस्थान के उपरांत सब ही गुणस्थानों का पालन तिलतुष मात्र परिग्रह तक के त्यागी निर्ग्रंथ मुनि ही कर पाते हैं । इन गुणस्थानों का स्वरूप संक्षेप में इस तरह समझना चाहिये -

१- मिथ्यात्व गुणस्थान - में मिथ्यात्व का उदय होने से रागद्वेष आदि रहित सच्चे देव, सर्वज्ञ प्रणीत, युक्ति से सिद्ध, पूर्वापर विरोध रहित, आगम और वस्तु स्थिति के यथार्थ रूप तत्त्वों में श्रद्धान नहीं हो पाता है । अनादिकाल से संसार में घूमते हुये जीव इसी मिथ्यात्त्व गुणस्थानवर्ती होते हैं । इस

गुणस्थान से निकलकर जीव एकदम चौथे गुणस्थान में पहुँच जाता है । उसे क्रमश: जाने की जरूरत नहीं है ।

२. सासादन गुणस्थान - में जीवात्मा का आत्म पतन होता है । चौथे गुणस्थान में पुहंचकर जीव के उदय में जब अनन्तानुबंधी कषाय में से एक अर्थात् क्रोध का उदय होता है, तब जीवात्मा पतन करता हुआ इस दूसरे गुणस्थान में होकर पहले गुणस्थान में पुहंचता है । बस पहले गुणस्थान तक पहुंचने के अंतराल में जो भाव रहते हैं वह सासादन गुणस्थान है । अर्थात् सम्यक्त्व के छूटने पर मिथ्यात्व को पाने तक जो भावों की दशा हो वही सासादन गुणस्थानवर्ती है ।

३. मिश्रगुणस्थान - में सच्चे और झूठे देव, शास्त्र और पदार्थ का श्रद्धान एक साथ रहता है । चौथे गुणस्थान से पतन करके ही जीव इसमें आता है । यह जीव की सत्य और असत्य के बीच में डांवाडोल अवस्था का द्योतक है ।

४. अविरतसम्यक्त्व - में जीवात्मा को सच्चे देव, शास्त्र और पदार्थ में श्रद्धान तो होता है, परन्तु वह व्रतों को धारण नहीं कर सकता है । अहिंसा अचौर्य, ब्रह्मचर्य, सत्य और अपरिग्रह यही एक देश रूप में पंचव्रत कहे गये हैं। इनका पालन करनेवाला जीव कभी भी जानबूझ कर मन, वचन, काय से न अपने लिये और न दूसरे के लिये जीवित प्राणियों के प्राणों को अपहरण करता है, न गिरी पड़ी, भूली और पराई वस्तु ग्रहण करता है, न पर स्त्रियों से संभोग करता है, न झूठ और न दूसरों के प्राणों को संकट में डालने वाला सत्य ही कहता है एवं तृष्णा को एक दम बढ़ने न देने के लिये अपनी सांसारिक आवश्यकताओं का नियमित कर लेता है । सचमुच ग्रहस्थ अवस्था में इन

व्रतों का पालन करने से एक ग्रहस्थ संतोषी और न्यायप्रिय नागरिक बन सकता है । परन्तु इस चौथे गुणस्थान में वह इन व्रतों को धारण करने में स्वभावत: असमर्थ होता है । उसके मोहनीय कर्म की इतनी जटिलता है कि वह सहसा व्रतों को धारण नहीं कर सकता है, यद्यपि उसको सच्चे देव, शास्त्र और तत्त्व का श्रद्धान होता है । इस सच्चे श्रद्धान की बदौलत ही जीवात्मा उन्नति करके पांचवे गुणस्थान में पुहंचता है । इसीलिये श्रद्धान का ठीक होना बहुत जरूरी है। सम्यक् श्रद्धान ही सन्मार्ग में लगानेवाला है ।

श्रावक की ग्यारह प्रतिमायें

५. **देशविरत** - गुणस्थान में जीवात्मा व्रतोंका एक देश पालन कर सकता है । वह जानबूझकर हिंसादि पांच पापोंसे दूर रहता है । **श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का** समावेश इस गुणस्थान तक हो जाता है इन ग्यारह प्रतिमाओं का स्वरूप इस तरह है - यह संसार में फंसे हुये गृहस्थ को क्रमकर मोक्ष के मार्ग पर लानेवाली हैं । इनमें प्रवृत्ति मार्ग से छुड़ाकर निर्वृत्ति मार्ग की ओर उत्तरोत्तर बढ़ाने का ध्यान रक्खा गया है । पहली दर्शन प्रतिमा में एक व्यक्ति को जैन धर्म में पूर्ण श्रद्धान रखना होता है । उसे उसके सिद्धान्तों का अच्छा परिचय होना आवश्यक रहता है तथापि वह मांस, मधु, मदिरा का त्यागी होकर यथाशक्ति पांच अणुव्रतों को पालन करने का प्रयत्न करता है । दूसरी व्रत प्रतिमा में उसे अहिंसादि पांच अणुव्रतों का पूर्ण रीति से पालन करना होता है । साथ ही ३ गुणव्रत और ४ शिक्षाव्रतों को भी वह पालता है । दूसरे शब्दों में वह प्रति दिवस नियमित रीति से अपने आने जाने के क्षेत्र की दिशाओं और दूरी का प्रमाण कर लेता है, वृथा का बकबाद अथवा पापमय कार्यों का विचार और उनको करने से दूर रहता है । शिक्षा व्रतों में वह प्रात:, दिवस

अपने खानपान के पदार्थों को नियमित कर लेता है, प्रात:, मध्यान्ह और सायंकाल को भगवान की पूजन करता है, पर्व के दिनों में उपवास करता है और आहार, औषधि, विद्या और अभयधान देता है ।

इस तरह वह इन व्रतों का पूर्णत: पालन करके अपने त्याग भाव को उत्तरोत्तर बढ़ाता जाता है, और इस तरह उन्नति करते हुये वह अपने में समभावों को अर्थात् सब वस्तुओं में साम्यभाव रखने का प्रयत्न करता है । इसके लिये वह नियमित रीति से प्रतिदिन सवेरे, दुपहर और शाम को होशियारी के साथ ध्यान करने का । अभ्यास करता है । सामायिक की दशा में वह अपने परिणामों को समतारूप बनाने और अपने आत्मगुणों के चिन्तवन में लगाते है। सामायिक पाठका प्रथम चरण ही उसके भाव को स्पष्ट करता है । जैसे -

'नित देव ! मेरी आतमा धारण करे इस नेम को,
मैत्री करे प्राणियों से, गुणि जनों से प्रमे को ।
उन पर दया करती रहे जो दु:ख - ग्राह - ग्रहीत हैं,
उनसे उदासी ही रहे जो धर्म के विपरीत हैं ।।

यह तीसरी **सामायिक प्रतिमा** है । चौथी **प्रोषधोपवास** प्रतिमा में उसको प्रतिपक्ष की अष्टमी और चतुर्दशी को होशियारी के साथ उपवास करने पड़ते हैं । पांचवी **सचित्तत्याग** प्रतिमा में वह सचित जिनमें उपजने की शक्ति विद्यमान हो, ऐसी शाक भाजी और जल ग्रहण नहीं करता है । छठी **रात्रिभुक्तित्याग** प्रतिमा में वह रात्रि के समय न स्वयं भोजन व जलपान करता और न दूसरों को कराता है । सातवीं **ब्रह्मचर्य** प्रतिमा में वह अपनी विवाहित स्त्री तक से सी संभोग करना छोड़ देता है और वह पूर्णत: मन-वचन-काय से ब्रह्मचर्य का पालन करता है । आठवीं **आरम्भत्याग** प्रतिमा में वह अपनी

आजीविका के साधनों का भी त्याग कर देता है । धन कमाने, भोजन बनाने आदि से हाथ खींच लेता है । नौवीं **परिग्रह त्याग** प्रतिमा में वह सांसारिक पदार्थों से अपनी इच्छा-वाञ्छां को बिल्कुल हटा लेता है और अपनी सब धन-सम्पत्ति को त्याग कर केवल गिनती के थोड़े से वस्त्र और बरतन रख लेता है । दशवीं **अनुमतित्याग प्रतिमा** में वह सांसारिक कार्यों के संबंन्ध में अपनी राय भी नहीं देता है और ग्यारहवीं एवं अन्तिम **उद्दिष्टत्याग प्रतिमा** में वह अपने शरीर को बनाये रखने के लिये भोजन को भिक्षा वृत्ति से ग्रहण करता है; परन्तु वह उन वस्तुओं को ग्रहण नहीं करता है जो खास उसके लिये बनाई गई हों । वह एक चादर और लंगोटी को रखकर **ऐलक** पद को पा लेता है ।

ऐलक दशा में वह हाथों में ही लेकर भोजन ग्रहण करता है । यह दोनों महानुभाव अपने साथ एक कमण्डलु और मोरपंखी पीछी रखते हैं । तथापि क्षुल्लक एक पिण्डपात्र भी रखते हैं । इनकी भिक्षा वृत्ति भी स्वाधीन रूप होती है। यह किसी से याचना नहीं करते हैं । जो आदर भाव से उनकी नियमित रूप में भोजन के समय आमंत्रित करके शुद्ध आहार देते हैं उन्हीं के यह वह आहार ग्रहण करते हैं ।

इन ग्यारह प्रतिमाओं में क्रमश: त्यागभाव उत्तरोत्तर बढ़ता गया है और आखिर में उस श्रावक का जीवन एक साधु के समान ही करीब-करीब हो गया है । यहां तक स्त्रियां भी इस चारित्र को धारण कर सकती हैं; परन्तु वह अपनी प्राकृत लज्जाके कारण वस्त्र त्याग कर निर्ग्रंथ अवस्था को धारण नहीं कर पातीं हैं । इस पांचवें गुणस्थान तक जीवात्मा इन ग्यारह प्रतिमाओं रूप ही अपना आचरण बना सकता है । पूर्ण रीति से वह अहिंसादि व्रतों का पालन ही कर सकता है । निर्ग्रंथ मुनि ही पूर्ण रीति से इन व्रतों का पालन करते हैं।

६. प्रमत्त संपत गुणस्थान में यद्यपि पुरुष दिगंबर मुनि हो जाता है और सर्व प्रकार के परिग्रह को त्याग देता है, परन्तु तो भी उसके परिणाम शरीर की ममता में कादचित् झुक जाते हैं । यह प्रमत्त भाव है अर्थात् ध्यान की एकाग्रता में लापरवाई या कोताही है । यहां से सब गुणस्थान निर्गंथ मुनि अवस्था के ही हैं ।

७ - अप्रमत्तरिवत - गुणस्थान में प्रमत्तभावों को छोड़कर मुनि पूर्ण रूप से महाव्रतों का पालन करता है और धर्मध्यान में लीन रहता है । यहां से आत्मोन्नति का मार्ग दो श्रेणियों में बँट जाता है - (१) उपशम श्रेणी, जिसमें चारित्र मोहनीय कर्म का उपशम हो जाता है और (२) क्षपक श्रेणी, जिसमें इस कर्म का बिल्कुल नाश हो जाता है । यही मोक्ष का आवश्यक मार्ग है, चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से जीवात्मा के सम्यक् चारित्र प्रगट होने में बाधा उपस्थित रहती है । इसका नाश होते ही सम्यक् चारित्र का पुर्णता से पालन होने लगता है, आत्मध्यान की एकाग्रता हो जाती है, जिससे सर्व स्वरूप की प्राप्ति होती है । इसीलिये कहा गया है कि :-

'खाना चलना सोवना, मिलना वचन विलास ।
ज्यौं ज्यौं पंच घटाइये, त्यौं त्यौं ध्यान प्रकास ।।६२ ।।

आगमग्यान सदा व्रतवान, तपै तप जान तिहूं गुन पूरा ।
ध्यान महारथ धारन कारन, होय धुरंधर सो नर सूरा ।।

ध्यान अभ्यास लहै सिववास, विना भवपास परै दुख भूरा ।
कर्म महादिढ़ सैल बड़े बहु, ध्यान सु वज्र करै चकचुरा ।।६३ ।।'

भाषा द्रव्यसंग्रह द्यानतरायकृत ।।

इस गुणस्थान से ध्यान की उत्तरोत्तर वृद्धि होना प्रारम्भ हो जाता है ।

८. **अपूर्वकरण** - गुणस्थान में उस विचार-क्रिया (Thought-activity) को मुनि प्राप्त होता है जिसको अभी तक उनकी आत्मा ने प्राप्त नहीं किया है । आर्त, रौद्र धर्म और शुल्क इन चार ध्यानों में सर्व अंतिम सर्वोच्च शुल्क ध्यान का प्रथम अनुभव इसी गुणस्थान में होता है । आत्मा के शुद्ध रूप का ध्यान शुद्ध रीति से यहीं होता है । आर्त और रौद्र ध्यान बुरे ध्यान हैं, वह कषायों को लिये हुये हैं । धर्म ध्यान इनसे अच्छा शुभ रूप है और शुल्क ध्यान तो सर्वोच्च आत्म ध्यान ही है ।

९. **अनिवृत्तिकरण** - गुणस्थान में उपरोक्त विचार-क्रिया (करण) और अधिक बढ़ जाती है जिसमें और भी अधिक शुद्ध ध्यान होता है, जो प्रथम शुक्ल ध्यान का ही एक दर्जा है ।

१०. **सूक्ष्मसाम्पराय** - गुणस्थान में बहुत ही मामूली तरीके से मोह शेष रह जाता है । सब ही कषाय वासनाओं का नाश अथवा उपशम हो जाता है, केवल सूक्ष्म संज्वलन लोभ-बहुत ही कम नाम का लोभ रह जाता है, यहां भी प्रथम शुक्ल ध्यान है ।

११. **उपाशान्त मोह** - गुणस्थान में मोह का उपशम हो जाता है अर्थात् वह दब जाता है, निष्क्रिय हो जाता है । यह भाव समस्त चारित्र मोहनीय कर्मों के उपशम से होता है, यह भी प्रथम शुक्ल ध्यान का भेद है । यदि कोई मुनिजन विशेष बलवान न हुये तो वह यहां से पतन करके चौथे अथवा दसवें गुणस्थान में पहुंच जाते हैं । वरन् वह दृढ़ता पूर्वक आठवें गुणस्थान की क्षपक श्रेणी में उन्नति करने लगते हैं ।

१२. क्षीणमोह - गुणस्थान में मोह का अभाव हो जाता है । समस्त चारित्र मोहनीय कर्मों का नाश यहां हो जाता है । शुक्ल ध्यान का दूसरा दर्जा, जो पहले से अधिक विशुद्ध है, यही प्रगट होता है । मुनि दशवें गुणस्थान से सीधे इस गुणस्थान में आते हैं, ग्यारहवें गुणस्थान में जाने की जरूरत नहीं है, क्योंकि वह उपशम श्रेणी से सम्बधित है ।

१३. सयोग केवली - गुणस्थान चार घातिया कर्म रहित जीवात्मा की शरीर सहित शुद्ध दशा है । यहां ज्ञानावर्णीय, दशनावर्णीय, अन्तराय और मोहनीय कर्मों का सर्वथा नाश हो जाता है, जो आत्मा के निजगुणों के प्रगट होने में बाधक हैं बस इनके नष्ट होने से आत्मा शुद्ध, बुद्ध जीवित परमात्मा हो जाता है । जिसको अर्हत् कहे हैं । पूर्ण ज्ञान, पूर्ण दर्शन और पूर्ण सुख का आत्मा यहां अधिकारी हो जाता है । सर्वज्ञ दशा में वह धर्म के तत्त्वों का यथावत् प्रतिपादन करता है । इस दशा में आत्मा में संकलपना मौजूद रहता है। किन्तु -

१४ - अयोग केवली - गुणस्थान में यह संकपपना बिलकुल नष्ट हो जाता है । यह गुणस्थान संयोग केवली के मोक्ष प्राप्त करने के सिर्फ इतने अन्तराल काल में प्राप्त होता है कि अ, इ, उ, ऋ, लृ, - इन पांच अक्षरों का उच्चारण मात्र ही किया जा सके । इसके बाद जीवात्मा शरीर छोड़कर निजरूप होकर पूर्ण सुख और शांति का अधिकारी अनादिकाल के लिए हो जाता है और सिद्ध कहलाता है । वह इस लोक के शिखर पर निजानन्दमय हुआ अनंत काल के लिये तिष्ठा रहता है । दु:ख-शोक आदि वहां उसे कुछ भी नहीं सता पाते हैं । वह सच्चिदानन्द रूप हो जाता है ।

इस प्रकार भगवान् पार्श्वनाथ का धर्मोपदेश प्राकृत रूप में संसार ताप से तप हुये भयभीत प्राणी को शांति प्रदान कराने वाला संदेश था। वह रङ्क से राव बनानेवाले था। पराधीनता के पल्ले से छुड़ाकर स्वातंत्र्य सुख को दिलाने वाला था। सांसारिक विषय वासनाओं और वांछा अकांक्षाओं से कमजोर हुई आत्माओं को सिंह समान निर्भीक और बलवान् बना देना, इस धर्मोपदेश का मुख्य कार्य था। निर्गंथ मुनियों की चर्या सिंहवृत्ति के समान होती है। जिस तरह प्राकृत रूप में निशङ्क होकर अरण्य केसरी बन विहार करता है, उसी तरह दिगम्बर भेष को धारण किये हुये मुनिराज भी निडर होकर वन-कंदाराओं में विचरते रहते हैं और सदैव आत्म स्वातंत्र्य का मंत्र जपते हैं। किन्तु सिंह के पास जाने में इतर प्राणियों को भय मालूम देता है, पर उन आत्म स्वातंत्र्य स्थाल में सिंह समान विचरने वाले मुनिराज के निकट हर कोई निर्भय होकर पहुंच सकता और आत्म कल्याण कर सकता है। यही मुनिराज अपने प्रखर आत्मध्यान के बल से अन्त में त्रिलोक्य पूज्य और सच्चिदानन्दरूप साक्षात् परमात्मा हो जाते हैं, यह ऊपर बताया ही जा चुका है।

संसार के इन्द्रायण फल के समान विषय भोगों में फंसे हुये जीवों के लिये यह सुगम नहीं होता है कि वह एक दम अपनी प्रवृत्ति को बदल दें इसीलिए भगवान ने एक नियमित ढंग से क्रमकर अपनी प्रवृत्ति को बदलना आवश्यक बतलाया था। शास्वत सुख प्राप्त करनेके लिये सात्विक मनोवृत्ति को उत्पन्न करना प्रारम्भ में जरूरी होता है। उसी अनुरूप भगवान के धर्मोपदेश में मांस, मधु, मदिरा आदि पदार्थों के ग्रहण करने को मनाई थी। वह अखाद्य पदार्थ थे। प्राणियों के प्राणों की हिंसा करके यह मिल सकते हैं। और कोई भी प्राणी अपने प्राणों को छोड़ना नहीं चाहता है। सब को ही अपने प्राण प्रिय हैं।

इसलिये मांस को ग्रहण करना वास्तव में अयुक्त ही है । इस नियम को ग्रहण करते ही प्राणी साम्य भाव के महत्त्व को समझ जाता है । वह जान लेता है कि जिस तरह मुझे अपने प्राण, अपना धन, अपने बंधु प्रिय हैं, वैसे ही दूसरों को भी वह प्रिय हैं । इस अवस्था में वह विश्व प्रेम का पाठ स्वत: हृदयंगम कर लेता है और अपना जीवन ऐसा सर्व हित मई बना लेता है कि उसके द्वारा सब की भलाई होती है । फिर वह उत्तरोत्तर अपने समता भाव को बढ़ाता जाता है और सांसारिक वस्तुओं से ममत्त्व घटाकर अपने आत्मा के ध्यान में लीन होने का प्रयत्न करता रहता है । इसके लिये वह नियमित त्याग और संयम का पालन करता है । संसार के कोलाहल से दूर रह कर तपश्चरण का अभ्यास करता है । जिस तरह ग्रहस्थ दशा में रहकर वह एक आदर्श गृहस्थ होता है, उसी तरह गृह त्याग की इस अवस्था में वह परम तपस्वी होता है ।

तपका महत्व अकथनीय है, वह हर हालत में उपादेय है प्रॉ. जेम्स नामक एक अमेरिकन तत्त्वज्ञानी इस तप का महत्व इस प्रकार लिखते हैं - ''वैराग्य की भावना और देह दमन उपयोगी है । जिस तरह बीमा कम्पनी में थोड़ा थोड़ा रुपया जमा करते रहने से अन्त में वह रुपया उपयोगी हुए बिना नहीं रहता, उसी प्रकार देह दमन के उपयोग है । उसी प्रकार देह दमन के लिये की हुई तपस्यायें आत्मा में ऐसा बल उत्पन्न कर देती हैं कि क्रम क्रम से वह आत्मा जिन पद को संयम और तप का ही पालन किया जा सकता है और न एकदम ज्ञान या कल्याण की हो प्राप्ति हो सकती है । उसमें धीरे धीरे ही गति होती है । और वैसे वैसे ही ज्ञान और कल्याण भी प्राप्त होता है । शुरू में यह मार्ग कठिन मालूम होता है; किन्तु जहां तनिक उस मार्ग में गति हुई कि बड़े कठिन जंचने वाले नियम भी बिल्कुल सुगम दृष्टि पड़ने लगते हैं । इस तरह ही पार्श्वनाथजी

का धर्मोपदेश था - यह किसी भेदभाव या पक्षपात को लिये हुये नहीं था। प्रत्येक प्राणी हर परिस्थिति में अपना आत्म कल्याण इसकी आराधना से कर सकता है। भीरू और कमजोर आत्माओं को वीर और बलवान बनानेवाला यह मार्ग था। क्षत्रिय शिरोमणि इक्ष्वाकु कुल केतु काश्यप प्रभु-महावीर पार्श्व द्वारा प्रतिपादित हुआ यह धर्म सर्वथा वीर आत्माओं द्वारा तो अपनाया ही जाता रहा है; परन्तु नीच और भीरू चोर-डाकू जैसे पापी भी इसकी शरण में आकर अपना आत्म कल्याण कर सके थे। भगवान के धर्म मार्ग का द्वार केवल मनुष्यों के ही लिये नहीं बल्कि पशुओं तक के लिये खुला हुआ था। वह सब को त्राणदाता था, शांति साम्राज्य को सिरजनेवाला था। सचमुच वह था :-

'आदि अन्त अविरोध यथारथ, जो भाषन सब वस्तु विधानन।
जो अनादि अज्ञान निवारत, जा समान हितहेत न आनन॥

जाको सुजस तिहूं जग व्यापत, इन्द्र अलापत तननननतानन
भाविकवृन्दको सो आधार है, जो सब निगमागमको आनन॥'

सन्दर्भ

१ - जैनहितैषी भाग १२ अंक ७-८ पृ. ३२५-३२६।
२ - जैनहितैषी भाग १२ अंक ७-८ पृ. ३२६-३२७।
३ - Glassenapp, Ephemerids Orientales No. 25-P.13 & Cambridge History of India - Anc. India Vol I.P 154
४ - जैनजगत वर्ष १।
५ - जैनसूत्र (S.B.E.) भाग २ पृ. १२२ - १२३।
६ - दीघनिकाय (P.T.S) भाग १ पृ. ५७-५८।
७ - देखो भगवान महावीर और म. बुद्ध का परिशिष्ट।
८ - 'दिगम्बर जैन' वर्ष १९ अंक ९ से प्रगट हमारी 'श्वेतांबर जैनों के आगमग्रन्थ' शीर्षक लेखमाला तथा दी हिस्ट्री ऑफ प्री. बुद्धिस्टिक इन्डियन फिलासकी पृ. ३७५-३७७.

९ - कर्ल चारपेन्टियर उत्तराध्यन सूत्र की भूमिका और नोट।
१० - जैनसूत्र (S.B.E.) भाग २ पृ. १२३।
११ - बौद्धोंके '**ब्रह्मजालसुत्त**' में प्राचीन श्रमणों का ऐसा ही श्रद्धान बतलाया गया है। वहां लिखा है कि श्रमणों के अनुसार 'जीव नित्य है, लोक किसी नवीन पदार्थ को जन्म नहीं देता है। वह पवर्त की भांति स्थिर है। यद्यपि जीव संसार में परिभ्रमण करते हैं तो भी वे हमेशा वैसे के वैसे रहते हैं।' यहा उल्लेख भगवान पार्श्वनाथ के सम्बन्ध में है। इसके लिए देखो भगवान महावीर और म. बुद्ध पृ. २२०।'
१२ - श्वेताम्बर के शास्त्रों में कहा गया है कि भगवान महावीर के पिता नृप सिद्धार्थ षटकाय के जीवों की पूर्ण रक्षा करते थे। देखो प्री. बुद्धिस्टिक इन्डियन फिलासफी पृ. ३०३।
१३ - स्याद्वाद सिद्धांत भगवान् महावीरसे बहुत पहले का है, यह बात हिन्दू शास्त्रों से भी प्रकट है। 'अनुजित अध्याय' (Leg S. २ -१२) पर टीका करते हुए नीलकठ कहते हैं - ''सर्व संशयतिमिति स्वाद्वादिनः सप्तभंगी नयज्ञाः।'' (२ श्लो. अ. ४९) महाभारत, शांतिपर्व, मोक्षधर्म अ २३९ श्लो. ६ में भी इसका उल्लेख है। स्याद्वाद सिद्धांतको संशयात्मक मानना जैनियों के साथ अन्याय करना है। श्री शंकराचार्य उसके महत्व को समझ नहीं सके थे, यह महामहोपाधाय डॉ. गगानाथ झा सदृश ब्राह्मण विद्वान् स्पष्ट कर चुके हैं। प्रॉ. ध्रुवके शब्दों में ''स्याद्वादका सिद्धान्त बहुत सिद्धान्तों को अवलोकन करके उनके समन्वय के लिये प्रकट हुआ है। यह अनिश्चय से नहीं उपजा है। यह हमारे सामने एकीकरणका दृष्टिबिन्दु उपस्थित करता है। शंकराचार्य ने जो स्याद्वाद पर आक्षेप किया है, वह इसके मूल रहस्य पर बराबर नहीं बैठता।..... अनेक दृष्टि बिन्दुओं से देखे बिना एक समग्र वस्तु का स्वरूप नहीं समझा जाता और इसलिए स्याद्वाद उपयोगी तथा सार्थक है।''

❑

धर्मोपदेश का प्रभाव

'यमीश्वरं वीक्ष्य विधूतकल्मषं, तपोधनास्तेऽपि तथा बुभूषवः ।
वनौकसः स्वश्रमवन्ध्यबुद्धयः, शमोपदेशं शरणं प्रपेदिरे ॥१३४॥'

- श्री समन्तभद्राचार्यः ।

गहन गंभीर वनों में शीतल जलमयी सरिताओं के किनारे वानप्रस्थ ऋषियों के बड़े बड़े आश्रम थे । प्रति दिवस बड़े समारोह के साथ वहां अग्निहोत्र विधान होता था । नरमेध, गौमेध आदि के नाम से जीवित प्राणियों के मूल्यमय प्राण बलि वेदी पर उत्सर्गीकृत किये जाते थे । स्वर्ग सुख के लालच और पितृ ऋण के भय के कारण परावलम्बी बनी हुई जनता इस कार्य को हठात् कर रही थी । उधर स्वयं जटिलादि वानप्रस्थ ऋषिगण अपनी इंद्रिय लिप्सा को अधिक सीमित नहीं रख सके थे । पुत्र मुख के दर्शन करना उनके निकट भी एक कर्तव्य था, यह सब कुछ हम पहले देख चुके हैं किन्तु भगवान् पार्श्वनाथजी ने ज्यों ही सत्य का सिंहनाद प्राकृत रूप में घोषित किया था त्यों ही इन गहन वनों के भीतरवाले आश्रमों में भी हलचल मच गई थी, अग्निहोत्रि की उच्च ज्वालायें एक क्षण के लिये थम गई थीं । शिष्यगण एवं साधारण जनता धर्म के नाम पर की जानेवाली इस हिंसा के विषय में सशङ्क हो स्पष्ट रूप से इसका समाधान करने का आग्रह करने लगे थे । सत्य का वहां पर प्राय: अभाव देखकर वह भगवान की शरण में आये थे । यही कारण था कि भगवान पार्श्वनाथ का सम्बोधन उस प्राचीन काल में ''सर्वजनप्रिय'' (People's Favourite) के नाम से होने लगा था । ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों में हुये श्री समन्तभद्राचार्यजी भी यही कहते हैं कि ''जिस घातिया कर्मों के नाश

करनेवाले तीन लोक के स्वामी पार्श्वप्रभु को देख वनवासी कुतपस्वी, पञ्चाग्नि आदि साधनों में विफल मनोरथ होते हुए, भगवान के सदृश होने की इच्छा से, शांति के उपदेश भगवान् अथवा जिसके सदृश होने की इच्छा से, शांति के उपदेश भगवान् अथवा जिसमें शांति का उपदेश है ऐसा मोक्षमार्ग उसके शरणीभूत हुये अर्थात् सच्चे मार्ग में लगे थे ।'' शक सवंत् ७३६ में हुये श्री जिनसेनाचार्य भी अपने ''पार्श्वभ्युदयकाव्य'' में यही कहते हैं, यथा -

'इति विदितमहर्द्धिं धर्मसाम्राज्यमिन्द्र :.

जिनमवनतिभाजो भेजिरे नाकाभाजाम् ।

शिथिलितवनवासा: प्राक्तनीं प्रोज्झय वृत्तिं,

शरणमुपययुस्तं तापसा: भक्तिनम्रा: ॥६९॥'

''**टीका**-जटिलादय: कुतापसा: निजकायक्लेशे निष्फलत्वं निश्चिन्वन्त: । तपोमहिम्ना प्राप्तोदयं पार्श्वतीर्थंकरं तत्तपोलब्धुकामा: शरणं ययुरिति भाव: योगिराट् ।''

भाव यही है कि जटिल आदि कुतापास जो थे वह अपने पञ्चाग्नि आदि रूप कायक्लेश एवं अन्य धार्मिक क्रियायों को निष्फल होते देखकर भगवान् पार्श्वनाथ की शरण में आये थे । भगवान् के प्राकृत संदेश में शांति और सुख का स्पष्ट विधान था । वह युक्ति से प्रत्यक्ष बुद्धिग्राह्य था, उसको पाकर अपने एकांत पक्ष में विधर्मियों का विश्वास खो बैठना स्वाभाविक ही था ! वहां हटपक्ष तो था नहीं, सरलता थी, सत्य को पाने की अभिलाषा भी । यही कारण था कि बहुजन भगवान की शरण आये थे । ईसा की आठवीं शताब्दि के विद्वान् महर्षि श्री गुणभद्राचार्यजी भी अपने ''उत्तरपुराण'' में कहते हैं कि :-

तदा केवलपूजां च सुरेंद्रा निरवर्तयन् ।
संवरोप्यात्तकालादि लब्धिः शममुपागमत् ॥१४५॥

प्रापत्सम्यक्त्वसंशुद्धिं दृष्ट्वा तद्वनवासिनः ।
तापसास्त्यक्तमिथ्यात्वाः शतानां सप्त संयमं ।
गृहीत्वा शुद्धसम्यक्त्वाः पाश्र्वनाथं कृतादरा ।
सर्वे प्रदक्षिणीकृत्य प्रणेमुः पादयोर्द्वयोः ॥१४७॥'

अर्थात्-जिस समय भगवान् पार्श्वनाथ को केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई थी तो उसी समय इंद्रादि देवों ने आकर केवलज्ञान की पूजा की और वह संवर नाम का ज्योतिषी देव भी कालादि लब्धि के प्राप्त होने से अत्यन्त शांत हो गया। उसने शुद्ध सम्यग्दर्शन धारण किया तथा उसे देखकर उस वन में रहनेवाले सात सौ तपस्वियों ने मिथ्यात्व छोड़कर संयम धारण किया, शुद्ध सम्यग्दर्शन स्वीकार किया और इन सब ने बड़े आदर से श्री प्रदक्षिणा देकर उन (भगवान) के दोनों चरण कमलों को प्रणाम किया।"

(उत्तपुराण पृ. ५७८)

यही बात उपरान्त के जैनाचार्य भी कहते हैं। सं. १४६४ में हुये श्री सकलकीर्तिजी भी लिखते हैं कि 'जिनेन्द्र रूपी भानु के उदय के होते ही साधु, मुनिश्वरों का संचार हो गया था और जटिलादि कुलिंगी ताप से जो थे वह तस्करों के समान विलीन हो गये थे।' ('जिनभानूदये संचरंति साधु मुनीश्वराः। तदा कुलिंगिनो मंदा नश्यंति तस्करा इव ॥१७॥२३॥) सं. १६५४ में श्रीचंद्रकीर्ति द्वारा रचित पार्श्वचरित में भी इस बात का समर्थन किया गया है। वहां लिखा है कि 'साधारण जनता ने प्रसन्न भाव से भगवान के उपदेशामृत का

पान किया था ।' (लोका: प्रसन्नभावेन पीताईद्वाक्सुधारा ।) श्री चंद्रीकर्तिजी के समकालीन श्वेताम्बराचार्य श्री भावदेवसूरि ने भी अपने 'पार्श्वनाथचरित' में अनेक मनुष्यों का भगवान के धर्म को ग्रहण करा लिखा है । (सर्ग ६. श्लो. २५६-२५७) अन्तत: कविवर श्रीभूधरदासजी भी भगवान के इस दिव्य प्रभाव का उल्लेख निम्न प्रकार करते हैं :-

वचन किरनसौं मोहतम, मिट्यौ महा दुखदाय ।
वैरागे जगजीव बहु, काल लब्धि बल पाय ॥

सम्यकदरसन आदर्यो, मुक्ति तरोवर मूल ।
संकादिक मल परिहरे, गई जन्मकी सूल ॥

तहां सातसै तापसी, करत कष्ट अज्ञान ।
देखि जिनेसुर संपदा, जग्यौ जथारथ ग्यान ॥

दई तीन परदच्छिना, प्रनमें पारसदेव ।
स्वामि-चरन संयम धर्यौ, निंदी पूरव देव ॥

धन्य जिनेसुरके वचन, महामंत्र दुखहंत ।
मिथ्यामत-विषधर-डसे, निर्विष होहिं तुरंत ॥'

(पार्श्वपुराण)

सर्वज्ञ कथित वाणी का प्रभाव सर्वव्यापी होना स्वाभाविक ही है । उसके समक्ष अल्प मतिवाले एकांत पक्षियों का अपने मार्ग में रहना कठिन है । भगवान पार्श्वनाथजी के उस समय की धार्मिक प्रगति पर यदि दृष्टि डाली जावे तो वहां से भी इस ही व्याख्या की पुष्टि होती है । उनके उपारन्त के प्रख्यात मत प्रवर्तकों में हम खास तौर पर हिंसा कार्य को दूसरी तरह से समर्थन करते हुये

पाते हैं । वह जीवात्मा और पाप पुण्य को मेटकर अपनी चिरग्रसित जिह्वा लंपटत की सिद्धि करते हुये पाये जाते है ।[१] इतने से ही कार्य नहीं चला था, बल्कि यह खास मत प्रवर्तक अपने मूल वानप्रस्थ धर्म से अलग होकर नये मतों का प्रचार करने लगे थे । आजीवक संप्रदायका जन्म इसी समय वानप्रस्थों में से हुआ था और उन्होंने भगवान के बताये हुए धर्म में से भी मुनि के दिंगबर भेष और पूर्वों में से कुछ अंश ग्रहण कर लिया था[२] । साधारण रीति से यहां पर इन खास मत प्रर्वतकों की चर्या पर एक दृष्टि डालकर यह देख लेना सुगम होगा कि सचमुच भगवान पार्श्वनाथ के उपेदश का प्रभाव उस समय दिगन्तव्यापी हो गया था ।

पिप्पलाद ऋषि की मान्यतायें :

भगवान् पार्श्वनाथजी के उपरान्त वैदिक धर्म में हमको पिप्पलाद नामक आचार्य का मुख्यता से पता चलता है । इनके सिद्धांतों का विवेचन 'प्रश्नोपनिषद्' में किया गया है । इनके छह समसामयिक ऋषि सुकेशस भारद्वाज, शैव्य, सत्य काम, सौर्यायनिन गार्ग्य, कौशल्य आश्वलाययन, भार्गव वैदर्भी और कयन्धिन कात्यायन थे ।[३] पिप्पलाद का समय बुद्ध से बहुत पहले खयाल नहीं किया जाता है, यद्यपि जैन हरिवंश पुराण में इनका उल्लेख याज्ञवलक्य के साथ किया गया है[४] किन्तु बौद्ध ग्रन्थों में महात्मा बुद्ध के एक अधिक वय प्राप्त समकालीन मत प्रवर्तक ककुड़ कात्यायन (पकुड़ कात्यायन) का उल्लेख मिलता है । यहां पर कात्यायन जो मुख्य नाम है वह पिप्पलाद के सम सामायिक ऋषि कबन्धिन कात्ययन का भी है और कबन्धिन एवं ककुड़ विशेषण एक ही भाव को प्रगट करने वाले बताये गये हैं ।[५] इस कारण पिप्पलाद कात्ययन से पहले हुये थे, जो बुद्ध का समकालीन था । दूसरे शब्दों

में जब पिप्पलाद की अवस्था अच्छी तरह भर चुकी थी तब कात्यायन युवावस्था में पग बढ़ा रहा था । इस दशा में भगवान् पार्श्वनाथजी के धर्मोपदेश के किञ्चित् बाद ही पिप्पलाद की प्रख्याति हुई स्वीकार की जा सकती है ।

अस्तु; इन ब्राह्मण ऋषि पिप्पलाद की गणना उमास्वाति आचार्य के तत्वार्थसूत्र की टीका में अज्ञानवाद (अज्ञानी कुदृष्टि:) में की गई है;[६] यद्यपि प्रश्नोपनिषद में वह एक मान्य ऋषि स्वीकार किये गये हैं; जो ब्राह्मण दृष्टि से ठीक ही है । पिप्पलाद ने ईश्वरवाद को जो नया रूप दिया था, वह उन पर किसी बाह्य प्रभाव को पड़ा व्यक्त करता है । उसका कहना था कि सृष्टि का सद्भाव प्रजापति से हुआ है जो सार्वभौमिक पुरुष (वैश्वानर पुरुष) अथवा सूर्य है जिसका स्वभाव अग्नि है । सृष्टि रचना करने की इच्छा करके प्रजापति ने अपने स्वभाव का ध्यान किया और उसके बल अपने शरीर में से एक जोड़ा (मिथुन) पुद्गल (रयि) और प्राण को उत्पन्न किया । इन्हीं से सृष्टि हो गई ।[७] यही दोनों- रयि और प्राण सांख्य मत के पुरुष और प्रकृति के समान ही हैं, जिनकी सदृशता जैन धर्म के जीव और अजीव भेद से बहुत कुछ है । एक दृष्टि से पिप्पलाद ने अपने उक्त मन्तव्य में भगवान् पार्श्वनाथ के उपदेश की नकल ही करनी चाही है । भगवान ने कहा था कि मूल में जीवात्मा ही अपना संसार आप बनाता है और स्वभाव अपेक्षा सब ही जीव एक से हैं । इसलिये रही स्वयं सृष्टि के रचयिता हैं, जिसमें पुद्गल और व्यवहार प्राणों की मुख्यता है । यही नहीं, वह यह भी कहता है कि प्राण (चेतना मई जीव) ही पुद्गल को एक नियमित शरीर का रूप देते हैं और जब वह उससे अलग होता है तब वह शरीर नष्ट हो जाता है ।[८] भगवान् पार्श्वनाथ ने पुद्गल मई शरीर से जीव का अलग होना और उसके अलग होने पर शरीर का विघटना बतलाया ही था । पिप्पलाद जो इस

प्रकार ईश्वरवाद को नये ढंग से जैन धर्म से सदृशता रखता हुआ, प्रतिपादन कर रहा है, वह भगवान् पार्श्वनाथ जी के धर्म प्रभाव के कारण ही कहा जा सकता है ।

पिप्पलाद से कौशल के आश्वलायन ने कतिपय प्रश्न किये थे । उसने पूछा था कि प्राणों की उत्पत्ति कहां से है ? वह शरीर में कैसे आते हैं ? शरीर को छोड़ कैसे जाते हैं ? इसी सम्बन्ध के उसने अनेक प्रश्न किये थे । पिप्पलाद ने इन प्रश्नों को बहुत ही कठिन एक 'अतिप्रश्न' बतलाये थे[९] तो भी यथाशक्ति उत्तर देते हुये उसने कहा था कि प्राणों की उत्पत्ति आत्मा से अथवा अपने निजी स्वाभाव (Inner esence) से होती है । जीवन में आत्मा उसी तरह है जिस तरह सूर्य में परछाई पड़ती है । ('आत्मना एष: प्राणो जायते । यथैव पुरुषे छाया एतस्मिन्नेतद् आततम् । प्रश्नोपनिषद ३।३।) आत्मा सम्राटवत् शरीर के मध्य हृदय में रहता है जिससे शरीर की १०१ नाड़ियां निकलती है।[१०] इन्हीं के द्वारा आत्म-सम्राट अपनी आज्ञाओं की पूर्ति इतर भागों से कराता है । यह आत्मा शरीर को मृत्यु से छोड़ जाती है । मरण समय और शायद जन्मते समय भी इंद्रिय जनित ज्ञान (Sense-faculties) मन में केन्द्री भूत रहता है । आत्मा इंद्रिय जनित ज्ञान से स्वतंत्र और ज्ञान मय होकर अपने पूर्व संकल्पित अच्छे, बुरे या मिश्रित लोक (यथासंकल्पितम् लोकम्) को जाता है । अपने ही प्रकाश से वह मार्ग देखता है और अपने प्राणों को शक्ति से यह ले जाया जाता है ।[११] आत्मा अथवा पुरुष को उसने शुद्ध उपयोगमई (विज्ञानात्मा) माना था[१२] किन्तु उसने अपने खास शब्दों को इतना अस्पष्ट कहा है कि उनका अर्थ लगाना भी मुश्किल है । तो भी उसने पुरुष के लिये प्राण, प्रकृति के लिए रयी व्यक्त से

लिये मूर्त और अव्यक्त के लिये अमूर्त आदि शब्द बिल्कुल नये नये ही व्यवहृत किये थे ।[१३]

इस सब का कारण भगवान् पार्श्वनाथ के धर्मोपदेश का दिगन्त व्यापी होना कहा जा सकता है क्योंकि भगवान् पार्श्वनाथ ने बतला दिया था कि निश्चय से आत्मा का निज स्वभाव-चेतना लक्षण ही प्राण है परन्तु व्यवहार अपेक्षा उन्होंने इंद्रियादि दश प्राण बतला दिये थे, जिनका प्रादुर्भाव आत्मा पर ही अवलंबित था और इसी भाव को पिप्पलाद भी दर्शाने की कोशिश करता है, परन्तु वह अपनी असमर्थता पहले ही स्वीकार कर लेता है । आत्मा को जीवन में परछाई रूप अर्थात् पूर्ण व्यक्त न मानना भी ठीक है, क्योंकि भगवान् पार्श्वनाथजी ने लोगों को बतला दिया था कि सांसारिक जीवन में आत्मा अपने असली रूप में पूर्ण व्यक्त नहीं रहता है । मृत्यु समय आत्मा का शरीर को छोड़कर अपने संकल्पित-निदान किये हुये स्थान पर जन्म लेते बतलाना भी एक तरह से ठीक है; परन्तु आत्मा का शरीर के मध्य हृदय में बिराजमान रहते कहना आदि बातें उसकी निजी कल्पना है । हां, मरणोपरान्त मार्ग में आत्मा अपने ही बल से जाता है यह ठीक है । उसके प्राणों की शक्ति पूर्व संचित कर्म वर्गणाओं की सदृशता रखती हैं . वह प्राण, मूर्त, अमूर्त आदि नये शब्द व्यवहार में ला रहा है, वह भी हमारे कथन के समर्थक हैं; क्योंकि यह शब्द जैन धर्म के खास शब्द (Technical Terms) हैं ।

अतेव पिप्पलाद के इस सैद्धांतिक विवेचन से यह स्पष्ट है कि उसने पुरातन वैदिक मन्तव्यों की भगवान् पार्श्वनाथ के धर्म के सादृश्य बनाने के लिये, उक्त प्रकार प्रयत्न किया था, जिसको जैनाचार्य अज्ञान मिथ्यात्व में परिगणित करते हैं । यह भगवान पार्श्वनाथ के प्रभाव को स्पष्ट करता है ।

पिप्पलाद ने स्वप्न की परमोच्च ध्यान मग्न अवस्था में पहुंचकर आत्मा का 'पर अक्षर आत्मा' अर्थात् परमात्मा हो जाना भी स्वीकार किया है। जिस समय स्वप्न मग्न दशा में सब संकल्प-विकल्प थम जाते हैं और आत्मा परमात्म-दशा (Divine State) को प्राप्त हो जाता है। इसलिये उसने सबका उद्देश्य एक परमात्मा माना था, जो उसके निकट अशरीरी, अवर्णी और प्रकाशमान है। वह यह भी कहता है कि जो कोई उस परमात्मा को जान लेता है वह सर्वज्ञ हो जाता है। यहां बिल्कुल ही भगवान् पार्श्वनाथजी के सिद्धान्त की नकल की गई है। सचमुच शुरू से आखिर तक पिप्पलाद जीवात्मा को अपने ही बल से परमात्म पद प्राप्त करने को स्पष्ट करने के लिए प्रयत्न करता नजर आता है। उसने पुरातन वैदिक धर्म को भगवान के धर्मोपदेश से सदृशता लाने के लिये स्पष्टत: प्रयत्न किया था और यह इसीलिये आवश्यक था कि भगवान् पार्श्वनाथजी का धर्मोपदेश उस समय बहु प्रचलित हो रहा था।

ऋषि भारद्वाज और मुण्डकोपनिषद

पिप्पलाद ने साथ ही दूसरे प्रख्यात् वैदिक ऋषि भारद्वाज हमें मिलते हैं, जिनका सिद्धान्त 'मुण्डकोपनिषद्' में गर्भित है। इनका अस्तित्व भी बौद्ध धर्म की उत्पति से पहले[१४] अर्थात् भगवान् पार्श्वनाथजी के तीर्थ में एक स्वतंत्र 'मुण्डक' संप्रदाय के नेता रूप में मिलता है। बौद्धों के 'अङ्गतरनिकाय' में इनके मत की गणना 'मुण्डकसावक' के नाम से एक अलग संप्रदाय में की गई है[१५]। जैन राजवार्तिक में इन्हें क्रियावादी बतलाया गया है[१६]। मुण्डकों ने अपने को ब्राह्मण ऋषियों से, जो वन में रहते, तप तपते और पशु यज्ञ करते थे, एवं गृहस्थाश्रमी विप्रों से पृथक् करने के लिये अपना वह संप्रदाय अलग स्थापित किया था। वे शिर मुड़ाकर भिक्षावृत्ति से उदर पोषण करते थे।[१७] वह जाहिरा

जटाधारी ब्राह्मण ऋषियों से अलग थे, परन्तु मूल में वह पूर्णतः वेद विरोधी नहीं थे । उन्होंने इनमें से मध्यपुरुष का स्थान ग्रहण किया था । भारद्वाज मुंडे सिर रहने से 'मुण्ड' नाम से प्रख्यात् हुआ अनुमान किया जाता है और उसके शिष्य 'मुण्ड श्रावक' कहलाते थे ।[१८] यहां पर इस तरह एक अलग संप्रदाय स्थापित करने का कोई कारण भी अवश्य होना चाहिये ।

साधारणः कोई कारण दिखाई नहीं पड़ता, सिवाय इसके कि भगवान् पार्श्वनाथजी के धर्मोपदेश का प्रभाव यहां भी कार्यकारी हुआ हो ! भगवान के बताये हुये श्रावक मार्ग में सातवीं ब्रह्मचर्य प्रतिमा के धारी श्रावक सिर भी मुंड़ाते हैं और भिक्षावृत्ति से ब्रह्मचर्य पूर्वक रहकर जीवन बिताते हैं और आठवीं प्रतिमा में पूर्णतः आरम्भ त्यागी हो जाते हैं । उपरोक्त मुण्डक संप्रदाय के भिक्षुओं का जीव भी इसी तरह का था और उनका निकास ब्रह्मचारियों में से हुआ कहा भी जाता है तथापि जो उनके साथ 'श्रावक' शब्द लगा हुआ है, वह स्पष्ट प्रकट कर देता है कि इस संप्रदाय की उत्पत्ति भगवान् पार्श्वनाथ के बताये हुये गृह त्यागी श्रावकों के अनुरूप में हुई थी । यही कारण है कि एक विद्वान् ने इसकी गणना जैन संप्रदाय के अंतर्गत ही अनुमान की है ।[१९] साथ ही जब हम इनके सिद्धान्तों पर दृष्टि डालते हैं तो वहां भगवान् पार्श्वनाथ के धर्मोपदेश का प्रभाव पड़ा हुआ पाते हैं ।

भारद्वाज ने पहले ही परमात्मा अर्थात् ब्रह्म को गोत्र रहित और वर्ण हीन (अगोत्र अवर्णः) माना था[२०] और इस तरह पर अपने भगवान् पार्श्वनाथजी के अनुसार ही धर्म में जाति और कुल मद का खुला प्रतिकार किया था । यद्यपि अधिकांश बातों में उसका मत याज्ञवल्क्य के समान था, पर उसने बहुत सी ब्राह्मण क्रियायों का विरोध न केवल बुद्धि से और न अधिक अध्ययन करने से

हो सकती है, जिसको अपने आप (Self) चाहता है उसी से उसकी प्राप्ति हो सकती है । .... और न इसकी प्राप्ति उसको हो सकती है जो बलहीन, अविचारी और उचित ध्यान को नहीं करनेवाला है । यह तब ही संभव है जब एक बुद्धिमान पुरुष बलवान्, विचारवान् और ध्यान मग्न होकर इसके पाने का प्रयास करता है कि वह अपने को ब्राह्मण की संगति में पाता है ।'' (मुण्डकोपनिषद्[२१] । २ ३ -४ ''नायम आत्मा प्रवचनेन लभ्यो, न मेधया.... नायम् आत्मा बलहीनेन लभ्यो, न च परमादात तपसो वार्प्यालिविगात् .....एष आत्मा विशाते ब्रह्मधामा'')

भारद्वाज ने विद्या दो तरह की मानी थी (१) परा और (२) अपरा । दूसरी अपराविद्या में उसने चार वेदों और छह वैदिक ज्ञानों का गृहण किया था और परा (Higher or Transendertal) विद्या में केवल उसको माना था जिससे 'अक्षर' (Undercaying) की प्राप्ति होती है ।[२२] इस तरह उसने यद्यपि वेदों को स्वीकार किया था; परन्तु ब्रह्म-धाम-परमात्मपद को पाने के लिये उनको आवश्यक नहीं समझा था और अठारह प्रकार के यज्ञों को भी सारहीन माना था । ठीक इसी तरह का विरोध भगवान् पार्श्वनाथ के प्राकृत धर्मोपदेश से स्वयं हो चुका था । तिसपर भारद्वाज जो यह कहता है कि 'जो अपने मन में इच्छाओं को रखता है वह अपनी इच्छाओं के अनुसार यहां-वहां जन्म धारण करता है; परन्तु जिसकी इच्छायें पूर्ण हो चुकी हैं उसे अपने सच्चे 'आपा'की प्राप्ति हो चुकी है । इस जन्म में इच्छाओं का नाश हो सकता है ।''[२३] इसमें स्पष्ट वह भगवान् पार्श्वनाथजी के उपदेश को ही दुहरा रहा है और यह भगवान के दिव्य उपदेश के प्रभावशाली होने में प्रकट साक्षी है ! जहां पहले के वैदिक ऋषियों ने विवाह कार्य मुख्य माना था, वहां भारद्वाज ब्रह्मचर्य पर जोर देता है ।

यह इसी कारण कहा जाता है कि भगवान् पार्श्वनाथ ने केवल अपने धर्मोपदेश से ही नहीं बल्कि अमली जीवन से ब्रह्मचर्य का महत्त्व दिगन्तव्यापी बना दिया था । भारद्वाज एकान्त दृष्टि से प्रतिबोध द्वारा (प्रतिबोध-विदितं) ही ब्रह्म (परमात्मा) को जान लेना मानता था । योग को ही वह ब्रह्म को पाने के लिये आवश्यक समझता था । इस तरह पर मुण्ड श्रावक संप्रदाय का निकास भगवान् पार्श्वनाथ के धर्मोपदेश के प्रभाव अनुरूप हुआ प्रकट होता है ।

डॉ. हर्टल भी स्वतंत्र रूप से इसी निष्कर्ष पर पहुंचे है कि मुण्डकोपनिषद् के ऋषियों ने अपने विचार जैन सिद्धान्त से लिये थे । वह 'मुण्डकोपनिषद्' के कर्ता का नाम भारद्वाज के स्थान पर अंगरिस बतलाते हैं । संभव है कि अंगरिस का गोत्र भारद्वाज हो और उसी अपेक्षा डॉ. बारूआ ने उनका उल्लेख उक्त प्रकार किया हो । डाक्टर साहब अंगरिस की मान्यता को जैन धर्मानुसार बताते हैं; जैसे वह लोक की आकृति को पुरुषाकार मानता था और इस पुरुष रूपी लोक के मध्य भाग में मनुष्य लोक; इसके ऊपरवाले हिस्से में ब्रह्म स्वर्ग लोक और ब्रह्म स्वर्ग लोक से ऊपर 'परमं साम्यम्' अर्थात् मुक्ति स्थान मानता था । वह कहता था कि जो मनुष्य यहां बहुत अच्छे अच्छे काम करके विशेष पुण्य संचय करता है, वह मनुष्य सूर्य्य होकर ब्रह्म लोक में जन्म लेता है और वहां उत्तम भोगोपभोग भोगता हुआ शुद्ध आनन्द में जीवन व्यतीत करता है । किन्तु ब्रह्म लोक को प्राप्त हुआ आत्मा जब तक इच्छा रहित नहीं होता है और पूर्व संचित कर्म अवशेष रहता है, तब तक उसकी मुक्ति नहीं होती, उसे संसार में फिर आना पड़ता है । अंगरिस को दृढ़ विश्वास था कि जब तक आत्मा राग द्वेष रहित नहीं होता, तब तक उसे अवश्य संसारमें रहना पड़ेगा फिर वह वेदों में बताई हुईं सारी क्रियायों को भले ही करे ! किन्तु इसके साथ ही वह कहता था

कि जिस व्यक्ति की आत्मा कर्मों की निर्जरा कर डालता है और राग द्वेष रहित व पवित्र होता है; तथा जो सदा तपस्या करता हुआ एकान्त में रहता है व जीवनयापन भिक्षा से करता है और जिसके पास सम्यक्ज्ञान है, वह आत्मा मुक्ति लाभ करता है । वहां से वह कभी लौटकर नहीं आता ।

अंगरिस की इन मान्यताओं का सादृश्य जैन धर्म में निर्णित । मोक्षमार्ग से बिल्कुल स्पष्ट नजर पड़ता है । दोनों ही सिद्धांतों के अनुसार यह लोक पुरूष रूप है और सनातन है । (मुण्डक उपनिषद "अज:" यह विशेषण प्रयुक्त करता है) अंगरिस उस लोक में ब्रह्म लोक को आनन्द की एक जगह मानता है किन्तु सर्वोत्तम स्थान मोक्ष ही स्वीकार करता है ।

जैन धर्म में भी ब्रह्म एवं अन्य स्वर्ग ऐसे ही आनन्दमई स्थान माने गये हैं और उसमें भी मोक्ष ही सर्वोत्तम स्थान माना गया है । किन्तु जैन धर्म में स्वर्ग से मुक्ति होना स्वीकृत नहीं है । यह दोनों मतों के अनुसार ठीक है कि राग, द्वेष और कर्म रहित आत्मा मुक्ति लाभ करता है तथा मोक्षमार्ग में तपस्या एक वास्तविक उपाय है । साथ ही 'मुण्डकोपनिषद' में बहुत से ऐसे शब्द प्रयुक्त हुये हैं जो जैन सिद्धान्त में पारिभाषिक शब्दों के समान व्यवहृत हैं; यथाकर्म, निर्वेद, वीतराग, सम्यक् ज्ञान, निर्ग्रंथ, इत्यादि ।

निर्ग्रंथ शब्द जैन साधु का द्योतक है । जैन साधुओं की तरह मुण्डकोपनिषद में भी केशलोंच करने जैसा विधान है:- 'शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णं ।' इन सादृश्यों को देखने एवं जैन ग्रंथ 'पउमचरिय' में अंगरिस को भ्रष्ट जैन मुनि बताने से, यह स्पष्ट है कि 'मुण्डकोपनिषद' में जिस शिक्षा का समावेश है, वह अवश्य ही जैन धर्म से ली गई है । (देखो 'धर्मध्वज' - विशेषांक वर्ष ५ अंक १ पृ. ९-१०)

कठोपनिषद का नचिकेता और उसकी मान्यतायें

उपरान्त नचिकेतस् द्वारा 'गोतमक सिद्धान्तों की उत्पत्ति हुई थी । यह भी भारद्वाज के सम सामयिक व्यक्ति थे । नचिकेतस ने विवाह, तप और यज्ञवाद को स्वीकार किया था; परन्तु उनका भाव प्राचीन ऋषियों से विलक्षण माना था। वह प्राचीन यज्ञवाद से स्वर्ग की प्राप्ति होना मानता था, परन्तु उनसे अमर जीवन को पाना अस्वीकार करता था । उसके निकट यज्ञ का भाव ज्ञानयज्ञ था; जिसमें इन्द्रियनिग्रह करना और ध्यान को बढ़ाना मुख्य था । वह व्यक्ति (Being) को अजन्मा और अमर बतलाता था । वह कहता था कि न उसकी शून्य से उत्पत्ति हुई है और न कुछ उससे उत्पन्न हुआ है । व्यक्ति अजन्मा, अनादि निधन और प्राचीन है । शरीर के साथ उसका नाश नहीं होता । यदि हिंसक यह समझता है कि मैं मारता हूं और मारनेवाला समझता है कि मैं मारा जाता हूं, तो दोनों मूढ़ हैं; न एक मारता है और न दूसरा मरता है ।.... जिसने पाप कर्म से अपने को दूर करके शांत नहीं बनाया है और जिसने इन्द्रिय निग्रह नहीं किया है अथवा जिसका मन स्थिर नहीं है वह व्यक्ति (Being) को ज्ञान से भी नहीं पा सकता है । (कठोपनिषद १/२/१८) योग ही उसको पाने का द्वार है, जिसका मुख्य भाव इन्द्रिय निग्रह से था । (स्थिर इन्द्रिय-धारणं)

इस तरह नचिकेतस ने भगवान पार्श्वनाथजी के बताये हुए निश्चय नय से किंचित् आत्म-लाभ प्राप्त करने का उपाय बतलाया था और वह एकांत पक्ष से पूर्णतः सैद्धान्तिक विवेचन करने को असमर्थ प्रतीत होता है ! परन्तु उसकी इस शिक्षा से लोगों ने उल्टा ही मतलब निकाला था और उपरांत हिंसाकांड वृद्धि पर हो गया था; क्यों कि लोगों को यह धारणा हो गई कि हिंसा करने से जीव का कुछ नहीं बिगड़ता है । अस्तु; यहां भी साधारणतः भगवान पार्श्वनाथजी

के धर्मोपदेश का प्रभाव पड़ा नजर पड़ता है । भगवान के धर्मोपदेश को उपरांत उनकी शिष्य परंपरा सर्वत्र प्रचलित करती रही थी, यह हम आगे देखेंगे ।

पूरणकश्यप का अक्रियावाद

नचिकेतस के इस सिद्धान्त को ही उपरान्त पूर्णकाश्यप ने भी स्वीकार किया था[२५] । उसका कहना था कि जब हम स्वयं कोई कार्य करते हैं अथवा दूसरों से कराते हैं तो उसमें आत्मा न कुछ करता है और न दूसरे से कराते हैं । आत्मा तो निष्क्रिय है । इस दशा में जो कुछ हम पाप-पुण्य करते हैं, उसका संसर्ग आत्मा से कुछ भी नहीं है।[२६] इसीलिये सूत्रकृताङ्ग[२७] और सामन्नफलसुत्त में उसके मत की गणना 'अक्रियावाद'में की गई है । इस सिद्धान्त में भी भगवान् पार्श्वनाथ के धर्मोपदेश की ही झलक दृष्टि पड़ रही है; जैसे कि नचिकतस् के सिद्धान्त से भी व्यक्त होता हम देख चुके हैं । निश्चय में भगवान् पार्श्वनाथ ने आत्मा को सांसारिक क्रियाओं से विलग एक विशुद्ध द्रव्य माना था । जिससे पाप पुण्य का कोई संबंध नहीं था । यही भाव एकान्त से पूर्णकाश्यप ने दर्शाया है । वह स्वयं एक जैन मुनि था । श्रीदेवसेनाचार्य ने (ई.९. वी शताब्दि) अपने ''दर्शनसार'' ग्रन्थ में इनको मक्खाली गोशाल के साथ भगवान् पार्श्वनाथजी की शिष्य परम्परा का एक मुनि लिखा है जो उपरान्त भृष्ट हो गये थे ।[२८] इनका साधु भेष भी इस बात का समर्थक है । वह भगवान पार्श्वनाथ के तीर्थ के जैन मुनियों की तरह 'अचेलक' (नग्न) रहते थे।[२९] इसी कारण उनकी प्रख्याति अचेलक रूप में थी और बहुत से लोक उनके संप्रदाय को अचेलक समझते हैं; परन्तु यह भ्रम है । अचेलक नाम का कोई सम्प्रदाय-विशेष प्राचीन भारत में नहीं था । 'अचेलक' शब्दका व्यवहार उस काल में सब ही संप्रदाय के नग्न साधुओं के लिये होता था; तिस पर जैन

साधुओं के लिये यह विशेषतः प्रयोजित किया जाता था। अस्तुः जैन मुनि दशा से भृष्ट होकर पूणङ्काश्यपक अपने मूल विश्वास को विकृत रूप देना स्वाभाविक ही था; क्योंकि उस पर भगवान् पार्श्वनाथ के धर्मोपदेश का खासा प्रभाव पड़ चुका था । पूर्णकाश्यप का सम्बन्ध आजीविक संप्रदाय से रहा था, ऐसा प्रतीत होता है । उसकी मृत्यु ईसा से पूर्व ५७२ वें वर्ष में हुई अनुमान की जाती है ।[३०]

पकुद कच्चायन

इनके बाद पकुद कात्यायन (पकुढ काच्चायन) को ले लीजिए । यह महात्मा बुद्ध के पहले हो चुके थे, और ब्राह्मण थे, यह प्रकट है।[३१] बुद्धोघोष ने लिखा है कि कात्यायन शीतजल को व्यवहार में नहीं लाता था और आवश्यक्तानुसार उष्ण जल को काम में लेता था[३२] । वह शांत जल में जीव मानता था । यहां भी भगवान् पार्श्वनाथजी के मन्तव्य के स्पष्ट दर्शन होते हैं । उन्होंने शीत जल में जीव बतलाया था और जैन मुनियों को उसका व्यवहार में लेना मना था, यह बौद्ध ग्रंथों से भी प्रकट हैं,[३३] तथापि उसने काय, सुख, दुःख, जीव आदि शब्द व्यवहार में लिए थे[३४] और ये मूल में जैन शब्द ही हैं । साथ ही जो उसकी मानता थी, वह भी भगवान् पार्श्वनाथ के उपदेश के सदृशता रखती है । उसका मत था कि 'असत्ता में से कुछ भी उत्पन्न नहीं होता और जो है उसका नाश नहीं होता ।' भगवान पार्श्वनाथ ने भी लोक के पदार्थों का ऐसा ही स्वरूप बतलाया था; जिसको उनके उपारन्त कात्यायन विकृतरूप देता प्रतीत होता है । इन्हीं तत्त्वों के अनुरूप उसने पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, सुख, दुख और जीव यह सात तत्त्व स्वीकार किये थे ।[३५] वह इन्हीं सात के मिलने और बिछुड़ने से जीवन व्यवहार मानता था । तत्त्वों की संख्या ठीक

सात मानना भी उस समय भगवान् पार्श्वनाथ के बताए हुये सात तत्वों की प्रधानता का ही द्योतक है; वरन् उनकी ठीक सात संख्या मानना आवश्यक न थी । इन तत्त्वों का मिलन वह सुख तत्त्व के कारण और विच्छेद दुख तत्त्व के हेतु से बतलाया था । इस अवस्था में वह इनका पारस्परिक प्रभाव एक दूसरे पर पड़ता स्वीकार नहीं करता था, जिससे किसी व्यक्ति को खास नुकसान पहुंचाना भी मुश्किल था । इसलिये उसके निकट किसी जीव को मारना कुछ विशेष महत्व न रखकर केवल व्यवस्थित तत्त्वों को अलग कर देना था;[३६] जिसमें पाप-पुण्यका भय ही नहीं था।

सचमुच प्रतरदान नचिकतेसद और पूर्णकाश्यप का भी ऐसा ही विश्वास था । भगवद्गीता में भी यह भाव प्रगट किया गया है ।[३७] आत्मा को अमर मानते हुये उसके मूल भाव में यह उद्गार कहे प्रतीत होते हैं, परन्तु इनके बल हिंसावाद की पुष्टि करना अनुचित क्रिया है । इसी कारण इन विधर्मियों को 'तत्त्वार्थराजवार्तिक' में प्राणिवध में पापबंध का कारण नहीं है,' इस मान्यतावाला बतलाया है ।[३८] (न हि प्राणिवधः पापहेतुर्धर्मसाधनत्वमापत्तुर्महति ॥१२॥ १।८।) इस प्रकार कात्यायन के समय में भी भगवान पार्श्वनाथ के धर्म का प्रभाव कार्यकारी था, यह स्पष्ट है । उनके उपदेश से वातावरण क्षुभित हो गया था इसमें संशय नहीं और यह विदित ही है कि उनकी शिष्य परम्परा महात्मा बुद्ध के समान विद्यमान थी, जैसे कि हम देखेंगे ।

अजित केषकम्बलि

उसी समय के एक अन्य मत प्रवर्तक अजित केषकम्बलि भी भगवान् पार्श्वनाथ के धर्मोपदेश के प्रभाव से अछूते नहीं बचे थे; यह उनके सिद्धान्तों से

स्पष्ट है । वह वैदिक क्रियाकाण्ड के कट्टर विरोधी थे और पुनर्जन्म सिद्धान्त को अस्वीकार करते थे । यज्ञ, बलिदान, श्राद्ध आदि को वह अनावश्यक बतलाते थे । कहते थे कि मृतक पुरुषों को भोजन पहुंचाना संभव है तो फिर परदेश गये हुये व्यक्ति को भी उसी तरह भोजन पहुंच जाना चाहिए, परन्तु यह होता नहीं, इसलिए श्राद्ध आदि क्रियाकाण्ड वृथा हैं । साथ ही वह इंद्रिय निग्रह और ध्यान को भी आवश्यक नहीं मानता था । वर्तमान को छोड़कर भविष्य सुख की आशा करने पर वह विश्वास नहीं करता था।[३९] लोक को वह पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु का समुदाय मानता था और आत्मा को पुद्गल का कीमियाई ढंग का परिणाम बतलाता था । इन चारों वस्तुओं के विघटते ही आत्मा भी विघट जाता है, यह वह कहता था । इसीलिये वह जीवात्मा और शरीर को एक ही मानता था और प्राणियों की हिंसा करना बुरा नहीं समझता था ।[४०] इसकी इस शिक्षा में भी जैन सिद्धांत के व्यवहार नय अपेक्षा आत्मा और पुद्गल के संमिश्रण का विकृत रूप नजर आता है । भगवान् पार्श्वनाथ ने इस सिद्धांत का प्रतिपदान किया था, उसी को विकृत रीति से प्रगट करने का प्रयास अजित ने अपने उक्त सिद्धांत में किया है ।

इस तरह यहां भी पार्श्वनाथजी के धर्मोपदेश का प्रभाव दृष्टि पड़ रहा है सारांशत: हम उस समय के सैद्धांतिक अथवा धार्मिक वातावरण में जैन धर्म का खासा प्रभाव पड़ा स्पष्ट देखते हैं । विद्वानों का भी यह मत है कि उपरोक्त मत प्रवर्तकों पर अवश्य जैन धर्म का प्रभाव पड़ा था, स्व. मि. जेम्सडेऽल्विस महोदय का वक्तव्य है कि महात्मा बुद्ध के समय में भी 'दिगंबर' एक प्राचीन संप्रदाय समझा जाता था और उपोरल्लिखित मत-प्रवर्तकों के सिद्धांतों पर जैन धर्म का प्रभाव पड़ा नजर पड़ता है ।[४१] प्रो. डॉ. हर्मन जैकोबी भी वही कहते हैं

कि तीर्थ को (पूर्णकाश्यप, कात्यायन आदि) ने उन सिद्धांतों और क्रियायों को अपना लिया था जो जैन मत में मिलतीं और संभवत: यह उन्होंने स्वयं जैनों ही से ले लीं थी ।.... यह भी प्रगट है कि महावीर के समय में भी जैन धर्म विद्यमान था और सो भी उनसे स्वाधीन रूपमें । इससे एवं अन्य कारणों से यह प्रगट है कि निर्गंथ अर्थात् जैन धर्म भगवान महावीर से बहुत पहले से प्रचलित था ।[४२] अस्तु; इस दशा में हम जैन ग्रन्थों के उल्लेखों को सार्थक पाते हैं और भगवान् पार्श्वनाथजी के उपदेश का महत्त्व और प्रभाव सुगमत: हृदयंगम कर लेते हैं । सचमुच भगवान् के धर्मोपदेश का प्रभाव देखकर कवि का निम्न पद्य सोलह आने चरितार्थ हो जाता है -

''आतम रसीको है सुधारसको कुण्ड 'वृन्द',
सम्यक् महीरुहको मूल छहरात है ।
सकल समाज शिवराजको अजज्ञ जामें,
ऐसा जैन बैनको पताका फहरात है ।।''

सन्दर्भ

१ - भगवान महावीर और म. बुद्ध पृ. १६-२८ ।
२ - भगवान महावीर पृ. १६३ और वीर वर्ष ३ अंक ११-१२ ।
३ - प्रश्नोपनिषद् १।१।
४ - हरिवंशपुराण पृ. २४९ ।
५ - प्री. बुद्धिस्टिक इन्डियन फिलासफी पृ. २२६-२२७ ।
६ - राजवार्तिकजी (८।१) पृ. २९४ ।
७ - प्री. बुद्धि. इन्डि. फिला. पृ. २२८ ।
८ - पूर्व. पृ. २२९
९ - प्री. बुद्धिस्टिक इन्डियन फिलासफी पृ. २३१ - २३२ ।
१० - पूर्व. पृ. २३२ ।
११ - पूर्व. प. २३३ ।
१२ - पूर्व. पृ. २३५ ।
१३ - पूर्व. पृ. २३३ ।

१४ - पूर्व. पृ. २३६ ।
१५ - पूर्व पृ. २३९ - २४० ।
१६ - डॉयलॉग्स ऑफ दी बुद्ध, भाग २ पृ. २२० ।
१७ - राजवार्तिक (८।१) पृ. २९४ ।
१८ - प्री-बुद्धि. इन्डि. फिला. पृ. २४० ।
१९ - पूर्व पृ. २४२ - २४३ ।
२० - डायोलॉग्स ऑफ दी बुद्ध, भाग २ पृ. २२१ ।
२१ - प्री. बुद्धि. स्टिक इन्डि. फिलॉसफी पृ. २५३ ।
२२ - पूर्व. पृ. २५४
२३ - पूर्व. पृ. २५५ ।
२४ - पूर्व. पृ. २६५ ।
२५ - पूर्व. पृ. २६९ ।
२६ - पूर्व. पृ. २७३ ।
२७ - पूर्व. पृ. २७५ ।
२८ - पूर्व. पृ. २७९ ।
२९ - पूर्वप्रमाण ।
३० - सू. कृ. १।१।१।१३ ।
३१ - दर्शनसार गाथा १७६ ।
३२ - प्री. बुद्धि इन्डि. फिला. पृ. २७७ ।
३३ - वीर वर्ष ३ अंक ११-१२ ।
३४ - प्री. बुद्धि. इन्डि. फिला. पृ. २७७ ।
३५ - पूर्व. पृ. २८१ - २८२ ।
३६ - सुमंगलविलासिनी भाग १ पृ. १४४ ।
३७ - पूर्व. पृ. १६८ ।
३८ - प्री. बुद्धि. इन्डि. फिला. पृ. २८५।
३९ - सूत्रकृताङ्ग २।१।२२।
४० - जैनसूत्र (S.B.E.) भाग २ भूमिका XXIV
४१ - प्री. बुद्धि. इन्डि. फिला. पृ. २८६ ।
४२ - गीता २।१६-२४ ।
४३ - राजवार्तिक पृ. २९४ ।
४४ - प्री. बुद्धि. इन्डि. फिला. पृ. २८९ ।
४५ - भगवान महावीर और महात्मा बुद्ध पृ. २५ ।
४६ - इन्डियन एण्टीक्वेरी भाग ९ पृ. १६१ ।
४७ - पूर्व. पृ. १६२ ।

❑

तीर्थंकर पार्श्वनाथ के प्रमुख शिष्य

'गणीशा दस तस्यासन् विधायादिं स्वयंभुवं ।
सार्द्धानि त्रिशतान्युक्ता मुनीन्द्राः पुर्वधारिणः ॥

यतयो युतपूर्वाणि शतानि नव शिक्षकाः ।
चतुः शतोत्तरं प्रोक्ताः सहस्रमवधित्विषः ॥

सहस्रमतिमज्ञानारतांबनो विक्रियर्द्धिकाः ।
शतानि सप्त पंचाशच्चतुर्थावगमाः स्मृताः ॥

वादिनः षट्शतान्येव ते सर्वेषि समुच्चिताः ।
अभ्यर्णीकृतनिर्वाणाः स्युः सहस्राणि षोडश ॥'

– उत्तरपुराण

भगवान् पार्श्वनाथजी का तीर्थ सर्वमान्य हो गया ! ग्राम ग्राम और नगर पत्तनों में उन भगवान् का अहिंसामई और अव्याबाध सुख का संदेश व्याप्त हो गया ! हर दश और हर परिस्थिति के लोगों को अपने अपने मन्तव्यों का प्रगट बोध हो गया ! कोई स्थान और कोई देश ऐसा बाकी न बचा जिसमें भगवान् के दिव्य संदेश ने अपना प्रभाव दिगन्त व्यापी न बना लिया हो ! इसी अनुरूप उन भगवान् के प्रभावशाली प्रमुख शिष्य हजारों की संख्या में थे । ये सभी शिष्य गृहत्यागी और परोपकारी महापुरुष थे । इनसे वेष्टित होकर भगवान् पार्श्वनाथ ऐसे ही शोभित हो रहे थे जैसे तारिका मण्डल में चन्द्र मन को हरने वाला होता है । यही नहीं कि इन शिष्यों द्वारा भगवान् की ही शोभा और गौरव बढ़ रहा हो उनके तो गुण स्वभावतः निर्मल और प्रकर्षरूप थे । किन्तु अनेकों भव्य पुरुषों

का कल्याण इनके द्वारा हुआ था । इनसे भारत का गौरव बढ़ा था । अहिंसामई सार्व प्रेम और आत्मिक भाव इन्हीं के सत्प्रयत्नों से अपना अपना प्रखर प्रकाश यह फैला रहे थे । विश्व प्रेम की उमंग हर हृदय में लहर मारने लगी थी । इसमें मुख्य कारण भगवान् पार्श्वनाथजी का धर्मोपदेश ही था; किन्तु उनके प्रमुख शिष्य भी उसमें प्रधान कारण थे ।

गुणभद्राचार्य जी कहते हैं कि ''भगवान् पार्श्वनाथ के समवशरण में स्वयंभुव आदि को लेकर दश गणधर थे, ग्यारह अंग और चौदह पूर्व को धारण करने वालों की संख्या तीन सौ पचास थी । दस हजार नौ सौ शिक्षक मुनि थे और एक हजार चार सौ अवधिज्ञानी थे । इसी प्रकार एक हजार केवल ज्ञानी थे, एक ही हजार विक्रिया ऋद्धि को धारण करने वाले थे । सातसौ पचास मन:पर्यय ज्ञानी थे और छह सौ वादी थे । इस प्रकार शीघ्र ही मुक्त होनेवाले सब मुनियोंकी संख्या सोलह हजार थी ।''[१] यह सब ही महान् ऋषिगण सर्वत्र विचरकर प्राणियों को अभयदान देते हुये उनको आत्मपंथ का मार्ग दर्शाते थे । उस समय के भव्य जीवों को इनके सन्त समागम में विशेष पुण्यसंचय करने का अवसर प्राप्त था । बौद्ध शास्त्रों में हमें इन्हीं जैन ऋषियों का उल्लेख परोक्षरूप में हुआ मिलता है । उनके 'ब्रह्मजालसुत्त' में पहली से चौथी आलोचना तक जिन प्राचीन ऋषियों के मन्तव्यों का जिकर है वह जैन दृष्टि से जैन मुनियों की मान्यता के अनुसार आत्मा के निश्चय और व्यवहार रूप को लक्ष्य करके लिखा गया है । किन्हीं ऋषियों को वहां संख्यात पूर्व भव बतलाकर आत्मा और लोक का कथंचित् नित्यत्व और अनित्यत्व स्वरूप सिद्ध करते प्रगट किया गया है । यह कथन केवलज्ञानी और अवधिज्ञानी मुनियों से लागू है जो श्री पार्श्वनाथजी की शिष्य परम्परा में महात्मा बुद्ध से

पहले इसी प्रकार आत्मा और लोक की सिद्धि करते थे । तथापि जो इन्हीं बातों को तर्कवाद से सिद्ध करते हुये बताये गये हैं, वह भगवान् पार्श्वनाथ के वादी मुनियों को लक्ष्य करके कहा गया प्रतीत होता है ।[2]

इस तरह यह ऋषिगण केवल वर्षा ऋतु के चार महीनों में एक स्थान पर ठहरते थे, वरन ग्राम-ग्राम और नगर-नगर में विचरते हुये धर्मोपदेश का अमृत तृषित जनता को पिलाते थे । इन्हीं के सद्कृत्यों का यह परिणाम निकला था कि जनता धर्म के नाम पर होनेवाली हिंसा के विरुद्ध आवाज कसने लगी थी और पुरोहितों की 'पोपडम'का अन्त करने को उतारू हो गई थी । यह महापुरुष स्वयं अपना कल्याण करते थे और प्राणीमात्र के उपकार में दत्तचित रहते थे । यही नहीं कि केवल पुरुष वर्ग ही अपने आत्मकल्याण और धर्म प्रचार में संलग्न था; बल्कि आर्य ललनायें भी इस सेवा-मार्ग से विमुख नहीं थी। कोमलांगी रमणी रत्नों ने अपने वासना विलास को उठाकर एक तरफ रख दिया था । ज्ञान अंजन से उन्होंने अपने दिव्य चक्षुओं को प्रभामई बना लिया था । गृह कुटुम्ब का ममत्व उनकी 'वसुधैव कुटुम्बकम्'की नीति में बाधक नहीं था । वह स्वयं संयमी जीवन व्यतीत करती हुई अपना आत्म कल्याण करती थीं और देश में सर्वत्र विहार करती हुईं विद्वानों से शास्त्रार्थ करतीं और जनता को धर्मामृत का पान करातीं थीं । वह रमणी रत्न थीं सारे संसार के लिये आदर्श रूप थीं । इन्हीं के साथ श्वेत वस्त्रों को धारण करनेवाले उदासीन गृहत्यागी श्रावक और श्राविकायें भी अपनी शक्ति के अनुसार धर्म प्रभावना के कार्य में संलग्न थे । इन सबके विषय में श्री गुणभद्राजार्यजी कहते हैं कि :-

''सुलोचनाद्याः षट्त्रिंशत्सहस्राण्यार्यिका विभोः ।
श्रावका लक्षमेकंतु त्रिगुणाः श्राविकास्ततः ॥१५३॥''

अर्थात् - 'इन भगवान् के समवशरण में सुलोचना को आदि लेकर छत्तीस हजार अर्जिकाएं थीं, एक लाख श्रावक थे और तीन लाख श्राविकायें थीं।' यह सब ही अपना आत्मकल्याण करते सर्वत्र भगवान् के साथ रहकर धर्म का उद्योत करते थे । इनके अतिरिक्त अनेकों राजा, सेठ और देव-देवियां भगवान् के साधारण भक्त थे । इनमें मुख्य भगवान् के माता-पिता थे, वे इन तीर्थंकर भगवान के दृढ़ श्रद्धानी होकर उनके शासन का यश फैलाने में दत्त चित्त थे। यही बात श्री वादिराजसूरिजी इन शब्दों से प्रकट करते हैं :

'राजा पुनः स जिनभक्तिभरावनम्रः,
प्रोच्यकैराज्यपदमंडितमण्डलश्रीः ।

देवस्य तीर्थमघसार्थहरं नेरषु,
प्राभावयत् त्रयविधिर्ननु विश्वसेन : ॥४३॥'

अर्थात् - 'भगवान् जिनेन्द्र की भक्ति से नम्री भूत, उत्तम राज्य से शोभित तीन ज्ञान के धारक राजा विश्वसेन पापों के नाशक भगवान जिनेन्द्र के तीर्थ की मनुष्यों में प्रभावना करने लगे थे । ऐसे ही धर्मवत्सल भक्तों के द्वारा शीघ्र ही भगावान के शासन की विजय वैजयंती सर्वत्र फहराने लगी थी । भगवान् पार्श्वनाथजी की पवित्र स्मृति में अनेक स्थानों पर दिव्य मंदिर और चैत्यागार निर्मित हो गये थे; जिनमें सदा ही भगवान् का यशगान हुआ करता था ! यही नहीं कि भगवान के शिष्य भारतवासी ही रहे हों, बल्कि विदेशों के भी बहुजन आपके परम भक्त थे । नील-महानील और अमितवेग आदि विद्याधर लोग

भारत बाह्य प्रदेश के राज्याधिकारी थे । उन्होंने भारत में तीर्थ वन्दना करते हुये तेरपुर (उस्मानाबाद) के निकट अनेक जैन मंदिरों को निर्मापित कराया था और उसमें मणिमई श्री पार्श्वनाथजी की प्रतिबिम्ब बिराजमान की थी।[१] सारांशत: भगवान की भक्ति-सौरभका मधुर गुंजार दिक् दिगान्तरों में फैल गया था !

पार्श्वनाथ के प्रमुख गणधर

भगवान् पार्श्वनाथजी के प्रमुख गणधर स्वयंभू नाम के थे । यही सर्व प्रथम भगवान् की अमृत वाणी को ग्रहण करनेवाले नर-रत्न थे । इन्होंने ही भगवान की दिव्य ध्वनि को अवधारण करके द्वादशाङ्ग रूप, पूर्वोकर संयुक्त जैन आगम की रचना की थी । वही आगम भगवान् महावीर के सर्वज्ञ होने तक सर्वत्र प्रचलित रहे थे । हत भाग्य से इन प्रमुख गणधर महाराज के विषय में कुछ भी विशेष परिचय नहीं मिलता है । केवल इन्हीं के संबंध में यह बात नहीं है, बल्कि उस समय के किसी भी अन्य गणधर अथवा मुनि का पूर्ण परिचय अभाग्यवश प्राप्त नहीं है । सब ही दिंगबर जैन शास्त्रों में केवल यही उल्लेख मिलता है कि भगवान् पार्श्वनाथजी के दश गणधर थे, जिनमें प्रमुख स्वयंभू थे। 'गणधरादि महर्षिस्तोत्र' में भी इनका कुछ विशेष परिचय नहीं मिलता है । वहां भी केवल नामोल्लेख है; यथा :

> **'नेमि पार्श्वं स्वम्भाबाद्या गौतमाद्याश्च सन्मतिं ।**
> **नेन्यो गणधरेशेभ्यो दत्तोऽर्घ्योदयं पुनातु वः ॥'**

स्वयंभू महाराज के अतिरिक्त अवशेष नौ गणधरों का उनमें नाम भी नहीं मिलता है । सचमुच इतने प्राचीन काल के महत् पुरुषों का विशेष परिचय पाना कठिन है । हां, श्वेताम्बर संप्रदाय के अर्वाचीन साहित्य में अवश्य ही इन सबके

नाम दिये हुये मिलते हैं; किन्तु वे आपस में ही एक दूसरे के खिलाफ हैं। इतना अवश्य है कि प्राय: वे सब ही भगवान् के प्रमुख गणधर का नाम "आर्यदत्त" बतलाने में एकमत हैं। दिगम्बर और श्वेताम्बरों के इस मतभेद का कोई विशेष कारण तो दृष्टि नहीं पड़ता है। हो सकता है कि दोनों संप्रदायों ने अपने आपसी मतभेद के कारण पूर्व पट्टावलियों में भी अन्तर रखा हो! श्वेताम्बरों के 'पार्श्वचरित' में भगवान के दश गणधरों के नाम यूं बतलाये हैं: - आर्यदत्त, आर्यघोष, वशिष्ठ, ब्रह्मनामक, सोम, श्रीधर, वारिषेण, भद्रयशस, जय और विजय[४], किन्तु उनके 'शत्रुञ्जमहात्म्य' में केवल 'आर्यदत्त की अध्यक्षता में नौ सूरियों का होना' लिखा है[५] और 'कल्पसूत्र' में केवल गणधर आर्यदत्त का ही उल्लेख है। उपरांत श्वेतांबर मुनि आत्मारामजी ने स्वरचित 'अज्ञानतिमिरभास्कर' में भगवान् पार्श्वनाथजी की जो शिष्य परंपरा दी है, वह इनसे भिन्न है[६]। वह भगवान् के प्रमुख शिष्य का नाम आर्यसमुद्र लिखते हैं और फिर श्री शुभदत्त गणघर श्री स्वामी प्रभासूर्य, श्री हरिदत्तजी और श्री केशीस्वामी का उल्लेख क्रमश: करते हैं। इस तरह पर भगवान् पार्श्वनाथजी के मुख्य गणधरों का ठीक सा परिचय पा लेना आज कठिन साध्य है और इस अवस्था में केवल यही नि:संशय स्पष्ट है कि भगवान् के मुख्य गणधर दश थे। इन सबकी अध्यक्षता में उक्त मुनिगण विचरते थे। प्रमुख गणधर स्वयंभू मन:पर्ययज्ञानी थे और उपरान्त उनको केवलज्ञान की प्राप्ति हुई थी।

पिहितास्रव ऋषि

इनके अतिरिक्त श्री पार्श्वनाथजी की शिष्य परम्परा के विशेष प्रख्यात् मुनि हमको श्री पिहिताश्रव नामक मिलते हैं। दिगंबर जैन शास्त्रों में इनका विविध स्थानों पर उल्लेख मिलता है। श्वेतांबर यति आत्मारामजी भी इनके

विषय में कहते हैं कि 'यह स्वामी प्रभासूर्य के कई साधुओं में से एक थे।'[७] दिगम्बर जैन शास्त्रों में इनको भगवान् पार्श्वनाथजी की शिष्य परम्परा का एक साधु लिखा है गौर बतलाया है कि इनके एक बहुश्रुती शिष्य बुद्धिकीर्ति नामक थे, जिन्होंने भ्रष्ट होकर क्षणिक वाद का प्रचार किया था[८]। यह बुद्धिकीर्ति बौद्ध धर्म के संस्थापक महात्मा गौतम बुद्ध के अतिरिक्त और कोई अन्य व्यक्ति नहीं थे। महात्मा बुद्ध ने स्वयं अपने मुख से एक स्थान पर जैन मुनि होना स्वीकार किया है।[९] ऐसा मालूम होता है कि महात्मा बुद्ध के पितृगण भी श्रमण भक्त थे। जिस समय महात्मा बुद्ध का जन्म हुआ था, उस समय एक अजित नामक श्रमण ऋषि ने उनको देखकर आशीर्वाद दिया था[१०] तथापि जिस समय वे कपिलवस्तु से बाहिर आ रहे थे, तब भी उनको एक श्रमण के दर्शन हुये थे[११]। यह श्रमण बौद्ध भिक्षु तो नहीं हो सकते, क्योंकि उस समय बौद्ध धर्म का अस्तित्व नहीं था किन्तु इसके माने यह भी नहीं है कि वे निश्चत रूप से जैन श्रमण ही थे, क्योंकि उस समय आजीविक आदि साधु भी श्रमण नाम से उल्लेखित किये जाते थे!

यद्यपि यह ठीक है कि मुख्यतः इस 'श्रमण' शब्द का प्रयोग जैन साधुओं के लिये ही होता था, क्योंकि जैन धर्म को 'श्रमण धर्म' ही बतलाया गया है[१२] तथापि ऋग्वेद में जो श्रमणों का उल्लेख है[१३] वह निसंशय जैन-श्रमणों से ही लागू है क्योंकि आजीविक आदि इतर श्रमणों की उत्पत्ति ईसा से पूर्व ९०० वर्ष से हुई बताई जाती है, जबकि ऋग्वेद करीब चार हजार वर्ष इतना प्राचीन बतलाया जाता है। रही बात महात्मा बुद्ध के समागम में आये हुये उक्त श्रमणों की सो जब हम बौद्ध ग्रन्थ 'ललिता' में यह उल्लेख पाते हैं कि महात्मा बुद्ध अपने बाल्यकाल में श्रीवत्स, स्वस्तिका, नन्द्यावर्त और वर्द्धमान यह

चिन्ह अपने शीशपर धारण करते थे; जिनमें से पहले के तीन चिन्ह तो क्रमशः शीतलनाथ, सुपार्श्वनाथ और अरहनाथ नामक जैन तीर्थंकरों के चिह्न है और अंतिम वर्द्धमान स्वयं भगवान् महावीर का नाम है तब यह कहना ठीक ही है कि संभवतः उक्त श्रमण जैन मुनि ही थे और राजा शुद्धोदन उन जैन श्रमणों के भक्त थे ।[१४] इस प्रकार श्री पिहिताश्रव मुनिराज के सर्व प्रमुख शिष्य बुद्धिकीर्ति के पितृकुल एवं उनके उपरान्त बौद्ध धर्म के प्रवर्तक रूप में वर्णन है । वह भ्रष्ट जैन मुनि थे और भगवान् महावीर के समकालीन थे ।

'मौन एकादशी व्रतकथा' में भी श्री पिहिताश्रव मुनिका कथन है ।[१५] इस कथा में कौशांबी के राजा हरिवाहन और उनकी पट्टरानी शशिप्रभा का अपने राज्य विमुख पुत्र सुकौशल के सम्बन्ध में श्री सोमप्रभु नामक मुनिराज से जिज्ञासा करने का उल्लेख है । मुनिराज ने राजा रानी का समाधान करते हुये कहा था कि 'कौशल्य देश के कूट नगर में राजा रणसिंह और उसकी रानी त्रिलोचना थी । इनके राजत्व काल में उसी नगर में एक कुणवी रहता था, जिसके तुङ्गभद्रा नाम की भाग्य हीना कन्या थी । तुङ्गभद्रा की शैशव अवस्था में ही उसके माता पिता काल कवलित हो गए थे और वह ज्यों त्यों कर बड़ी हुई ! उसे श्री पिहिताश्रव मुनिराज के दर्शन हो गये । उसने भी श्री गुरु के मुखारविंद से धर्म श्रवण किया और उनके परामर्श से एकादशी व्रत ग्रहण किया ! व्रत को पूर्णतः पालकर वही कन्या मर कर तेरे यह सुकौशल नामक पुत्र हुआ है । यह चरम शरीरी है, इसी भवसे मोक्ष लाभ करेगा । इसीलिये यह राज्य काज से विमुख रहता है ।' राजा अपने पुत्र का वह पूर्वभव सुनकर संसार से विरक्त हो चला और राजभवन में आकर उसने सुकौशल की तो राज्य सिंहासन पर आरूढ़ किया और स्वयं ने पिहिताश्रव आचार्य के निकट जाकर दीक्षा ग्रहण कर ली

थी । इधर सुकौशल राज्याधिकारी तो हुये, परन्तु इनका चित्त सदा ही राज्य काज से उदास रहता था । नौबत यहां तक पुहंची कि एक मंत्री ने इनके विरुद्ध षड्यंत्र भी रच डाला कि जिससे यह सुगमता से राज्यच्युत किये जा सकें; किंतु दूसरे राज्य भक्त मंत्री ने इसका भंडा फोड़ दिया ! परिणामतः सुकौशल राजा ने राज्यभक्त मंत्री को राज्यपद दिया और स्वयं मोक्षलाभ किया था ।

इस कथा से भी पिहिताश्रव मुनिराज का भगवान् पार्श्वनाथजी के तीर्थ में होना प्रमाणित है, क्योंकि भगवान् महावीर के धर्म प्रचार के समय कौशाम्बी में राजा शतानीक का राज्य होना लिखा गया है, जिनसे पहले ही उक्त घटना घटित हुई होगी ! किन्तु इस कथा में कौशाम्बी को कौशल्य देश में अवस्थित बतलाया है;'[१] जो ठीक नहीं है क्योंकि कौशल की राजधानी श्रावस्ती थी और कौशाम्बी वत्सदेश का राजनगर था'[७] । साथ ही श्री 'उत्तरपुराण' जी के निम्न अंश से इस कथा की बहुत सदृशता है और इसमें घटना स्थान चम्पा बतलाया गया है; यथाः -

''अस्त्यत्र विषयोगाख्यः संगतः सर्ववस्तुभिः ।
नगरी तत्र चंपाख्या तत्पतिः श्वेतवाहनः ॥८॥

श्रुत्वा धर्मं जिनादस्मान्निर्वेगाहिताशयः ।
राज्यभारं समारोप्य सुते विमलवाहने ॥९॥

संयमं बहुभिः सार्द्धमत्रैव प्रतिपन्नवन् ।
चिरं मुनिगणैः साकं विहृत्याखंडसंयमैः ॥१०॥

धर्मेषु रुचिमातन्वन् दशस्वप्यनिशं जनैः ।
प्राप्तधर्मरुचिः ख्यातिः सख्यं यत्सर्वजंतुषु ॥११॥

अद्य मासोपवासांते भिक्षार्थं प्राविशत्पुरं ।
पुरुषाः संहतास्तत्र तत्समीपमितास्त्रयः ॥१२॥

नरलक्षणशास्त्रज्ञस्तेष्वेको वीक्ष्य तन्मुनिं ।
लक्षणान्यस्य साम्राज्य पदवीप्राप्तिहेतवः ॥१३॥

अटत्येष च भिक्षायै शास्त्रोक्तं तन्मृषेत्यसौ ।
वंदन्नभिहितोन्येन न मृषा शास्त्रभाषितं ॥१४॥

त्यक्तसाम्राज्यतंत्रोयमृषिः केनापि हेतुना ।
निर्विण्णस्तनये वाले निधाय व्यावृति निजां ॥१५॥

स्वयं स्वार्थं समुद्दिश्य तपः कर्तुमिहागतः ।
मंत्रिप्रभृतिभिः सर्वैः कृत्वा तं शृंखलावृतं ॥१६॥"

यहां पर चम्पा के राजा श्वेतवाहन को अपने विमल वाहन पुत्र को राज्य देकर श्री वीर भगवान के निकट तपश्चरण धारण करते बताया है । उपरांत मुनि भेष में उन्होंने राजगृह में लक्षण शास्त्र-वेत्ताओं के मुख से अपने पुत्र का मंत्रियों द्वारा राज्यच्युत किया जाना भी सुना था, यह भी उक्त श्लोकों में कहा गया है । पूर्वोक्त सुकौशल मुनिवाली कथा भी इसी ढंग की है । इसलिये बहुत सम्भव है कि उपरांत काल के उक्त कथाकार ने सुकौशल मुनि की कथा को विशेषता देने के लिये चम्पापुर के श्वेत वाहन वाली घटना को उसमें जोड़ दिया हो ! इसीलिये शायद उन्होंने कौशल देश के राजा का पुत्र सुकौशल को बतलाया है। कौशल के एक राजा का नाम महाकौशल बौद्ध शास्त्रों में मिलता है, जिसके पुत्र प्रसेनजित थे ।[१८] साथ ही राजा का हरिवाहन नाम भी श्वेतवाहन नाम से सदृशता रखता है । इन बातों के देखते हुए जब हम 'आराधना कथाकोष' में

सुकौशल मुनि की कथा को पढ़ते हैं, तो यह ठीक जंच जाता है कि उक्त 'मौन एकादशीव्रत कथा' का वर्णन ऐतिहासिकता के विरुद्ध है । इसी 'कथासंग्रह' की एक अन्य कथा में हम मध्य काल के राजा नरवर्मा का सम्बंध देख ही चुके हैं। जिसको उस कथा में बहु प्राचीन काल में जा रक्खा है । 'आराधना कथाकोष' में सुकौशल अयोध्या के राजा प्रजापाल के समय में हुये सेठ सिद्धार्थ के पुत्र बताये गये हैं और उन्हें दूसरे भव से मोक्षगामी होते बतलाया गया है ।[१९] किन्तु इस सब वर्णन से इतना तो स्पष्ट ही है कि मुनिराज पिहिताश्रव के निकट किसी व्यक्ति ने अवश्य ही दीक्षा ग्रहण की थी, यह व्यक्ति संभवतः सेठ सिद्धार्थ ही प्रतीत होते हैं । साथ ही अंगदेशस्थ चम्पापुर राजगृह के राजा श्रेणिक के पुत्र कुणिक का राज्याधिकारी होने का भी सम्बंध उक्त वर्णन से स्पष्ट है । चम्पा के राजा अयोग्य थे और मंत्रियों ने उन्हें राज्य-भ्रष्ट कर दिया था । इस मौके पर कुणिक का वहां पर अधिकार प्राप्त कर लेना सुगम ही था । इस तरह इस विवरण में कुणिक का चम्पा पर राज पाने का कारण उपलब्ध हो जाता है, जो भारतीय इतिहास के लिये भी उपयोगी है । अस्तु,

श्री 'नागकुमार चरित' में भी एक पिहिताश्रव मुनि का उल्लेख हमें मिलता है; किन्तु जैन शास्त्रों में श्री नागकुमारजी को भगवान नेमिनाथजी के तीर्थ में हुआ बतलाया जाता है ।[२०] और उस अवस्था में इन पिहिताश्रव मुनि का भगवान् पार्श्वनाथजी की शिष्य परम्परा का मुनि होना अशक्य है । परन्तु जब नागकुमार चरित में अनेक ऐसी बातों का उल्लेख हम पाते हैं जिनका सम्बंध भगवान् नेमिनाथजी के तीर्थ में हुआ बतलाया जाता है ।[२१] और उस अवस्था में इन पिहिताश्रव मुनि का भगवान् पार्श्वनाथजी की शिष्य परम्परा का मुनि होना अशक्य है । परन्तु जब नागकुमार चरित में अनेक ऐसी बातों का उल्लेख हम

पाते हैं जिनका सम्बंध भगवान् महावीर के प्रारम्भिक काल की घटनाओं से प्राय: ठीक बैठता है, तो यही प्रतिभाषित होता है कि यंह पिहिताश्रव मुनि वही हैं जो श्री पार्श्वनाथजी की शिष्य परम्परा में थे । हो सकता है कि नागकुमार का जन्म श्री नेमनाथस्वामी के तीर्थ में हो गया हो और वह भगवान् पार्श्वनाथजी के तीर्थ के अंतिम समय तक बल्कि उपरान्त तक विद्यामान रहे हों, क्योंकि उनकी आयु भी १०७० वर्ष की बतलाई गई है ।[२२] उनकी कथा में जय और विजय नामक मुनियों का भी उल्लेख मिलता है;[२३] और इसी नाम के मुनियों का होना श्री पार्श्वनाथजी की शिष्य परम्परा में भागदेवसूरि के 'पार्श्वनाथ चरित' से भी प्रकट है जैसे कि हम ऊपर देख चुके हैं । गिरितट नगर से नागकुमार का श्री नेमिनाथजी की वंदना के लिये पर्वत पर जाने का उल्लेख[२४] भी इस बात का द्योतक है कि उस समय भगवान् नेमिनाथ विद्यमान नहीं थे । नागकुमार की कथा में सिंधु देश के राजा चंडप्रद्योत बताये गये है ।[२५] उस प्राचीन काल में इस नाम के एक प्रामाणिक राजा केवल उज्जयनी के और वह भगवान् महावीर के समय में भी विद्यमान थे ।[२६] किन्तु यहां पर जो उनको सिंधु देश का राजा लिखा गया है, वह भी ठीक हैं, क्योंकि जैनाचार्यों ने चर्मणावती नदी के ही सिंधु नदी माना है;[२७] बल्कि इस नाम की एक नदी वहीं मौजूद थी ।[२८] इसलिये ही इस नदी के तटवर्ती देश को सिंधु देश जैन शास्त्रों में लिखा गया है ।[२९] राजा चेटक की राजधानी विशाल को भी इसी अपेक्षा सिंधु देश में जैनाचार्यों ने लिखा है ।[३०] उज्जयनी का ही दूसरा नाम विशाला था[३१] । कवि कालीदास ने अपने मेघदूत काव्य में उसी के लिए 'विशालां विशालाम्' पद का प्रयोग किया था इसी पर विशाला (वैशाली) को सिंधु देश में बतला दिया था; यद्यपि वास्तव में वह विदेह देश में थी, जैसे कि आज पुरातत्व की खोज से प्रमाणित

हुआ है ।[१२] आज भी जैन शास्त्रकारों की तरह कतिपय विद्वान भ्रम से कवि कालिदास के उक्त पद का प्रयोग वैशाली से सम्बधित कर देते हैं; जबकि वास्तव में वह उज्जयनी के लिये ही लागू है ।[१३] अतएव इस कथन से यह स्पष्ट है कि उपरोक्त चण्डप्रद्योत, जो सिंधु प्रदेश के राजा बताये गये हैं, वही हैं जो उपरान्त में उज्जयनी के प्रख्यात राजा के रूप में हमें हिन्दू, बौद्ध और जैनशास्त्रों में मिलते हैं ।

इस उल्लेख से भी नागकुमार का भगवान् महावीर से किञ्चित् पहले तक विद्यमान रहना प्रमाणित होता है । यह नागकुमार मगध देश के कनकपुर नामक नगर के राजा जयंघर की रानी पृथ्वीमती के पुत्र थे । इनका मूल नाम प्रतापंधर था । बौद्धों के 'उदेनवत्थु' नामक कथानक में कौशाम्बी के एक राजा का नाम परन्तप लिखा है ।[१४] यह महात्मा बुद्ध से किञ्चित पहले तक मौजूद थे और इनका पुत्र उदयन था, जो वीणा वादन में बहु प्रसिद्ध था । संभव है कि प्रतापंधर का ही उल्लेख बौद्धों ने परन्तप के रूप में किया हो । जो हो, इन प्रतापंधर ने अपने पिता द्वारा घर से निकाले जाने पर बहु देशों में पर्यटन किया था और विविध स्थानों की राज्य कन्यायों से पाणिग्रहण किया था । अन्तत: यह अपने नगर को वापिस पहुंच गये थे और राजा जयंधर ने इनके सुपुर्द राज्य करके स्वयं श्री पिहिताश्रव मुनि के निकट दीक्षा ग्रहण कर ली थी ![१५] इसके अतिरिक्त पिहिताश्रव मुनि का उल्लेख इस कथा में कई जगह और भी आया है ।

श्री **'पुण्याश्रव कथाकोष'** में श्री भविष्यदत्त की कथामें भी पिहिताश्रव मुनिका कथन है ।[१६] वहां लिखा है कि भविष्यदत्त ने पिहिताश्रव मुनि से दीक्षा ली थी; परन्तु इस ग्रंथ से प्राचीन कवि धनपाल के भविष्यदत्त चरित्र में मुनि का नामोल्लेख नहीं है ।

श्री "सम्यक्त्व कौमुदी" की विष्णुश्री की कथा में भी पिहिताश्रव मुनिका उल्लेख है ।[१७] दक्षिण देश के वेनातट नगर के राजा सोमप्रभ ने यज्ञों के द्वारा जो फल नहीं प्राप्त कर पाया था, वह वहीं के एक गरीब पर दानशील विश्वभूति नामक ब्राह्मण ने मुनि पिहिताश्रव को आहार दान देने से उपार्जन कर लिया था । इस दानशील ब्राह्मण के फल-प्रभाव को देखकर ही राजा पिहिताश्रव मुनिराज के निकट गया था और उनसे अन्ततः श्रावक के व्रत उसने ग्रहण किये थे । यह कथा भी संभवतः भगवान पार्श्वनाथजी के तीर्थ के मुनि पिहिताश्रव से सम्बधित है । इनके अतिरिक्त अन्यत्र हमें मुनि पिहिताश्रव के विषय में कुछ अधिक ज्ञात नहीं होता है । तथापि इतने विवरण यह तो स्पष्ट ही है कि मुनि पिहिताश्रव सर्वत्र विचर कर उस समय धर्म का उद्योत कर रहे थे । किन्तु खेद है कि उनके विषय में इससे अधिक और कुछ ज्ञात नहीं है ।

दिगंबर जैन शास्त्रों में इनके अतिरिक्त संजय, विजय, मौद्गलायन आदि जैन मुनियों का उल्लेख भी हमें भगवान् पार्श्वनाथजी के तीर्थकाल में हुआ मिलता है और इन सबका उल्लेख हम आगे एक स्वतंत्र परिच्छेद में करेंगे । यहां पर श्वेतांबर संप्रदाय के साहित्य पर भी एक दृष्टि डाल लेना आवश्यक है। वहां हमें भगवान पार्श्वनाथजी के तीर्थ के सर्वाभिमुख मुनि के रूपमें श्रमण केशी के दर्शन होते हैं ।[१८] यह भगवान महावीरस्वामी के समय में विद्यमान थे और एक संघ के आचार्य थे । इन्हीं की अध्यक्षता में पार्श्वस्वामी के तीर्थ के मुनियों ने श्री महावीरस्वामी की शरण ग्रहण की थी, यह श्वेतांबर शास्त्रोंका कथन है । इससे अधिक इनके विषयमें हमें और कुछ ज्ञात नहीं है । इनके अतिरिक्त श्री भावदेवसूरि भगवान् पार्श्वनाथजी के चार खास शिष्योंका उल्लेख करते हैं । वे शिव, सुंदर, सोम और जय नामक थे । इनको भगवान की

दिव्यध्वनि से ज्ञात हो गया था कि वे उसी भव से सिद्ध पद प्राप्त करेंगे और इसी अनुरूप वे धार्मिक जीवन व्यतीत करने लगे थे । किन्तु जब ही मोक्ष प्राप्ति का समय निकट आया तो उनके हृदय क्षुभित हो गए । आखिर वे भगवान की शरण में आये । जहां उन्हें शीघ्र ही केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई और वे सब सिद्ध हो गये ।[१९]

'सूत्रकृतांग' में भी एक 'उदय पेढालपुत्त' नामक मुनि का उल्लेख है । यह श्रीपार्श्वनाथजी शिष्य परम्परा के शिष्य वहां बतलाये गये हैं । (पासावंचिज्जे नियंठे मेयज्जे गोत्तेणं ।) इनका गोत्र मेदार्य (मेयज्ज) था । इन्होंने कुमार पुत्र नामक ऋषि से 'प्रत्याख्यान' संबंध में राजगृह के लेप नामक गृहपति के भवन में चर्चा की थी । यह लेप मूल में नालंदा के निवासी थे, जहां इनकी 'शेष द्रव्या' नामक उदकशाला और उसके पास 'हस्तियाम' नामक एक बड़ा बगीचा था ।

(पुरातत्त्व भाग २ अंक २ पृष्ट १३३)

इस प्रकार भगवान् पार्श्वनाथजी के प्रमुख शिष्यों और उनके तीर्थ के मुख्य मुनियों के पवित्र जीवन थे । इनके वर्णन से स्पष्ट है कि भगवान् पार्श्वनाथजी का भी एक संगठित मुनि संघ था और वह भगवान महावीरजी के समय तक विद्यमान रहा था । यह बात न थी कि महात्मा बुद्ध के पहले कोई संगठित मुनि संघ भारत में नहीं ही था । भगवान पार्श्वनाथ के भव्य शिष्यगण एक नियमित संघ में महात्मा बुद्ध के पहले से जैन धर्म की विजय वैजयंती उड्डायमान कर रहे थे, भव्यों को सच्चे सुख का राज मार्ग निस्पृह भाव से जतला रहे थे, रंक से लेकर राव तक का कल्याण कर रहे थे । भेद और पक्ष से विलग रहते वे सबके ही आदर पात्र बन रहे थे । वे अपना और पर का उपकार

करनेसें सदा बद्धपरिकर थे । लोभ और ममत्व तो उनको अपने शरीर तक से नहीं था । वे वीर थे, पूर्ण निस्पृही थे, अपने जैसे आप थे ! परम त्याग के साक्षात् आदर्श थे । परम पूज्य श्रमण थे । उनके चरणों में सब ही नतमस्तक होते थे । कवि की तान में तान मिलाकर सब यही कहते थे :-

''जस गावत शारद शेष खरो, अघवन्त उधारनको तुमरो ।
तिहितें शरनागत आन परो, विरदावलिकी कछु लाज धरो ।।
दुख वारिधतै प्रभु करो, दुरितारि हरो सुखसिंधु भरो ।
सब क्लेश अशेष हरो हमरो, अब देख दुखी मत देर करो ।।''

सन्दर्भ

१ - उत्तरपुराण पृ. ५८० ।
२ - भगवान महावीर और महात्मा बुद्ध. परिशिष्ट पृ. २२२ ।
३ - मुनि कणयानर विरचित 'करकंडुचरित्र' संधि ५ ।
४ - भावदेवसूरि, पा. च. सग ६ श्लो. १३५०-१३५८
५ - शत्रुंजयमाहात्म्य १४।६८
६ - कल्पसूत्र १६१ ।
७ - जैन हितैषी भाग ७ अंक १२ पृ. २ ।
८ - जैन हितैषी भाग ७ अंक १२ पृ. २ ।
९ - दर्शनसार ६-१० ।५
१० - सान्डर्स गौतमबुद्ध पृ. १५ ।
११ - बुद्धजीवन (S.B.E.XIX) पृ. ११ ।
१२ - इन्डियन एन्टीक्वेरी भाग ९ पृ. २४६ ।
१३ - कल्पसूत्र पृ. ८३ ।
१४ - ऋग्वेद १०।१३६ ।
१५ - भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध पृ. ३७-३८ ।
१६ - जैनकथासंग्रह पृ. १३५ ।
१७ - हमारा 'भगवान महावीर' पृ. १०८ ।
१८ - जैन कथासंग्रह पृ. १३५ ।
१८A - बुद्धिस्ट इन्डिया पृ. २३२ ।
१९ - इन्डियन हिस्टारीअल क्लार्टर्ली भाग १ पृ. १५८ ।

२० - आराधना कथाकोष, भाग २ पृ. २३२ ।
२१ - श्री पुण्याश्रव कथाकोष पृ. १८० ।
२२ - पूर्ववत् ।
२३ - पूर्व. पृ. १६९ ।
२४ - पूर्व. पृ. १७३ ।
२५ - पूर्व. पृ. १७२ ।
२६ - बुद्धिस्ट इन्डिया पृ. २३ ।
२७ - अस्य: सिन्धो: चर्मण्वत्या: । योगिराट: 'पार्श्वाभ्युदयकाव्य टीका ।
२८ - भवभूतिका 'मालतीमाधव नाटक' - कनन्घिम जागरफी (नया संस्करण) नोट पृ. ७२७ ।
२९ - कवि धनपालने अपने 'भविष्यदत्त चरित' में इस प्रदेश का सिंधु नाम से उल्लेख किया है - देखो अंग्रेजी जैन गजट वर्ष २२ पृ. २४९ पर मेरा लेख ।
३० - श्रेणिकचरित्र पृ. और उत्तरपुराण पृ. ६३४ ।
३१ - विशालां उज्जयिनीपुरीम् । 'विशालोज्जयिनीसमा' इत्याभिधानत् योगिराट: श्री पार्श्वाभ्युदय काव्य पृ. ९०-९१ ।
३२ - देखो हमारा 'भगवान महावीर' पृ. ६३-६८ ।
३३ - डॉ. बी. सी. लॉ ने यह पद वैशाली के लिये बतलाया है और उनके अनुसार हमने ऐसा लिखा था।
३४ - लाइफ एण्ड वर्क आफ बुद्धघोष पृ. ११९ ।
३५ - पुण्याश्रव कथाकोष पृ. १७९ ।
३६ - पूर्व. पृ. १९२ ।
३७ - श्री सम्यक्त्व कौमुदी पृ. ८४ ।
३८ - उत्तराध्ययन सूत्र २३ ।
३९ - लाइफ एम् स्टोरीज ऑफ पार्श्वनाथ पृ. १७० ।

❑

मक्खलिगोशाल,

मौद्गलायन प्रभृति शेष शिष्य

आचार्य देवसेन कृत दर्शनसार में कहा है ।

"मसयरि - पूरण रिसिणो उप्पण्णो पासणाहतित्थम्मि ।
सिरिवीर समवसरणे अगहियझुणिणा नियत्तेण ॥१७६ ॥

बहिणिग्गएण उत्तं मज्झ एयारसांगधारिस्स ।
णिग्गइ झुणीण, अरुहो णिग्गयविस्सास सीसस्स ॥१७७॥

ण मुणइ जिणकहियसुयं संपइ दिक्खाय गहिय गोयमओ ।
विप्पोवेयब्भासी तम्हा मोक्खं ण णाणाओ ॥१७८॥

अण्णाणाओ मोक्खं एवं लोयाण पयउ माणोहु ।
देवो अ णत्थिं कोई सुण्णंझाएह इच्छाए ॥१७९ ॥"

अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर सर्वज्ञ पद को प्राप्त कर चुके थे । केवलज्ञान सूर्य का प्रखर उदय उनके निकट हो चुका था । देवों ने आकर उस समयपर हर्षित भाव से आनन्दोत्सव मना करके और सभा मण्डप रच कर उस अवसर की दिव्य शोभा को और भी अधिक बढ़ा दिया था ।

भगवान महावीर गंध कुटी में अष्ट प्रातिहार्य सहित अन्तरीक्ष बिराजमान थे; परन्तु तो भी उन की वाणी नहीं खिरी । देवेन्द्र आदि तृषित चातकों के एक टक निहारते रहने पर भी भगवान द्वारा धर्मामृत की वर्षा न हुई ! देवेन्द्र आश्चर्य में पड़ गया, उसने अपने विशिष्ट अवधिज्ञान के बल जान लिया कि भगवान के दिव्योपदेश को अब धारण करनेवाला योग्य व्यक्ति वहां मौजूद नहीं है ।

इसीलिये वह राजगृह के इन्द्रभूति गौतम नामक वेद पारांगत विद्वान को वहां लिवा लाया और वह भव्य ब्राह्मण भगवान की शरण में प्राप्त होकर आतुर धर्मात्मा चातकों को भगवान की दिव्य ध्वनि से धर्म पीयूष पिलाने में सहायक हुये।

मक्खलिगोसाल और उसकी मान्यताएं

इसी समय भगावन के महावीर के समवशरण में श्री पार्श्वनाथजी की शिष्य परम्परा का मक्खलि अथवा मश्करि गोशाल नामक एक वय प्राप्त ऋषि मौजूद था। उसे इस घटना से बड़ा रोष आया। वह फौरन ही समवशरण से उठकर चल दिया और बाहर निकलकर कहने लगा कि 'देखो कैसे आश्चर्यकी बात है कि मैं ग्यारह अंग का ज्ञाता हूं तो भी दिव्यध्वनि नहीं हुई! पर जो जिन कथित श्रुत को ही नहीं मानता है, जिसने अभी हाल ही दीक्षा ग्रहण की है और जो वेदों का अभ्यास करनेवाला ब्राह्मण है वह गौतम (इंद्रभूति) इसके लिये योग्य समझा गया! अत: जान पड़ता है कि ज्ञान से मोक्ष नहीं होता।' बस इस निश्चय के साथ ही वह अपने इस मत का प्रचार लोगों में करने लगा और यह प्रकट करने लगा कि अज्ञान से ही मोक्ष होता है। देव या ईश्वर कोई है ही नहीं। अतएव स्वेच्छा पूर्वक शून्य का ध्यान करना चाहिये।

इस प्रकार भगवान पार्श्वनाथजी के तीर्थ में के यह एक अन्य प्रख्यात् मुनि का परिचय है। यह तो बौद्ध शास्त्रों से भी सिद्ध है कि मक्खलिगोशाल नामक एक बहु प्रसिद्ध मत प्रवर्तक तब मौजूद था[1] और आखिर वह आजीविक सम्प्रदायका मुख्य नेता बन गया था।[2] उनके 'दीघनिकाय' में उसको अज्ञान मत का ही प्रर्वतक बतलाया है।[3] गोशाल के मुख से वहां पर यह कहलाया गया है कि "न कोई हेतु है और न कोई ऐसी पहले से स्थित सत्ता

ही है जो सत्तात्मक जीवों के संक्लेश का कारण हो । उनका अशुद्धपना हेतु रहित और पहले से स्थित किसी वस्तु की रचना नहीं है । तथापि सत्तात्मक जीवों की शुद्धता के लिए न कोई कारण है और न कोई ऐसा तत्त्व (Principle) जो पहले से मौजूद हो । उनकी शुद्धता अहेतुमय और बिना किसी पहले से स्थित वस्तु की रची हुई है ।[४] उनकी उत्पत्ति के लिये वहां कुछ नहीं है जो व्यक्तियों के चारित्र के फलरूप हो, दूसरों के कार्यों के परिणामरूप हो अथवा मानवी प्रयत्नों का नतीजा हो ।[५] उनका प्रादुर्भाव न वीर्य से और न प्रयत्न से होता है । तथापि न मानुषिक त्याग से और न मानुषिक शक्ति से प्रत्येक सत्तात्मक प्राणी, प्रत्येक कीड़ा मकोड़ा, प्रत्येक जीवित पदार्थ चाहे वह पशु हो अथवा वनस्पति; वह सब आंतरिक (Intrinic) शक्ति, वीर्य और ताकत से रहित है, किन्तु अपने परिणामाधीन आवश्यकता में फँसा हुआ वह छह प्रकार के जीवनों में सुख दु:ख भुगतता है ।

इस तरह संसार में परिणामाधीन भटकता हुआ व्यक्ति चाहे वह मूर्ख हो अथवा पंडित हो नियत महाकल्पों के उपरान्त समान रीति से मोक्ष लाभ करते बतलाना, इस बातका द्योतक है कि मक्खलिगोशाल मोक्ष प्राप्तिके लिये ज्ञान को आवश्यक नहीं मानता था । अतएव इस कथन से परिच्छेद के प्रारम्भ में दी हुई गाथाओं का समर्थन होता है, जिनका भाव वही है, जो हम ऊपर बता चुके हैं । यहां जैनाचार्य ने गोशाल के मंतव्य ठीक वही बताये हैं, जो बौद्धों के उक्त उद्धारण में निर्दिष्ट किये गये हैं । इसी प्रकार श्वेतांबर जैनों के 'सूत्रकृतांग' में भी गोशाल की गणना अज्ञानवाद में की गई है ।[६] साथ ही पाणिनि भी मक्खलिगोशाल का मत इसी तरहका प्रतिपादित करता है ।[७] पाणिनिसूत्र में कहा गया है कि मक्खलि कहता था - कर्म मत करो, शांति वांछनीय हैं ।'

भाव यही है कि कुछ मत करो, शून्य में गर्त हो जाओ । परिणामवाद के हाथों में कठ पुतले बने नाचते रहो । नियत काल में तुम्हारा स्वयं ही निपटारा हो जायेगा ।

किन्तु 'दर्शनसार' की उपरोक्त गाथाओं में 'मस्करी-पूरण' का एक साथ उल्लेख किया गया है, मानो यह दोनों एक ही व्यक्ति है अथवा इनका इतना घनिष्ट सम्बंध है, जो इन दोनों का उल्लेख एक साथ किया जा सके । यह बात जैनाचार्य के इस कथन से ही केवल प्रगट नहीं है, किन्तु बौद्धों के 'अङ्गुत्तरनिकाय' नामक ग्रन्थ से भी यही प्रमाणित है ।[८] वहां मक्खलिगोशाल के छः अभिजाति सिद्धांत को पूर्ण का बतलाया गया है और उसी में अन्यत्र उसको मक्खलिगोशाल का प्रायः शिष्य ही बतलाया है । इसी कारण आधुनिक विद्वान् पूर्णकाश्यप और मक्खलिगोशाल के आपसी संबंध को स्वीकार करते हैं[९] और इसलिये जैनाचार्य का उक्त प्रकार इन दोनों व्यक्तियों का एक साथ उल्लेख करना कुछ अनोखा नहीं हैं ।

हां ! श्वेतांबर जैनों की मान्यता इस विषय में इसके विरुद्ध है । वे मक्खलिगोशाल को स्वयं भगवान् महावीर का शिष्य बतलाते है और उनकी छद्मस्थ अवस्था में वह भगवान महावीर के निकट दीक्षित हुआ था यह कहते हैं ।[१०] किन्तु यह ठीक नहीं है । उनके अन्य ग्रन्थों से यह बाधित है, क्योंकि उनमें यह प्रगट किया गया है कि छद्मावस्था में भगवान बोलते नहीं थे - मौन रहते थे ।[११] इस दशा में गोशाल का भगवान् महावीर का शिष्य बतलाना गलत है और इस कारण उनके अन्य कथन पर भी सहसा विश्वास नहीं किया जा सकता । आधुनिक विद्वान् भी इसी निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि गोशाल भगवान् महावीर का शिष्य नहीं था[१२]; परन्तु साथ ही वह श्वेतांबर ग्रँथों के आधार से

जो स्वयं उसे भगवान महावीर का गुरु बतलाते हैं और भगवान ने नग्न भेष उससे ग्रहण किया था, जो यह कहते हैं वह भी ठीक नहीं है!

जैन मान्यता के अनुसार प्रत्येक तीर्थंकर स्वयं बुद्ध होता है और इसी अनुरूप किसी भी जैन अथवा अजैन शास्त्र से यह प्रमाणित नहीं है कि भगवान महावीर अथवा किसी अन्य तीर्थंकर ने किसी व्यक्ति से कोई शिक्षा ग्रहण की हो। जिस श्वेतांबर ग्रन्थ के बल आधुनिक विद्वान गोशाल को भगवान का गुरु बतलाते हैं स्वयं उससे भी यह प्रमाणित नहीं होता कि गोशाल से भगवान ने कुछ सीखा हो। नग्न भेष ग्रहण करने की बात भी उल्टी है। भगवान महावीर के निकट आकर गोशाल ने नग्न भेष ग्रहण किया था। तब फिर भला यह कैसे संभव है कि भगवान ने उससे नग्न भेष ग्रहण किया हो। इस दशा में आधुनिक विद्वानों की यह सब कोरी कल्पना ही है।[१३]

गोशाल के विषय में यह स्पष्ट है कि उसने अपने सिद्धांत 'पूर्वो'से लिये थे और यह पूर्व सिवाय जैन पूर्वों के और कोई थे नहीं। यह आधुनिक विद्वान भी मानते हैं।[१४] साथ ही उसके सिद्धांत भी जैन सिद्धांतों से लिये हुये प्रगट होते हैं। वह आत्मा का अस्तित्व और उसका स्वरूप करीब करीब जैन धर्म के अनुसार मानता था। आत्मा को वह अरोगी सांसारिक मलों से विलग स्वीकार करता था एवं संसार परिभ्रमण सिद्धांत को भी स्वीकार करता था[१५]। भगवान पार्श्वनाथजी ने इसी तरह आत्मा संबंधी सिद्धांत प्रतिपादित किया था।

यही नहीं, अणुवाद (Atomic Theory) जो खास जैनियों का ही सिद्धान्त है, वह भी उसको ठीक जैन धर्म के अनुसार मान्य था।[१६] उनका नग्न भेष भी भगवान पार्श्वनाथजी के अनुरूप था। अष्टांग निमित्त ज्ञान को उसने पूर्वों से ग्रहण किया ही था, जिनका प्रदिपादन भगवान पार्श्वनाथजी की दिव्य

ध्वनि से हो चुका था ।[१७] उसका चत्तारिपाणगायं चत्तारिअपाणगायं सिद्धांत जैनियों के सल्लेखना व्रत के समान ही था । उसने सव्वे सत्ता, सव्वे जीवा, अधिकम्म, संज्ञी, असंज्ञी शब्द जो व्यवहृत किये थे,[१८] वह खास जैनियों के शब्द हैं ।

मक्खलिने अपना छै अभिजाति सिद्धांत भी भगवान-पार्श्वनाथ के षटकाय जीव भेद से ग्रहण किया था[१९] और जैन शास्त्र स्पष्ट रीति से उसके जैन मुनि होने की घोषणा करते ही हैं । अतएव जैन मुनि-दशा से भ्रष्ट होकर उक्त प्रकार जैन धर्म से सादृशता रखते हुये सिद्धांतों का प्रतिपादन करना उसके लिए आवश्यक ही था ! उसका शिष्य उपक नामक आजीविक जैन तीर्थंकर अनन्त जिन की भी उपासना करता था । सचमुच आजीविक सम्प्रदाय की उत्पत्ति भगवान पार्श्वनाथजी के दिव्य उपदेश के प्रभाव अनुरूप हुई थी और मक्खलिगोशाल ने भी अन्तत: उसका नेतृत्व स्वीकार कर लिया था[२०] । इसी कारण बौद्ध शास्त्रों में उसका वर्णन हमें महात्मा बुद्ध के समय में एक स्वाधीन मत प्रवर्तक के रूप में मिलता हैं ।[२१] आधुनिक विद्वान् बौद्धों के तत्कालीन कथन को उससे पहले के समय से भी लागू कर देते हैं, यद्यपि यह ठीक है कि महात्मा बुद्ध के धर्मोपदेश देने के पहले ही स्वतंत्र मत प्रवर्तक रूप में वह प्रकट हो गया था । किन्तु इसके अर्थ यह नहीं हो सकता कि मक्खलि कभी जैन मुनि नहीं था और भगवान महावीर ने उससे ही सैद्धांतिक विचार करने की योग्यता प्राप्त करके एक नया संघ स्थापित किया था । जैसा कि किन्हीं लोगों का ख्याल है । आजीविक संप्रदाय का उद्गम जहां जैन धर्म से हुआ था, वहां उसका अन्त भी जैन धर्म के उत्कृष्ट प्रभाव के समक्ष हुआ था । उपरांत काल में आजीविकों का उल्लेख दिगम्बर जैनों के रूप में होता था और वे जैन हो गये थे । (हल्श, साउथ इंडियन इंसक्रिपशन्स, भा. १ पृ. ८८ व आजीविक भा. १) ।

इस प्रकार भगवान पार्श्वनाथजी के तीर्थवर्ती एक अन्य प्रख्यात् ऋषि का वर्णन है । भगवान महावीर के सर्वज्ञ पद पाते ही वह उनसे विलग हो गया था और आजीविक संप्रदाय का नेता बनकर परिणामवाद और अज्ञान का प्रचार करने लगा था !

मौद्गलायन ऋषि

मक्खलिगोसाल के अतिरिक्त संजय, विजय और मौदगलायन नामक मुनि और थे जो भगवान् पार्श्वनाथ की शिष्य परम्परा में उल्लेखनीय हैं । संजय और विजय यह दोनों चारण (आकाशगामी) जैन मुनि थे और यह भगवान् महावीर के जन्म समय तक विद्यमान थे । इनको किसी प्रकार की सैद्धांतिक संशय विद्यमान थीं; जिसका समाधान इनको भगवान महावीर के दर्शन करते ही हो गया था[२२] । श्वेतांबरों के 'उत्तराध्ययनसूत्र' में भी एक संजय नाम के मुनिका उल्लेख है[२३] परन्तु यह प्रगट नहीं कि वे भी यही मुनि थे । किंतु उधर बौद्ध शास्त्रों में भी एक संजय नामक मत प्रवर्तक का उल्लेख मिलता है और उनके शिष्य मौदगलायन एवं सारीपुत्त वहां बतलाये गये हैं ।[२४] मौदगलायन जैन मुनि थे, यह बात श्री अमितगति आचार्य के निम्न श्लोक से प्रगट है :

''रुष्टः श्रीवीरनाथस्य तपस्वी मौडिलायनः ।
शिष्यः श्रीपार्श्वनाथस्य विदधे बुद्धदर्शनम् ॥६८॥

शुद्धोदन सुतं बुद्धं परमात्मानमब्रवीत् ।
प्राणिनः कुर्वते किं न कोपवैरिपराजिताः ॥६९॥''

इन श्लोकों में मौडिलायन अथवा मौदगलायन नामक तपस्वी को श्री पार्श्वनाथजी की शिष्य परम्परा में बतलाया है । उसने महावीर भगवान से रुष्ट

होकर बुद्ध दर्शन का चलाया था और शुद्धोदन के पुत्र बुद्ध को परमात्मा माना था यह भी कहा है । यहां पर मौदगलायन को बौद्ध मत का प्रवर्तक इसीलिये लिखा है कि मौदगलायन विशेष प्रख्यात और बौद्ध धर्म का उत्कट प्रचारक थे। इस अपेक्षा मौदगलायन को ही बौद्ध धर्म का प्रवर्तक कहा जाय तो कुछ अत्युक्ति नहीं है । इस दशा में यह स्पष्ट है कि जैनाचार्य भी उन्हीं मौद्‌गलायन का उल्लेख कर रहे हैं; जिनके गुरु संजय बताये गये हैं और जब स्वयं मौदगलायन जैन मुनि थे, तो उसके गुरु भी जैन मुनि होना चाहिये । सौभाग्य से इनके गुरु संजय का जैन मुनि होना अन्य रूप में भी प्रमाणित है और यह संजय एवं जैन शास्त्र के चारण ऋद्धिधारी मुनि संजय संभवत: एक ही व्यक्ति हैं। पहले संजय की शिक्षायें जो बौद्ध शास्त्रों में अंकित है[२५] वह जैनियों के स्याद्वाद सिद्धांत की विकृत रूपान्तर ही हैं ।

इससे इस बात का समर्थन होता है कि स्याद्वाद सिद्धांत भगवान महावीर से पहले का है, जैसे कि जैनियों की मान्यता है और उसको संजय पार्श्वनाथजी की शिष्य परंपरा के किसी मुनि से सीखा था; परन्तु वह उसको ठीक तौर से न समझ सका और विकृत रूप में ही उसकी घोषणा करता रहा । जैन शास्त्र भी अस्पष्ट रूप में इसी बात का उल्लेख करते हैं, अर्थात् वह कहते हैं कि संजय को शङ्कायें थी जो भगवान महावीर के दर्शन करने से दूर हो गई ! यदि यह बात इस तरह से नहीं थी तो फिर भगवान महावीर और महात्मा बुद्ध के समय के इतने प्रख्यात् मत प्रवर्तक का क्या हुआ, यह क्यों नहीं विदित होता ? इसलिए हम जैन मान्यता को विश्वसनीय पाते हैं और देखते है कि संजय अथवा स्वयं वैरत्थीपुत्र[२६] जो मौद्गलायन के गुरु थे, वह जैन मुनि संजय ही थे । दूसरी और इस व्याख्या की पुष्टि इस तरह भी होती है कि इन संजय की शिक्षा की

सादृश्यता यूनानी तत्त्ववेत्ता पैर्रहो की शिक्षाओं से बतलाई गई है[२७] ।

एक तरह से दोनों में समानता है और इस पैर्रहोने जैम्नोसूफिट्स सुफियों से, जो ईसा से पूर्व की चौथी शताब्दि में यूनानी लोगों को भारत के उत्तर पश्चिमीय भाग में मिले थे, यह शिक्षा ग्रहण की थी ।[२८] यह जैम्नोसूफिट्स तत्वेत्ता निर्ग्रंथ (दिगम्बर) साधुओं के अतिरिक्त और कोई नहीं थे ।[२९] यूनानियों नें इन साधुओं का नाम 'जैम्नोसुफिट्स' रखा था । अतएव जैन साधुओं से शिक्षा पाये हुये यूनानी तत्त्ववेत्ता पैर्रहोकी शिक्षाओं से उक्त संजय की शिक्षाओं का सामञ्जस्य बैठ जाना, हमारी उक्त व्याख्या की पुष्टि में एक और स्पष्ट प्रमाण है । इस अवस्था में भगवान् पार्श्वनाथजी की तीर्थ परम्परा के संजय और मौद्गलायन नामक प्रख्यात् साधुओं का स्पष्ट परिचय प्रगट हो जाता है । सचमुच भगवान पार्श्वनाथजी की शिष्य परम्परा में से महात्मा बुद्ध, मक्खलिगोशाल और मौद्गलायन का विलग होकर अपने नये मत स्थापित करना इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि भगवान पार्श्वनाथजी के दिव्योपदेश का प्रभाव उस समय प्रबल रूप में सर्वव्यापी हो गया था और उसके कारण सैद्धान्तिक वातावरण में हलचल खड़ी हो गई थी !

इस प्रकार भगवान पार्श्वनाथजी की शिष्य परम्परा के प्रख्यात् शेष शिष्यों के चरित्र का भी सामान्य दिग्दर्शन हम यहां कर लेते हैं । इनके अतिरिक्त और भी किन्हीं मुनियों का उल्लेख भगवान के तीर्थवर्ती महापुरुषों का परिचय कराते हुये स्वयमेव हो जायगा ! इसके आगे हम श्वेतांबरियों के पार्श्वचरित में आये हुये किन्ही प्रख्यात् व्यक्तियों का विवरण दे देना उचित समझते हैं, जब कि हमारा उद्देशय भगवान के शासन का यथासंभव पूर्ण परिचय उपस्थित कर देना है ।

सन्दर्भ

१ - महापरिनिव्वान सुत्त (PTS.VOl. II) पृ. १५०
२ - 'वीर' वर्ष ३ अंक १२-१३ पृ. ३१८ - १९ ।
३ - दीघनिकाय (P.T.S. Vo. II) पृ. ५३-५४
४ - यहांपर देव या ईश्वर को नहीं मानने का भाव स्पष्ट है।
५ - इसमें स्पष्टत: अक्रियावाद को स्वीकार किया गया है, जिसका भाव यही है कि कुछ मत करो, स्वच्छन्द रहो, शून्यता में मत बनो । जैसे दिगम्बर शास्त्रकार का कथन है ।
६ - सूत्रकृतांग २ -१ -३४५ ।
७ - आजीविक्स भाग १ पृ. १२ ।
८ - अंगुत्तरनिकाय भाग ३ पृ. ३८३ ।
९ - इन्डियन एन्टीक्वेरी भाग ४३ ।
१० - भगवती सूत्र १५ - १६ ।
११ - आचारांग सूत्र (S.B.E) पृ. ८० ।
१२ - आजीविक्स भाग १ पृ. १७; जैनसूत्र (S.B.E. YOL XLV) भाग २ भूमिका १ ।
१३ - पूर्व दोनों प्रमाण; हिस्टारील ग्लीनिग्स पृ. ३८ - ४१ और प्री. बुद्धिस्टिक इन्डियन फिलासफी पृ. ३७४ और ३८१ ।
१४ - विशद विवेचन के लिए 'वीर' वर्ष ३ अंक १२-१३ देखना चाहिये ।
१५ - आजीविक्स भाग १ पृ. ४२-४५ ।
१६ - जैनसूत्र S.B.E. भाग १ भूमिका ।
१७ - इन्सा श्लो. आफ रिलीजन एण्ड इथिक्स भाग २ पृ. १९९ ।
१८ - आजीविक्स भाग १ पृ. ४१ ।
१९ - दीघनिकाय (S.B.E.) भाग २ पृ. ५३-५४।
२० - प्री-बुद्धिस्टिक इन्डियन फिलासफी पृ. ३०३ ।
२१ - भगवान् महावीर पृ. १७३ और वीर वर्ष ३ अंक १२-१३ ।
२२ - दीघनिकाय-सामण्ण फलसुत ।
२३ - उत्तरपुराण पृ. ६०८ और महावीरचरित पृ. २५५ ।
२४ - उत्तराध्ययन (S.B.E.) पृ. ८२ ।
२५ - महावग्ग १-२३-२४ ।
२६ - धर्मपरीक्षा अध्याय १८ ।
२७ - हिस्टारीकल ग्लीनिन्गास पृ. ४५ ।
२८ - 'समन्नफलसुत्त' 'डायोलॉग्स आफ बुद्ध' (S.B.B.II)
२९ - महावस्तु भाग ३ पृ. ५९.
३० - हिस्टारीकल ग्लीनी. पृ. ४५.
३१ - पूर्व प्रमाण.
३२ - अन्साइक्लोपेडिया ब्रेटेनिका भाग ३५.

तीर्थंकर पार्श्वनाथ का निर्वाण

कुर्वाणः पंचभिमासैर्विरहीकृतसप्तर्ति ।
संवत्सराणां मासं स संहृत्य विहतिक्रियां ॥१५५॥

षट्त्रिंशन्मुनिभिः सार्द्धं प्रतिमायोगभास्थितः ।
श्रावणे मासि सप्तम्यां सितपक्षे दिनादि मे ॥१५६ ॥

भागे विशाख नक्षत्रे ध्यानद्वयसमाश्रयात् ।
गुणस्थानद्वये स्थित्वा सम्मेदाचल मस्तके ॥१५७॥

तत्कालोचितकार्याणि वतयित्वायथाक्रमं ।
निःशेषकर्मनिर्नाशान्निर्वाणं निश्चलं स्थितः ॥१५८॥

- श्री गुणभद्राचार्य

मन्द मन्द पवन चल रहा था, नीलाकाश सुहावने बादलों से मण्डित हो रहा था । अरुण सूर्योदय अपनी मन्द मुस्कान छोड़ते हुये एक झांकी भर लगा रहे थे; मानो भगवान पार्श्वनाथजी के अतुल वैभव को देखकर वह अपना मुंह ही छिपा रहे हों । पावस ऋतु थी । श्रावण का महीना था । वृक्ष लता, पशु-पक्षी और नर-नारी सब के हृदयों में मोदभाव छा रहा था । सब ही प्रसन्न हुये मीठे मीठे राग अलाप रहे थे ! शुक्लपक्ष अपनी विमलता का परिचय दे रहा था। मानों स्पष्ट ही कह रहा था कि मैं सार्थक नाम हूं । जैसा मेरा नाम है वैसा मेरा काम है । शुक्ल भावों का पूर्ण प्रार्दुभाव मेरे ही शुक्ल आलोक में हो सकता है । मेरे ही धवल रूप का साथी इस विशाखा नक्षत्र में आज अपना वैभव दिखला सकता है । आज का दिन ही इस पुनीत संसर्ग से हमेशा के लिये

पवित्र और पावन बन गया है । वह देखिये प्राकृत संकेतों को पाकर इस दिव्य अवसर पर स्वर्ग लोक के देव गण भी आ रहे हैं । इन्द्र-इन्द्राणी और देव देवाङ्गनायें अपने अपने विमानों में बैठे हुये जय जयकार करते हुये चले आ रहे हैं । सब ही पुलकित बदन हो रहे हैं । इधर पृथ्वी पर देखिये तो सब ही राजा महाराजा, सेठ और साहूकार प्रसन्नता पूर्वक भगवान पार्श्वनाथ की विरुदावलि गाते बढ़े चले आ रहे हैं । पशु-पक्षी और वृक्ष लतायें भी प्रफुल्लित हुये दृष्टि पड़ रहे हैं । जरा और नजर पसारिये, देखिये । दिशायें निर्मल हो गई हैं - भव्य शैल महामनोहर दीख रहा है । यह श्रावण शुल्क सप्तमी का दिवस ही अनुपम है ।

भला यह दिवस अनुपम क्यों है ? इस रोज इन्द्र और देव, राजा और प्रजा कब और क्यों आनन्द मनाने आये थे ? आये थे तो कहां आये थे ? इन सब प्रश्नों का समाधान भगवान पार्श्वनाथजी के शेष जीवन पर नजर डालने से हल हो जाता है, शास्त्रों में बतलाया गया है कि भगवान् पाश्र्वनाथजी ने विहार और धर्म प्रचार में पांच महीने कम सत्तर वर्ष व्यतीत किये थे । उपरान्त वे श्रीसम्मेदाचल पर्वत की परमोच्च शिखर पर आन कर विजामान हुये थे । जिस महापवित्र पर्वत राज की टोकों पर से परमगुणधारी अनंत मुनीन्द्र और कई तीर्थंकर भगवान समस्त कर्मों का नाश करके मोक्ष पधारे थे, वह इन भगवान को अपने अङ्क में धारण करते फूला न समाया था ! देव दुन्दुभि की प्रतिध्वनि रूप जो महाप्रिय आनन्द ध्वनि उसकी गुफाओं में से निकलती थी, वह उसके प्रसन्न भावों को प्रकट कर रही थी ! त्रिजगपूज्य भगवान को अपने अञ्चल में पाकर भला वह क्यों न प्रमुदित होता ? वह उनको पाकर हमेशा के लिये पवित्र हो गया । देश विदेशों में उसका नाम हो गया ! देवों ने भी उसकी गुण ग्राहकता

का मूल्य उसी समय चुका दिया । उन्होंने उसकी सर्वोच्च शिखर का नाम, जिस पर भगवान् पार्श्वनाथजी आ विराजमान हुए थे, सुवर्ण भद्रकूट रख दिया । उसके उस सुवर्णमयी कूट पर विराजित भगवान् परम शोभा को धारण किये हुये थे । तिस पर देवों द्वारा की गई पुष्पों की वृष्टि भगवान् के लिये स्वयंवर माला सरीखी ही जान पड़ती थी; मानो मोक्षसुंदरी ने स्वयं ही आकर उन भगवान् को वर लिया हो ।

भगवान् ने श्रीसम्मेद शिखिर पर आकर अपनी समवशरण विभूति का त्याग कर दिया था । वह विभूति स्वयं ही विघट गई थी । भगवान् इस प्रकार समस्त सभा से विमुक्त हो कर एक मास का योग निरोध करके विराजमान हो गये थे । उनके साथ छत्तीस मुनिराज और थे । वे भगवान् प्रतिमा योग में तिष्ठ रहे थे । श्रावण शुक्ला सप्तमी के सबेरे ही उन्होंने तीसरे और चौथे शुक्ल ध्यानों का आश्रय लिया था और शेष चार अघातिया कर्मों का नाश करके वे अ, इ, उ, ऋ, लृ. इन पांच शब्दों के उच्चारण करते जितने समय तक अयोग केवली पद में प्राप्त रह कर मुक्ति धाम में जा विराजमान हुये थे । अचल मोक्षस्थान में वह परमात्मा रूप में जाकर तिष्ठ गये थे । लोक की शिखर पर हमेशा के लिये पूज्यपने को प्राप्त हो गये थे ! सबसे बड़े पद को व पा चुके थे, समस्त प्राणी उनके चरणों के आश्रय में रह रहे हैं !

भगवान् पार्श्वनाथजी के मोक्ष प्राप्त करते ही इंद्रादि देवों ने उनके निर्वाण कल्याण की पूजा की और बड़ी भक्ति से उन प्रभु की वंदना करने लगे । उपरांत उन्होंने श्री जिनेन्द्र भगवान के दिव्य देह की दग्धक्रियाँ की; यथा !

''तब इंद्रादिक सुरसमुदाय, मोख गये जाने जिनराय ।
श्री निर्वानकल्यानक काज, आये निज निज वाहन साज ।।

परमपवित्त जानि जिनदेह, मुनिसिविकापर थापी तेह ।
करी महापूजा तिहिं बार, लिये अगर चंदन घनसार ।।३०७।।

और सुंगध दरब सुचि लाय, नमें सुरासुर सीस नमाय ।
अगनिकुमार इंदू तैं ताम, मुकुटानल प्रगटी अभिराम ।।३०८।।

ततखिन भस्म भई जिनकाय, परमसुंगध दसौं दिसिथाय ।
सो तन भस्म सुरासुर लई, कंठ हिये कर मस्तक ठई ।।३०९।।

भक्तिभरे सुर चतुरनिकाय, इह विध महा पुण्य उपजाय ।
कर आनंद निरत बहु भेव, निज निजथान गये सब देव ।।३१०।।

इस प्रकार निर्वाण उत्सव मना कर देवगण सुर लोक को चले गये थे । किन्ही शास्त्रकारों का मत है कि देवों ने भगवान् के निर्वाण स्थान पर मणिमई स्तूप बना दिया था[२] ! इस तरह भगवान् पार्श्वनाथ जी परमपद को प्राप्त हो गये थे । एक सामान्य हाथी का जीव आत्मोन्नति करते करते परमोच्च दशा को प्राप्त हो गया ! यह धर्म की महिमा का फल है ! नियमित इंद्रिय निग्रह और सत्य अद्यवसाय बड़े से बड़े कार्य की पूर्ति कर देता है । कितनी भी छोटी दशा का जीव उपेक्षणीय नहीं है । वह भी अपने आत्म बल अथवा सद् प्रयत्नों द्वारा सब कुछ कर सकता है । नीच दशा के प्राणियों को साहस दिलाने वाला भगवान् का पवित्र जीवन सर्व सुखकारी है ! उसका अध्ययन और मनन भला किसको आनन्द का कर्ता न होगा ?

निर्वाण काल

भगवान् पार्श्वनाथ का निर्वाण अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान् महावीर जी के निर्वाण काल से ढाई सौ वर्ष पहले हुआ, शास्त्रों में बतलाया गया है ।[३] और भगवान महावीरजी का जन्म काल आजकल ईसवी सन से ५९९ वर्ष पहले माना जाता है ।[४] इस अपेक्षा भगवान् पार्श्वनाथ का जन्म काल ईसवी सन् से ८७७ वर्ष पूर्व प्रमाणित होता है और चूंकि उनकी अवस्था सौ वर्ष की थी; इसलिये उनका निर्वाण समय ईसा से पूर्व ७७७ वर्ष ठीक बैठता है । किन्तु कोई कोई महाशय उनका जन्म समय ईसा से पहले ८१७ वर्ष में मानते हैं ।[५] परन्तु हमनें विशेष रीति से भगवान महावीर का निर्वाण काल ईसा से पूर्व ५४५ वर्ष में स्थापित किया है । अतएव भगवान् पार्श्वनाथजी के मोक्ष लाभ करने की घटना ईसा से पूर्व ७९४ वर्ष में घटित हुई मानना ठीक जंचता है और इस दशा में भगवान का जन्म ईसा से पूर्व ८९५ वर्ष में, गृहत्याग ईसवी सन् से ८६५ वर्ष पहले और केवलज्ञान ईसा से पूर्व चार महीने कम ८६५ वर्ष में हुआ सिद्ध होता है ।

इस प्रकार भगवान् पार्श्वनाथ कब हुये यह स्पष्ट हो जाता है । किन्तु देखना यह है कि यह पर्वतराज श्री सम्मेदशिखिर कहाँ था कि जहां से भगवान ने मोक्षलाभ किया था । आजकल झारखण्ड प्रान्त के हजारीबाग जिले का सम्पेदाचल ही यह पर्वत माना जाता है और हजारों श्रावक प्रतिवर्ष उसकी वंदना करने जाते हैं । प्राचीनकाल से इसी को सम्मेदशिखिर मानकर लोग यात्रा करने आते थे, यह प्रकट है । 'उत्तर पश्चिम से आनेवाले पटना और नवादा से खड़गदिह होकर पालगंज आते थे । वहां से यह पर्वत निकट ही है । दूसरी ओर दक्षिण और पूर्व के यात्री इस सड़क से आते थे जो मानभूम के जैयुर

स्थान से चलकर नवागढ़ होती हुई पालगंज को जाती है । ये सड़कें सन् १७७० ई. से पहले काम में आतीं थी ।[९] अतएव यही प्रतिभाषित होता है कि जिस पर्वत से भगवान पार्श्वनाथजीने मोक्षलाभ किया था यह यही पर्वत है ।

पहले के एक परिच्छेद में रावण की दिग्विजय का उल्लेख करते हुए भी यह देखा जा चुका है कि आधुनिक हिमालय और मध्य प्रान्त के बीचवाली पृथ्वी में कहीं पर सम्मेलाचल था । माहिष्मती नगर से चलकर रावण को कैलाश पहुंचने के पहले सम्मेदशिखर के दर्शन हो गये थे । अस्तु; यह मानना ठीक है कि आजकल का सम्मेद शिखर या पारसनाथ हिल ही प्राचीन सम्मेदाचल है ।

भगवान् पार्श्वनाथ के निर्वाण स्थान होने की अपेक्षा ही सम्मेदशिखिर अधुना पारसनाथ हिल और इसको समीपस्थ स्टेशन भी पारसनाथ के नाम से प्रख्यात है । यह विहार-उड़ीसा प्रान्तस्थ छोटे नागपुर के हजारीबाग में २३°-५८' उत्तर और ८६°-८' पूर्व अक्ष रेखाओं पर स्थित है ।

क्रूक साहब इसकी प्रशंसा इन शब्दों में करते हैं कि - ''पर्वत संकीर्ण पर्वत माला से वेष्टित है, जिसमें अनेक शिखर हैं । यह पर्वत माला अर्धचंद्रकार है और सबसे ऊंची चोटी ४४८० फीट की है । यह जैनियों के तीर्थस्थानों में एक है । जैनी इसे सम्मेदशिखिर कहते हैं । इस पर्वत पर से बीस तीर्थंकर मोक्ष हुये बतलाये जाते हैं । इसका 'पारसनाथ हिल' नाम २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की अपेक्षा ही पड़ा है । जैन संप्रदाय की जो एकान्तवासी प्रकृति है उसी के अनुसार उन्होंने इस निरापद स्थान को जिसके प्राकृत सौन्दर्य को देखते हुये ठीक ही अपना पवित्र स्थान माना है । पर्वत की तलहटी स्थित मधुपरु से या मधुवन चलकर जब तीन मील पर्वत पर चढ़ जाते हैं तो झट एक

मोड़ के साथ ही जैन मंदिर दृष्टि पड़ने लगते हैं । यहां से मंदिरों की तीन पंक्तियां एक दूसरे के ऊपर स्थित सी नजर पड़ती है; जिन में करीब पन्द्रह चमकती हुई शिखरें दिखाईं देती हैं । इन शिखरों पर सुनहले कलश चढ़े हुये रहते हैं तथापि श्वेतांबरों के मंदिर में लाल और पीली ध्वजायें फहराती रहती हैं । यह सब ही पर्वत के श्याम वर्ण में सफेद महलों का चमकता हुआ बड़ा समुदाय ही दीखता है । यहां तीन मुख्य मंदिर हैं.... (एक पार्श्वनाथजी का भी इन्हीं में है) इन मंदिरों में अब योरूपियन लोगों के पुहंचने की मनाई है, किन्तु सन् १८२७ ई.में एक अग्रेज ने इनके दर्शन किये थे । उन्होंने पार्श्वनाथ भगवान की नग्न मूर्ति को ध्यानाकार में उनके सर्प चिन्ह से मंडित यहां पाया था[७] । सूमचे पर्वत पर और बहुत से मंदिर हैं, जिनकी प्रत्येक जैनी अवश्य ही वंदना करता है ।

यह प्रवर्ति भगवान् पार्श्वनाथजी के मंदिर की वंदना और पर्वत की परिक्रमा के साथ पूर्ण होती है, परिक्रमा करीब तीस मील की है ।''[८] यहां सर्व प्राचीन मंदिर १७६५ ई.की. है ।[९] दिगम्बर सम्प्रदाय भी यहां प्राचीन काल से पूजा वन्दना करता आया है और मूल में इसी संप्रदाय की प्रतिमा श्री पार्श्वनाथजी की टौंक पर विराजमान रही हैं । इस भव्य स्थान के दर्शन करते ही आनन्द से शरीर रोमांच हो उठता है, और यात्री पुलकित वदन हो सारे दुःख संकट भूल जाता है । तीर्थंकर भगवान् के चरण कमलों से पवित्र हुआ स्थान अवश्य ही अपना प्रभाव रखता है ।

जिन बुरी आदतों को मनुष्य अन्यत्र लाख प्रयत्न करने पर भी नहीं छोड़ता उन्हीं को वह यहां बात की बात में त्याग देता है । यह इस पुण्य स्थान का पवित्र प्रभाव है, जैनियों में इसका आदर विशद है । प्रत्येक जैनी को

विश्वास है कि इसकी एकवार वन्दना करने से ही दुर्गति का बास छूट जाता है। इस तरह भगवान के पवित्र निर्वाण परिचय है।

भगवान के निर्वाण कल्याण के दिग्दर्शन करके प्रत्येक हृदय अपने को कृत कृत्य मानता है। इस परिच्छेद में उसी के परोक्ष दर्शन हो रहे है और यह आत्म कल्याण का प्रकट कारण है। इसके स्मरण मात्र से ही सुखों की प्राप्ति होती है; क्योंकि जिनेन्द्र देव की भक्ति सर्व सुखों को प्रदान करनेवाली है। इसलिए श्री जिनेन्द्र भगवान पार्श्वनाथजी के प्रति बारम्बार नमस्कार है।

सन्दर्भ

१ - पार्श्वनाथचरित् (कलकत्ता) पृ. ४१७।

२ - *किन्हीं लोगों का कहना है कि तीर्थंकर भगवान् की दिव्यदेह कपूर तरह खिर जाती है* और देवलोग अपनी भक्ति को प्रदर्शित करने के मायामई शरीर रचते एवं उनकी दग्ध क्रिया करते है। तथा नख शिख को ले जाकर वे क्षीरसमुद्रमें स्थापन करते हैं।

३ - श्री भावदेवसूरि ने ऐसा उल्लेख अपने पार्श्वनाथ चरित में किया है।

४ - उत्तरपुराण पृ. ६०७।

५ - भगवान् महावीर पृ. २१३ और जैन सूत्र (S.B.E) भाग २ भूमिका।

६ - लाइफ एण्ड स्टोरीज ऑफ पार्श्वनाथ, प्रस्तावना। पृ. ९ नोट २।

७ - भगवान महावीर और म. बुद्ध पृ. १११-११४।

८ - बंगाल बिहार जैन स्मारक पृ. ४०।

९ - In recent times to European has been allowed to enter the temples; but a visitor, who examined them in 1827 found the image of Parsvanath to represent the saint, sitting naked in the attitude of meditation, his head Shielded by the sanke, which is his special emblem. W Crooke. in ERE.

१० - इन्साइल्कोपेडिया ऑफ रिलीजन एन्ड ईथिक्स - पारसनाथ हिल।

११ - बं. बि. जैनस्मार्क पृ. ४०।

❑

तीर्थंकर पार्श्वनाथ और महावीर

पार्श्वेशतीर्थसन्ताने पंचशदद्विशताब्दके ।
तदभ्यन्तरवर्त्यायुर्महावीरोत्र जानवान् ॥२७९॥

- उत्तरपुराण

भगवान् पार्श्वनाथजी को मुक्तिलाभ हो गया; किन्तु फिर भी उनका तीर्थ महावीर स्वामी के जन्म समय तक चलता रहा । भगवान् पार्श्वनाथ से महावीर स्वामी ढाई सौ वर्ष बाद हुये थे । इस अन्तराल काल में उनकी आयु भी गर्भित थी । भगवान् पार्श्वनाथ वर्तमान युग के तेईसवें तीर्थङ्कर थे और भगवान् महावीर चौबीसवें अथवा सर्व अन्तिम तीर्थंकर थे । प्रत्येक युग में सनातन रीति से प्रत्यक्षत: चौबीस तीर्थंकर होते हैं । यह एक समान महान् पुरुष होते हैं। इसी तरह भगवान पार्श्वनाथ भी एक जीवित परमात्मा थे और अनुपम थे और महावीर स्वामी भी सशरीरी परमात्मा और लासानी थे । हां, प्रत्येक तीर्थंकर का संबंध होता है तो केवल इतना ही कि पूर्वागामी तीर्थंकर की शिष्य परंपरा उपारन्त के तीर्थंकर की शरण में स्वत: पहुंच जाती है । वह पूर्व तीर्थंकर के पवित्र मुख से परंपरीण यह सुन चुकती है कि आगामी अमुक तीर्थंकर होंगे उनके द्वारा जैन धर्म का उद्योत पुन: होगा उसी अनुरूप उन तीर्थंकर के शिष्य आगामी तीर्थंकर के आगमन की वाट जोहते रहते हैं । उनके आगमन के साथ ही वे उनकी शरण में पुहंच जाते हैं । प्राकृत एक तीर्थंकर के समागम से विलग होकर वे दूसरे तीर्थंकर के समागम में पहुंचने के उत्सुक रहते हैं । उनके लिये यह आवश्यक नहीं होता है कि वे अलग बने रहें । उनको तो तीर्थंकर भगवान के आगमन की उत्कण्ठा रहती है और उसी अनुरूप वे उनकी शरण में स्वत:

ही पुहंच जाते हैं । भगवान पार्श्वनाथ और महावीर स्वामी के विषय में भी यही हुआ था ।

पार्श्व भगवान से ८३,७५० वर्ष पहले श्री नेमिनाथ स्वामी ने, जो २२ वें तीर्थंकर थे, अपनी दिव्य ध्वनि से यह बतला दिया था कि आगामी इतने २ अन्तराल काल से पार्श्व और वर्द्धमान नामक दो तीर्थंकर और होगें[१] । साथ ही उन्होंने इन तीर्थंकरों की खास जीवन घटनाओं को भी बता दिया था । यही बात भगवान् महावीरजी के सम्बन्ध में हुई थी । भगवान् पार्श्वनाथजी के मुखारबिंद से लोगों को मालूम पड़ गया था कि अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी द्वारा एक बार जैन धर्म का उद्योत होना और शेष है ।

जिस तरह भगवान् महावीर के उपदेश अनुसार आज हमको आगामी होनेवाले तीर्थंकरों के नाम आदि का पता चल चुका है, उसी तरह पार्श्वनाथजी की शिष्य परंपरा को महावीर स्वामी के होने का परिचय मिल चुका था । इसलिये भगवान् पार्श्वनाथजी की शिष्य परंपरा के शिष्य भगवान् महावीर के आगमन की बाट जोह रहे थे और वे स्वत: उनकी शरण में आये थे ।

किन्तु किन्हीं अजैन विद्वानों का यह अनुमान है कि भगवान् पार्श्वनाथ और महावीर स्वामी के तीर्थंकरपने में अन्तर था और इन दोनों तीर्थंकरों के शिष्य भगवान् महावीरस्वामी के समय में भी अलग थे; यद्यपि वे आखिर दोनों मिलकर एक हो गये थे । इसके लिये वे श्वेताम्बरों के उत्तराध्ययमन सूत्र की वह घटना उपस्थित करते हैं जो श्री गौतमस्वामी और केशी श्रमण के संवाद रूप में वहां मिलती है । डॉ. बेनीमाधव बारुआ महोदय, इसी बात को लक्ष्य करके दोनों तीर्थंकरों के आपसी सम्बन्ध को इन शब्दों में प्रकट करते हैं । वे लिखते हैं कि - ''महावीर स्वयं अपने शिष्यों में निगन्ठ अथवा निर्गंथ नाम से परिचित

थे । यही नाम अर्थात् निर्गन्थ पार्श्व के तीर्थ संघ से भी लागू था, जिन्हें जैनी २३ वें तीर्थंकर बतलाते हैं । यहां यह प्रश्न समुचित है कि वस्तुत: महावीर के सैद्धांतिक पूर्वागामी रूप में क्या पार्श्व स्वीकार किये जा सकते हैं ? स्पष्टत: नहीं; क्योंकि ऐसा कोई भी साधन प्राप्त नहीं है जिससे पार्श्व एक सिद्धान्तवेत्ता (Philosopher) प्रामाणित हो सकें । पार्श्व महावीर के पूर्वागामी अवश्य थे, किन्तु एक विभिन्न प्रकार के ! वह प्राचीन तापसों की भांतिके एक साधु थे; जिनने कि महावीर और बुद्ध के पूर्वागामी (जिनों, बोधिसत्वों) जैसे मिथिला के राजा निमि और अरिष्टनेमि के समान ही त्याग धर्म (Life of renunciation) पर अधिक जोर दिया था । यह विदित होता है कि महावीर ने गृह त्यागकर उस संघ का आश्रय लिया था जो पार्श्व के बताये हुये नियमों का पालन करता था । नाथवंशी क्षत्रियों की समूचा संप्रदाय (देखो उवासगदसाओ ६) अथवा महावीरजी के पितृगण तो अवश्य ही (आचाराङ्ग २।१५-१६) भगवान् पार्श्व के संघ के उपासक थे । इस अवस्था में यह अनुमान करना सुगम है कि महावीर की दृष्टि स्वभावत: पार्श्व संघ की ओर गई होगी । (हार्ट ऑफ जैनीज्म पृ. ३१) प्रो. जैकोबी ने पार्श्व और महावीर तीर्थंकरों के पारस्परिक सम्बन्ध पर ठीक प्रकाश डाला है । (जैन सूत्र S.B.E भाग २ ष्ट. १९-२२ भूमिका) उन्होंने ठीक ही कहा है कि पहले दो विभिन्न निग्रन्थ संघ थे, जिनके सिद्धान्तों में केवल 'चार व्रत' अथवा 'चार नियम' ही समान थे । और आखिर इसी भेद के कारण उपरांत दो बड़े भेद हो गये थे ।

पालि भाषा के 'सामन्नफलसुत्त' नामक बौद्ध ग्रन्थ में जो सिद्धान्त महावीर का बताया गया है उसे मूल में कम से कम 'चातुर्याम् संवर' शब्द रूप में तो अवश्य ही पार्श्व का बताना उक्त प्रो. साहब का ठीक है । इस सिद्धान्त में

बताया गया है कि महावीरजी के अनुसार आत्मा-संयम, आत्म निग्रह और ध्यान एकाग्रता का मार्ग 'चातुर्याम संवर'में सीमित है । यह संवर पानी के व्यवहार से विलग रहने, पाप से दूर रहने आदि रूप है ।.... प्रो. हीस डेविड्स ने प्रो. जकोबी के भाव को समझा नहीं है, तब ही वह कहते हैं कि 'उनके मत से चार नियम पार्श्व के चार व्रत थे।' प्रो. जैकोबी ने यह कहीं नहीं कहा है।.... इस तरह जैकोबी के साथ यह मानना ठीक है कि सामन्तफलसुत में जिन चार नियमों का उल्लेख किया गया है वह गलत है और जो सिद्धांत महावीर का बताया गया है वह न उनका है और न उनके पूर्वागामी तीर्थंकरों का; यद्यपि उस में किसी के विरुद्ध भी कुछ नहीं है । क्योंकि जैन ग्रन्थों के अतिरिक्त बौद्धों के मज्झिभनिकाय (२।३५-३६) के एक सूत्र से ज्ञान होता है कि महावीर की दृष्टि में मोक्षमार्ग अहिंसा, अचौर्य, शील, सत्य और तपोगुण जैसे नग्नपरीषह, उपवास, आलोचना आदि रूप था ।.... इसलिये जैन और बौद्ध दोनों के आधार से यह कहा सकता है कि इनमें से पहले के चार नियमों का विधान पार्श्व द्वारा हुआ था और उनमें अंतिम महावीरजी द्वारा बढ़ा दिया गया है ।

''अब अपने समय के प्रतिष्ठित तीर्थंकरों, पार्श्व और महावीर का पारस्परिक अन्तर स्पष्ट नजर पड़ता है अथवा यूं कहिये कि अब इस प्रश्न का उत्तर दिया जा सकता हैं कि वस्तुत: क्या पार्श्व महावीर के सैद्धांतिक पूर्वागामी पुरुष थे ? पार्श्व का जो थोड़ा सा जीवन विवरण प्राप्त है वह स्पष्ट दिखलाता है कि वह अमली कार्य की ओर अधिक रुचि रखते थे । उनका व्यवस्थापक गुण उल्लेखनीय था । जिस संघ की स्थापना उनके द्वारा हुई थी वह अपने उच्च और कठिन दर्जे के साधु चारित्र के लिए प्रख्यात् रहा था । उन्होंने चार नैतिक

नियमों का पालन करना अपने शिष्यों के लिए आवश्यक बतलाया था । इन्हीं नियमों का पालन करना बुद्ध और महावीर ने भी उचित ठहराया था । पार्श्व के विषय में यदि इन्हीं चार नियमों में उनके चारित्र विधान का अन्त समझ लिया जाय, तो ठीक न होगा । वस्तुतः अतिरिक्त उनके चारित्र विधान में अनेक नियम साधु और उपासकों के लिए और थे । यह कहना भी अत्युक्ति नहीं रखेगा कि निर्ग्रन्थ समाज के समग्र चारित्र नियम पार्श्व और उनके कठिन नैतिक नियमावली विनयवाद या शीलव्रत थी, जिस को महावीर और बुद्ध ने एक स्वर से उचित ठहराया था । दूसरे शब्दों में पार्श्व के चारित्र नियम यद्यपि अच्छे थे, परन्तु उनके निर्मापण क्रम और औचित्य दर्शाने के लिये सैद्धांतिक व्यवस्था की आवश्यकता थी; जिससे वे उछृंखल न जंचे और समाज की सुविधा में भुला न दिये जांय ।.... (उत्तराध्ययन के संवाद से स्पष्ट है कि, पार्श्व का संघ ही नहीं बल्कि एक सैद्धांतिक मत का पृथक् दर्शन था[१]) ।''

इसके आगे डॉ. बारुआ महावीर स्वामी का सैद्धांतिक गुरु गोशाल की अनुमान करते हुए कहते हैं कि - ''जब कालान्तर में महावीर अपना नया संघ स्थापित करने में सफल हुए और उसे कुछ अंश में आजीवकों के समान और शेष में पार्श्व के शिष्यों के अनुसार रखता तो दोनों (निर्ग्रन्थ) संघो में प्रगट भेद नजर पड़ने लगा । जब कि नवीन संघ की सैद्धांतिक उत्कृष्टता पुराने संघ को अन्धकार में डाल रही थी, तब उसके अनुयायियों ने किसी तरह अपने अस्तित्व को बनाये रखना आवश्यक समझा था । प्रत्येक तौर पर प्रतिरोध अथवा प्रति स्पर्धा इसका उपाय न था । उपाय केवल समझौते में था ! उत्तराध्ययन के सम्वाद से प्रगट है कि एक समय अवश्य ही पुराने संघ के अनुयायी समझौते की फिकर में थे ।.... बौद्धों के पासादिक और सामगाम

सूत्रों से उस समय का भी पता चलता है जबकि महावीरजी की मुक्ति के साथ ही उनके शिष्य दो भागो में विभक्त हो गये थे । पार्श्व के अनुयायियों को इस समझौते से नये संघ के सिद्धान्तवाद (Philosophy) को पाने का लाभ हुआ था।''[२]

इस समस्त कथन में इन बातों को प्रगट किया गया है कि:-

(१) भगवान पार्श्वनाथ यद्यपि महावीर स्वामी के पूर्वागामी तीर्थंकर थे; परन्तु उनके निकट वह सिद्धांतवाद उपस्थित न था जो महावीरस्वामी के निकट था ।

(२) महावीरस्वामी ने पार्श्वनाथजी के संघ का आश्रय लिया था । उपरांत उससे सम्बन्ध विच्छेद करके वे मक्खलिगोशाल के साथ रहे थे; जिससे नग्नदशा आदि नियम ग्रहण करके उन्होंने अपना नवीन संघ स्थापित किया था।

(३) महावीरजी के समय में भी निर्गन्थ संघ पृथक २ मौजूद थे; जिनमें 'चतुर्यामव्रत' अथवा 'चतुर्यामसंवर समान थे ।

(४) 'सामन्तफलसुत्त' में चतुर्याम् संवर में जो बातें गिनाई गई हैं वह ठीक नहीं है । वह न महावीरस्वामी के धर्मोपदेश में मिलती हैं और न पार्श्वनाथजी के । तथापि चातुर्यामसंवर नियम महावीर का बतलाना गलत है। वह केवल चातुर्याम रूप में पार्श्वनाथजी से लागू है, जिसका भाव पार्श्वनाथजी के चातुर्यामव्रत, जिसका उल्लेख श्वेतांबरों के 'उत्तराध्ययन सूत्र' में है, उससे है । महावीरस्वामी ने इन व्रतों में अंतिम अर्थात् पांचवा व्रत स्वयं बढ़ा दिया है और उनका विवेचन सैद्धांतिक ढंग से किया है । शीलव्रत नियम

भी उनके खास थे । प्रो. हीस डेविड्स जो प्रो. जैकोबी को चातुर्याम नियम से पार्श्वनाथजी के चार व्रतों का भाव ग्रहण कहते बतलाते हैं वह गलत है । और (५) पार्श्वनाथजी के और महावीरस्वामी के संघों में परस्पर प्रगट भेद था, जिसके कारण यद्यपि पहले दोनों संघ अलग थे; परन्तु उपरांत वे एक हो गये । आखिर महावीरस्वामी के निर्वाण के उपरांत ही वह फिर दो भागों में विभक्त हो गये; जैसे कि बौद्धों के ग्रन्थों से प्रगट है ।

अतएव आइये पाठकगण ! इन पांच बातों के औचित्य पर भी एक दृष्टि डाल लें । उपरोक्त कथन में भी पार्श्वनाथजी को महावीरस्वामी का पूर्वगामी तो स्वीकार किया गया है, परन्तु उनको एक सामान्य साधु बतलाया है, जिनको अपने संघ की व्यवस्था और चारित्र नियमों से ही मतलब था । सिद्धांतवाद (Philosohpy) न उनके लिये आवश्यक था और न वह उनके निकट मौजूद था। कोई भी ऐसा प्रमाण उपलब्ध नहीं है, जिससे यह सिद्ध किया जा सके कि पार्श्वनाथस्वामी एक सैद्धांतिक वक्ता अथवा तत्त्ववेत्ता (Philosopher) थे; किन्तु इसके साथ ही ऐसा भी कोई प्रमाण उपबलब्ध नहीं है जो जैनियों की मान्यता को गलत ठहराकर भगवान् पार्श्वनाथ के निकट सिद्धांतवाद नहीं था, यह प्रगट कर सके । प्रत्युत डॉ. हेल्मुथ वॉन ग्लैसेनप्प ने यही प्रगट स्वीकार किया है, जैसे कि हम पहिले देख चुके हैं कि जैन धर्म के 'मूल तत्त्वों में कोई स्पष्ट फर्क हुआ, ऐसा मानने का कोई कारण नजर नहीं आता और इसलिये महावीरस्वामी के पहले भी जैन दर्शन था, ऐसी जैनों की मान्यता स्वीकार की जा सकती है ।.... जैन धर्म का स्वरूप ही इस बात की पुष्टि करता है; क्योंकि पुद्गल के अणु आत्मा में कर्म की उत्पत्ति करते हैं, यह इसका मुख्य सिद्धांत है और इस सिद्धांत की प्राचीन विशेषता के कारण ऐसा अनुमान किया जा सकता

है कि इसका मूल ई. सन् के पहले ८वीं शताब्दि में हैं ।'[३]

प्रो. डॉ. जार्ल चारपेन्टियर भी स्पष्ट लिखते हैं कि 'पार्श्व की शिक्षा के सम्बन्ध में हमें विशेष अच्छा परिचय मिलता है । यह प्राय: खासकर वैसी थी जैसी कि महावीर और उनके शिष्योंकी थी ?' (देखो केम्बिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया भाग १ पृ. १५४) भारतीय अणुवाद (Atomic Theory) का इतिहास भी जैन दर्शन की प्राचीनता को प्रगट करता है; जैसे कि ऊपर डॉ. ग्लेसेनप्प ने व्यक्त किया है । सचमुच भारतीय दर्शन जैन दर्शन में ही इस सिद्धान्त का निरूपण सर्व प्राचीन मान्यताओं के आधार पर किया गया है । हिन्दुओं में केवल वैशेषिक और न्यायदर्शन नें इसको स्वीकार किया है; परन्तु वहां वह प्राचीन रूप इसका नहीं मिलता है जो जैन धर्म में प्राप्त है (देखो इन्साइक्लोपेडिया ऑफ रिलिजन एण्ड ईथिक्स भाग १ पृ. १९९-२००) इसलिये यह सिद्धान्त भगवान् महावीर के पहले से जैन दर्शन में स्वीकृत था, यह स्पष्ट है । साथ ही बौद्धों के मज्झिमनिकाय (भाग १ पृ. २२५-२२६) में निर्ग्रन्थ पुत्र सच्चक का कथानक दिया है, जिसमें उसके बुद्ध से सैद्धांतिक विवाद करने का उल्लेख है । यह निर्ग्रन्थ पुत्र बुद्ध का समसामयिक था । इस कारण इसका पिता महात्मा बुद्ध से पहले ही मौजूद होता प्रमाणित है । इस अपेक्षा प्राचीन जैन धर्म में भी सैद्धांतिक विज्ञान होने का समर्थन होता है । दूसरे शब्दों में भगवान पार्श्वनाथ के निकट भी जैन दर्शन मौजूद था, यह स्पष्ट हो जाता है ।

तिस पर स्वयं डॉ. बारुआ ने भगवान् पार्श्वनाथजी द्वारा किये हुये जीवों के षट्काय भेद को स्वीकार किया है ।[४] अब यदि उनके मतानुसार यह मान लिया जाय कि भगवान् पार्श्वनाथजी के पास कोई सैद्धांतिक क्रम पदार्थ निर्णय

का नहीं था, क्योंकि वे तत्त्ववेत्ता ही नहीं थे, तो फिर यह कैसे संभव है कि उन्होंने जीवों का षट्कायभेद निरूपित किया हो ? इससे तो यही प्रगट होता है कि पार्श्वनाथजी ने अवश्य ही पदार्थ निर्णय रूप एक सिद्धांतवाद का निरूपण किया था । जब कि जैन शास्त्रों में भगवान् पार्श्वनाथ और महावीरस्वामी के धर्मोपदेश में पारस्परिक अन्तर को स्पष्ट बतलाया गया है, तब यह कुछ जी को नहीं लगता कि उन्होंने इस भारी भेद को प्रगट करना आवश्यक न समझा हो । प्रत्युत बौद्ध शास्त्रों के उल्लेखों से अन्यत्र हम देख चुके हैं कि भगवान् पार्श्वनाथजी के शिष्यगण स्वतंत्र रीति से आत्मवाद को सिद्ध करते थे और उनमें वादी भी थे ।[५] तिस पर पूर्व पृष्ठों में जो हम भगवान् पार्श्वनाथजी के समय एवं उनके बाद के मुख्य मत प्रवर्तकों के सिद्धांतों पर भगवान् पार्श्वनाथजी के सैद्धांतिक उपदेश का प्रभाव पड़ा देख चुके हैं, उससे स्पष्ट है कि भगवान् पार्श्वनाथ द्वारा भी वैसा ही जैन दर्शन निरुपित हुआ था जैसा कि भगवान् महावीरजी की दिव्य ध्वनि से प्रगट हुआ था । तीर्थंकरों के धर्मोपदेश में मूल तत्त्वों की स्थापना एक समान होती है, यह हम पहले ही देख चुके हैं । इसलिए यह मानना कुछ ठीक नहीं जंचता कि भगवान् पाश्वनाथजी द्वारा सिद्धांतवाद का प्रतिपादन नहीं हुआ था और वे एक सिद्धांतवेत्ता नहीं थे ।

किन्तु डॉ. बारुआ ने यह निष्कर्ष उत्तराध्ययन के उस अंश से निकाला है जिसमें कहा गया है कि 'पहले के ऋषि सरल थे, परन्तु समझ के कोता थे और पीछे के ऋषि अस्पष्टवादी और समझके कोता थे; किन्तु इन दोनों के मध्य के सरल और बुद्धिमान थे ।.... पहले के मुश्किल से धर्म-व्रतों को समझते थे और पीछे के मुश्किल से उनका आचरण कर सकते थे । परन्तु मध्य के उनको सुगमता से समझते और पालते थे ।'[६] इसके साथ ही दिगम्बरों के 'मूलाचार'

जीमें भी करीब करीब ऐसा ही कथन मिलता है, जैसे कि पूर्व में देखा जा चुका है । वहां लिखा है कि आदि तीर्थ में शिष्य मुश्किल से शुद्ध किये जाते हैं, क्योंकि ये अतिशय सरल स्वभावी होते हैं और अन्तिम तीर्थ में शिष्यजन कठिनता से निर्वाह करते हैं, क्योंकि वे अतिशय वक्र स्वभाव होते हैं । साथ ही इन दोनों समयों के शिष्य स्पष्ट रूप से योग्य अयोग्य को नहीं जानते हैं ।' इन कथनों से अवश्य ही यह प्रमाणित होता है कि मध्यवर्ती तीर्थंकरों के शिष्य, जिनमें भगवान पार्श्वनाथजी के शिष्य भी सम्मिलित हैं सरल बुद्धिमान् और धर्म को नियमित ढंग से पालनेवाले थे । वे उस प्रकार वक्र नहीं थे और न उतनी हील हुज्जत धार्मिक विषयों में करते थे जितनी कि पहले श्री ऋषभदेव और अन्तिम श्री वर्द्धमान स्वामी के शिष्य करते थे । इसलिये अवश्य अंतिम तीर्थंकर के शिष्यों को विशेष रीति से धार्मिक क्रियायों को समझाने की आवश्यकता युक्ति युक्त प्रगट होती है; परन्तु इसके माने यह नहीं हो सकते हैं कि भगवान् पार्श्वनाथ ने जैन सिद्धांत अथवा दर्शन का निरूपण नहीं किया था । जैन सिद्धांत का निरूपण तो उन्होंने प्राय: उसी तरह किया था जिस तरह भगवान महावीर ने किया था । हां, उनके शिष्य सचमुच इतने सरल और बुद्धिमान थे कि उनको समझाने के लिये उन्हें उतना अधिक प्रयत्न नहीं करना पड़ता था । इसलिये जैन शास्त्रों के उपरोक्त कथनों से यह प्रमाणित नहीं होता कि भगवान पार्श्वनाथजी ने दर्शनवाद (Philosophy) का प्रतिपादन ही नहीं किया था । डॉ. बारुआ यद्यपि करीब करीब सत्य की तह तक पहुंचे हैं; परन्तु उन्होंने शिष्यों की सरलता और बुद्धिमत्ता के कारण भगवान् पार्श्वनाथजी के निकट दर्शनवाद न मानने में अत्युक्ति से काम लिया है यह कहने के लिये हम बाध्य हैं । भगवान की दिव्य ध्वनि से तत्त्वों का निरूपण अवश्य हुआ था ।

दूसरे महावीर स्वामी को पहले पार्श्वनाथजी के संघ में सम्मिलित होने और फिर अलग होकर आजीविक संघ में सम्मिलित कोरी कल्पना है। उसके लिये कोई भी जैन अथवा अजैन प्रमाण उपलब्ध नहीं है। अवश्य ही जैन शास्त्र कहते हैं कि नाथवंशी क्षत्री और भगवान् महावीर के पितृगण भगवान् पार्श्वनाथ के संघ के उपासक थे; किन्तु इसके साथ ही वे भगवान् महावीर को एक स्वाधीन श्रमण होने का भी उल्लेख करते हैं, क्योंकि तीर्थंकर भगवान् 'स्वयंबुद्ध' होते हैं। वे दूसरों को अपना गुरू नहीं बनाते हैं। यही बात भगवान् महावीर के सम्बन्ध में जैन शास्त्रों में कही गई है। उनको वहां केवल सिद्धों को नमस्कार करके श्रमण धर्म का अभ्यास करते लिखा गया है।[७] इस हालत में जैन ग्रन्थों के बल पर यह नहीं कहा जा सकता कि महावीरस्वामी ने पहले श्री पार्श्वनाथजी के संघ का आश्रय लिया था। हां, आजकल के विद्वान अवश्य ऐसी कल्पना करते हैं और इस कल्पना में कितना तथ्य है, यह उपरोक्त पंक्तियों से स्पष्ट है। इसके साथ ही आजीविक संप्रदाय के नेता मक्खलिगोशाल को महावीरस्वामी का गुरु बतलाना भी निराधार है। जैन अथवा अजैन शास्त्रों से यह सम्बन्ध ठीक सिद्ध नहीं होता!

श्वेताम्बरों के 'भगवतीसूत्र' के कथन को यथावृत ऐतिहासिक सत्व स्वीकार किया ही नहीं जा सकता, यह बात स्वयं डॉ. बारुआ ने स्वीकार की है।[८] उसका कथन स्वयं अपने एवं अन्य ग्रन्थों के कथन से विलग पड़ता है।[९] इसलिये उसके कथन से इतना ही स्वीकार किया जा सकता है कि गोशाल का जैन धर्म से सम्बन्ध था और महावीरजी के केवलज्ञान कल्याणक के पहले से वह अपने को 'जिन' घोषित करने लगा था। उसके सिद्धान्तों पर जैन धर्म का प्रभाव पड़ा था-बल्कि उसका मत जैन धर्म से ही निकला था, यह हम पहले

और अन्यत्र दिखला चुके हैं ।[१०] इसलिये उसका प्रभाव महावीरजी पर पड़ा हो, यह स्वीकार नहीं किया जा सकता ! जब भगवान् महावीरजी का दिव्य प्रभाव महात्मा बुद्ध जैसे बड़े और प्रभावशाली मतप्रवर्तक पर पड़ा था, तब फिर भला यह कैसे संभव है कि मक्खलि गोशालने अंतिम जैन तीर्थंकर को प्रभावित किया हो ? भगवान महावीर पर गोशाल का सबसे बड़ा पड़ा हुआ प्रभाव 'नग्नदशा' का बतलाया जाता है ।[११] कहा जाता है कि नग्न वेष उन्होंने गोशाल से लिया था । किन्तु यह कथन स्वयं 'भगवतीसूत्र' से बाधित है, जिसके आधार पर ही यह मत स्थापित किया गया माना जाता है । उसमें स्पष्ट कहा है कि जिस समय गोशाल महावीरजी के पास दीक्षा याचना के लिये आया था, उस समय वह वस्त्र पहिने हुये था ।[१२] साथ ही बौद्ध ग्रन्थों से प्रकट है कि वह पहले वस्त्रधारी था किन्तु उपरांत अपने मालिक के पास से नग्न वेष में ही भाग जाने से वह नग्न हो गया था ।[१३] इससे भी प्रगट है कि वह पहले नग्न नहीं था; परन्तु बौद्धों की यह कथा विश्वास के योग्य स्वीकार नहीं की गई है । इसलिये उसका कुछ भी महत्व नहीं है । 'भगवती सूत्र' की कथा और यह कथा दोनों एक ही कोटि में रखने योग्य है ।

इसके विपरीत दिगम्बर जैन शास्त्र 'दर्शनसार' की साक्षी विशेष प्रामाणित है । बेशक यह ग्रन्थ नवीं शताब्दि का है, परन्तु इसका आधार एक प्राचीन ग्रन्थ है ।[१४] एक तरह से यह प्राचीन मतों का संग्रह ग्रन्थ है और इस तरह विश्वास के योग्य है तिस पर उसमें जो बातें महात्मा बुद्ध के बारे में कही गई हैं, वह प्राय: बिलकुल सत्य ही प्रमाणित हुई हैं ।[१५] इस कारण हम इस दिंगबर जैन ग्रन्थ को ऐतिहासिक कोटि का एक प्रामाणिक ग्रन्थ मानने को बाध्य हैं । इसमें मक्खलि गोशाल को भगवान पार्श्वनाथजी के तीर्थ का श्रमण

बतलाया है और वह भगवान महावीरजी के समवशरण से दिव्यध्वनि खिरने के पहेल ही रुष्ट होकर अज्ञानवाद का प्रचार करने लगा था, यह कहा है, जैसे कि पहले देखा जा चुका है । इस अवस्था में यह बात ठीक नहीं बैठती कि भगवान महावीरजी ने मक्खलि गोशाल से कुछ ग्रहण किया हो । उपरोक्त दिगम्बर शास्त्र के मत से भी यह प्रगट है कि भगवान महावीरजी के धर्मोपदेश के पहले से ही मक्खलि गोशाल अपने मत का प्रचार करने लगा था; यद्यपि वह अन्तर विशेष न था ।

साथ ही दिगम्बर शास्त्रों में भगवान पार्श्वनाथ अथवा उनके शिष्यों को वस्त्रधारी नहीं बताया गया है । यह केवल श्वेतांबरों की मान्यता है कि भगवान पार्श्वनाथ और उनके शिष्य वस्त्र धारण करते थे; यद्यपि उनके आचारांगसूत्र में नग्न वेष को ही सर्वोच्च श्रमण दशा बतलाई है[१६] और तीर्थंकरों ने उसे धारण किया था, यह कहा है ।[१७] उनके 'उत्तराध्ययन सूत्र' में जहां केसी श्रमण को बिलकुल ही आसानी से इस मतभेद का समझौता करते लिखा है, वह जरा जी को खटकता हैं । जब केसी श्रमण को यह विश्वास था कि वस्त्रधारी दशा से मुक्ति लाभ हो सकता है; तब फिर उनको यह क्यों आवश्यक था कि वे नग्न वेष धारण करके वृथा ही इस कठिनाई को मोल लेते ? यदि यह कहा जाय कि उस समय भगवान् महावीरजी के दिगम्बर संघ का इतना अधिक प्रभाव बढ़ गया था कि प्राचीन संघ को उनसे अलग रहकर अपना अस्तित्व बनाये रखना कठिन था, तो वह भी ठीक नहीं विदित होता, क्योंकि यह तो ज्ञात ही है कि भगवान् पार्श्वनाथजी का संघ विशेष रीति से व्यवस्थित ढंग पर था और उस समय बौद्धादि वस्त्रधारी साधु-संप्रदाय मौजूद ही थे। जिस प्रकार यह बौद्धादि वस्त्रधारी संप्रदाय अपने स्वाधीन अस्तित्व को बनाये रखने में सफल रहे थे,

वैसे प्राचीन निर्गंथ संघ भी रह सकता था । उसके पास अच्छे दर्जे का सिद्धान्त तो था ही; इसलिए ऐसा कोई कारण नहीं था, जिसकी वजह से उसका नूतन संघ में मिल जाना अनिवार्य था ! इसके साथ ही यह भुलाया नहीं जा सकता है कि 'उत्तराध्ययन सुत्र' किंवा सर्व ही श्वेताम्बर आगम ग्रन्थ सर्वथा एक ही समय और एक ही व्यक्ति द्वारा संकलित नहीं हुए थे ।[१८] तथापि उनमें बौद्ध ग्रन्थों का प्रभाव पड़ा व्यक्त होता है ।[१९] और जिस समय में वह क्षमाश्रमण द्वारा लिपिबद्ध किये जा रहे थे, उसके किञ्चित पहले एक केशी नामक आचार्य उत्तर भारत में हो चुके थे, जो मगध के राजा संग्राम के पुरोहित और बुद्ध घोष (पांचवी शताब्दि ई.) के पिता थे ।[२०] यदि यह केशी उत्तर भारत में बहु प्रख्यात रहे हों और इनका जैन सम्पर्क रहा हो तो कहना होगा कि इन्हीं केशी के आधार से उक्त आख्यान रचा गया हो तो कोई आश्चर्य नहीं !

इतना तो स्पष्ट ही है कि केशी नाम का एक व्यक्ति देवर्धिगणि क्षमाश्रमण के कुछ पहले अवश्य हो चुका था और प्राचीन एवं नवीन निर्गंथ संघ में किंचित नाम मात्र का भेद था । अस्तु, जो हो उसको छोड़कर थोड़ी देर को यह मान लिया जाय कि प्राचीन अर्थात् पार्श्व संघ में वस्त्र धारण करना जायज था - दूसरे शब्दों में तपश्चर्या की कठिनाई कम थी तो फिर बुद्ध को अपना एक नूतन संघ स्थापित करने की आवश्यक्ता शेष नहीं रहती; क्योंकि बुद्ध ने तपश्चरण की कठिनाई और ब्राह्मणों के क्रियाकाण्ड के खिलाफ अपना मत स्थापित किया था, सो यह दोनों बातें प्राय: उपरोक्त मानता से उनको प्राचीन निग्रंथ संघ में मिलती ही थी ।

इससे भी यही प्रकट होता है कि प्राचीन जैन संघ में भी नग्नवेष आदर की दृष्टि से देखा जाता था, यह बात पूर्णकाश्यप के नग्न साधु होने के कथानक

से स्पष्ट है । वह नग्न इसीलिये हुआ था कि उसका आदर जनसाधारण में अधिक होगा[२१] । अब यदि भगवान् पार्श्वनाथ के द्वारा नग्न वेष का प्रचार नहीं हो चुका था, तो फिर नग्न वेष का इतना आदर उस समय कैसे बढ़ गया था ? यह प्रश्न आगे आता है । हिन्दुओं के उपनिषद कालीन वानप्रस्थ ऋषि इस वेष के कायल नहीं थे और यह भी प्रगट नहीं हैं कि मक्खलिगोशाल के आजीविक पूर्वागामी नग्न रहते थे; प्रत्युत उनको तो 'वानप्रस्थ ढंग' का साधु लिखा है ।[२२] नग्नवेष, पूर्वों के आठ निमित्त आदि सिद्धान्त आजीविक संप्रदाय में जैन धर्म से लिये हुये प्रमाणित होते हैं । इस कारण अन्य कोई ऐसा व्यक्ति नहीं दीखता जिसके द्वारा महावीर स्वामी के पहले से नग्न वेष का प्रचार किया गया हो, सिवाय भगवान् पार्श्वनाथजी के । इसलिये हठात् यह मानना पड़ता है कि भगवान् पार्श्वनाथजी भी नग्न वेष में रहे थे और उनके शिष्य भी वैसे ही रहते थे।

जैन साधुओं की सर्वोच्च अवस्था नग्न थी, यह बात दिगम्बर, श्वेतांबर[२३], दोनों ही जैन संप्रदायों के शास्त्रों और ब्राह्मण[२४] एवं बौद्ध ग्रथों से भी प्रमाणित है । तथापि अन्यत्र हमने बौद्ध शास्त्रों के आधार से यह सिद्ध कर दिया है कि भगवान पार्श्वनाथजी के शिष्य भी नग्न वेष में रहते थे, क्योंकि 'महावग्ग' में जिन 'तित्थिय' श्रमणों को नग्न और हाथ की अंजुलि में भोजन करते बतलाया है वह जैन साधु हैं और यह प्रगट ही है कि बुद्ध ने अपने से प्राचीन साधुओं का उल्लेख इस विशेषण से किया है एवं महावग्ग में उपरोक्त उल्लेख उस वक्त आया है जब महात्मा बुद्ध अपना संघ स्थापित करते ही जा रहे थे और महावीर भगवान छद्मस्थ अवस्था में थे[२५] । अतएव इस सब विवरण को देखते हुये यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि भगवान पार्श्वनाथ और

उनके शिष्य नग्न वेष में न रहे हों और भगवान महावीर ने मक्खलि गोशाल से नग्न वेष ग्रहण किया हो।

इस व्याख्या को समर्थन अब तक के उपलब्ध जैन पुरातत्व से भी होता है। इस समय भगवान पार्श्वनाथजी की संभवत: सर्व प्राचीन मूर्तियां जैन सम्राट खारवेल महामेघवाहन (ईसा से पूर्व दूसरी शताब्दि) द्वारा निर्मित खंडगिरि उदयगिरि की गुफाओं में मिलती है और यह नग्न वेष में हैं। इससे स्पष्ट है कि आज से बाईस सौ वर्ष पहले भी भगवान पार्श्वनाथजी नग्न वेष में ही पूजे जाते थे। इस समय दिगम्बर श्वेतांबर प्रभेद भी जैन संघ में नहीं हुये थे।

इसके बाद कुशानकाल (Indo-Scyhian Paeriod) की मथुरावाली मूर्तियों में भी भगवान पार्श्व की मूर्तियां नग्न वेष में मिली हैं[२६]। आश्चर्य यह है कि इनमें से एक श्वेताम्बर आयागपट में भगवान पार्श्वनाथ की पद्मासन मूर्ति नग्न ही हैं। इसमें कान्ह श्रमण एक खंड-वस्त्र (अंगोछे) को हाथ की कलाई पर लटका कर नग्नता को छुपाते हुये प्रगट किये गये हैं। वैसे वह संपूर्णत: नग्न वेष में हैं। श्वेताम्बर संप्रदाय के साधुओं की तरह उनके पास अभ्यन्तर और बहिर वस्त्र नहीं है और न उस तरह के एक वस्त्रधारी साधु ही हैं,[२७] जैसे कि श्वेतांबर संप्रदाय में माने जाते हैं श्वेताम्बर संप्रदाय के अनुसार खंड वस्त्रधारी तीर्थंकर भगवान एक प्राचीन चित्र में लंगोटी लगाये दिखाये गये है[२८]। इस अवस्था में यह कान्हश्रमण पूर्ण श्वेताम्बर साधु की कोटि में नहीं आते हैं। उनका स्वरूप भट्टारक रत्ननन्दि कृत 'भद्रबाहु चरित' में बढ़ाये हुए 'अर्धफलक' (अर्धवस्त्र) वाले जैन साधुओं से ठीक मिलता है[२९]।

भट्टारक रत्ननन्दि के श्रुतकेवली भद्रबाहुजी के समय में शिथिलाचारी मुनियों द्वारा इस संप्रदाय की उत्पत्ति मानी थी और फिर जिनचन्द्र द्वारा पूर्णत:

श्वेताम्बर भेद हुआ उन्होंने कहा है । इस मूर्ति के स्वरूप से उनका कथन प्रमाणिक ठहरता है । हमने इसके पहले भी 'अर्धफलक' संप्रदाय का अस्तित्व स्वीकार किया था; यद्यपि पं. नाथूरामजी प्रेमी ने इसे एक कल्पना ही खयाल किया था । और यह प्राय: सर्वमान्य है कि दिगम्बर - श्वेताम्बर भेद की जड़ यद्यपि भद्रबाहु श्रतकेवली के निकटवर्ती काल से ही पड़ गई थी, परन्तु उसका पूर्ण विच्छेद ईसवी सन् ८० या ८२ में हुआ था । इसके मध्यवर्ती काल में अवश्य ही अर्धफलक शिथिलाचारी श्रमण संघ रहा प्रगट होता है, जो वैसे तो प्राचीन रूप में अर्थात् नग्न वेष में रहता था; परंतु लज्जा निवारण के लिये खंड वस्त्र रखता था । इस दशा में दिगंबर जैन कथन विश्वास न करने के योग्य नहीं ठहरता है ।

अतएव यह स्पष्ट हो जाता है कि श्वेताम्बर संप्रदाय को भी पहले नग्न वेष स्वीकार था । यही कारण है कि मथुरा के कंकाली टीला से निकालीं हुई पूर्ण नग्न तीर्थंकर मूर्तियों पर श्वेताम्बर आम्नाय के आचार्यों आदि का नाम अंङ्कित है[३०] । इस प्रकार प्राचीन पुरातत्व से भी श्री पार्श्वनाथ एवं अन्य जैन तीर्थंकरों का नग्न वेष रहना प्रमाणित है । स्वर्गीय सर रामकृष्ण गोपाल भांडारकर, महोदय ने भी यह प्रगट स्वीकार किया था ''प्राचीन जैन मूर्तियां प्राय: नग्न ही मिलतीं हैं । गुफा मंदिरों में भी दिगंबर प्रतिमायें मिलती हैं[३१] ।'' अतएव ऐसा कोई साधन उपलब्ध नहीं है, जिससे यह स्वीकार किया जा सके कि भगवान पार्श्वनाथ जी के संघ में वस्त्र धारी अवस्था के निर्गंथ मुनि थे और भगवान स्वयं वस्त्रधारण किये रहे थे; जैसे कि श्वेताम्बर का कथन है ।

तीसरी और चौथी बातों में कुछ तथ्य अवश्य है । यह निर्विवाद सिद्ध है कि भगवान महावीरजी के प्रारंभिक जीवन तक अवश्य ही भगवान

पार्श्वनाथजी का संघ मौजूद था । किन्तु ज्यों ही नवीन संघ उत्पन्न हुआ त्यों ही प्राचीन संघ के ऋषि उसमें मिल गये थे । उसमें विशेष अन्तर नहीं था और वह भगवान महावीरजी की वाट जोह रहे थे, यह हम देख ही चुके हैं । चातुर्याम् नियम जो दोनों संघों में समान बतलाया जाता है, वह उसी रूप में एक माना जा सकता है । जिस रूप में वह सामन्न फल सुत्त में मिलता है । जैन श्रमण के वही चार लक्षण थे जो इस बौद्ध सुत्त में मिलता है । जैन श्रमण के वही चार लक्षण थे जो इस बौद्ध सुत्त में बताए गये हैं, जैसे कि हम पहले देख चुके हैं । यह बात दिगम्बर जैन ग्रन्थ 'रत्नकरण्ड' श्रावकाचार से प्रमाणित है, यह पहले ही दिखाया जा चुका है । अतएव यह कहना कि बौद्धों ने महावीर स्वामी के प्रति जिस चार्तुयाम संवर का निरूपण किया था वह गलत है कुछ तथ्य नहीं रखता । भगवान महावीर के समकालीन महात्मा बुद्ध से ऐसी गलती होना असंभव ही है । बौद्ध शास्त्रों में जिन सिद्धांतों को जैनों का बतलाया गया है वह मूल में ठीक हैं; यद्यपि उनकी व्याख्या करने में कहीं कहीं बौद्धों ने अत्युक्ति से काम लिया है ।[१२] इसलिए यह नहीं स्वीकार किया जा सकता कि भगवान पार्श्वनाथजी के निकट चातुर्याम नियम का भाव चार व्रतों से था और भगवान महावीरजी ने उन्हीं में अंतिम व्रत और बढ़ा दिया था ।

बौद्धों के भज्झिम निकाय में भगवान महावीरजी के पांच व्रत ठीक ही बताये हैं; पर उनके किसी ग्रंथ में भी भगवान पार्श्वनाथजी के उन चार व्रतों का उल्लेख नहीं है, जिनको श्वेताम्बर ग्रन्थ प्रगट करते हैं । फिर भगवान महावीर द्वारा यदि उन व्रतों में ही एक और बढ़ाया गया था, तो वह अंतिम 'तपोगुण' अथवा अपरिग्रह व्रत न होकर ब्रह्मचर्य व्रत था । इन अवस्था में डॉ. बारुआ का यह कथन भी उचित प्रतीत नहीं होता । तथापि डॉ. जैकोबी ने यद्यपि पाली

के 'चातुर्याम' और प्राकृत के 'चातुज्जाम' शब्दों को समान बतलाया है; परन्तु यह भी उन्होंने स्पष्ट स्वीकार किया है कि 'चातुज्जाम' से भगवान पार्श्वनाथजी के चार व्रत प्रगट होते हैं[३३] । इसलिये स्व. डॉ. हीस डेविड्स का प्रॉ. जैकौबी को 'चातुर्याम' से श्री पार्श्वनाथजी के चार व्रत ग्रहण करते बतलाना ठीक है और वह जो इससे चार व्रतों का भाव निकलना गलत बतलाते हैं, वह भी ठीक है । इस तरह दिगम्बर जैन ग्रन्थों एवं बौद्धों के शास्त्रों से यह प्रगट नहीं होता है कि भगवान पार्श्वनाथजी के चार व्रत थे । साथ ही ऊपर जब हम देख चुके हैं कि पार्श्वनाथजी के निकट भी सैद्धांतिक क्रम मौजूद था, तो यह नहीं कहा जा सकता कि व्रतों को उन्होंने नियमित रीति में न रखता हो ! तथापि शीलव्रतों का प्रादुर्भाव अंतिम तीर्थंकर द्वारा हुआ ख्याल करना भी कोरा ख्याल है; क्योंकि शीलव्रतों में पंच महाव्रत भी हैं और इनका अस्तित्व भगवान पार्श्वनाथजी के संघ में मिलता है । यद्यपि यह ठीक है कि दोनों संघों में चारित्र भेद केवल आचरण में लाने की दृष्टि से अवश्य था; जैसे कि जैन शास्त्रों से प्रगट है ।

सर्व अंतिम जो यह कहा गया है कि दोनों संघों का मेल, यद्यपि समय की मांग की वजह से प्रकट हो गया था, जिससे पार्श्व संघ को वीर-संघ का सिद्धांत पाने का लाभ हुआ था; परन्तु वह ज्यादा दिन न टिका और महावीरस्वामी के निर्वाण उपरान्त पुन: भेद हो गया ! खेद है कि यहां भी हम डॉ. बारूआ के साथ सहमत नहीं हो सकते । यह सत्य है कि भगवान् महावीरजी के कैवल्यपद प्राप्त करने और संघ स्थापित करने के साथ ही पार्श्व संघ के ऋषि आदि सदस्य भगवान् के संघ में सम्मिलित हो गये थे; किन्तु उपर के कथन को देखते हुये यह नहीं स्वीकार किया जा सकता कि उनको इससे सिद्धान्तवाद (Philosophy) पानेका लाभ हुआ था । साथ ही बौद्ध शास्त्रों के

कथन से यह भाव निकालना कि भगवान् महावीरजी के निर्वाण होते ही वीरसंघ दो भागों में विभक्त हो गया था, ठीक नहीं प्रतीत होता ! यह दिगंबर और श्वेताम्बर दोनों आम्नायों के ग्रंथों के विरुद्ध है । भगवान् महावीरजी के उपरान्त जब तक उनके केवलज्ञानी शिष्य, जिनमें सर्व अंतिम जम्बूस्वामी थे, मौजूद रहे थे, तब तक तो किसी तरह का भी कोई प्रभेद पड़ा दृष्टि नहीं पड़ता है । क्योंकि दोनों आम्नायों में केवलज्ञानियों के सम्बन्ध में कुछ भी अन्तर नहीं है । आपसी प्रभेद की जड़ श्रुतकेवलियों के जमाने से और बहुत कर के भद्रभाहुजी के जमाने से ही पड़ी प्रतीत होती है । इस समय नर्ग्रंथसंघ की ठीक वही दशा हो रही थी जो बौद्ध शास्त्रों में बतलाई गई है और यह विदित ही है कि इस समय अथवा इससे किञ्चित उपरान्त ही बौद्ध शास्त्र उस रूप में संकलित किये गये थे, जैसे कि अब मिलते हैं । इसी कारण उन्होंने साधारणत: भगवान् महावीर के निर्वाण बाद संघ भेद बतलाने का भाव उस समय की घटना को लक्ष्य करके लिखा था ।

बौद्ध शास्त्रों में यही एक उदाहरण नहीं है जिसमें यह भ्रमात्मक बात हो प्रत्युत और भी उदाहरण हैं जिसमें अजातशत्रु को उसके समय के उपरांत की घटनाओं से सम्बंधित बतलाया गया है । उससे बौद्ध ग्रन्थों के कथन का भाव यही है कि भगवान् महावीरजी के उपरान्त एक काफी समय के बाद संघ भेद की नींव पड़ी थी । कम से कम भद्रबाहु श्रुतकेवली के समय तक तो संभवत: संपूर्ण संघ एक था । किन्हीं अजैन विद्वानों का भी यह मत है ।[१४] अस्तु;

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भगवान् पार्श्वनाथजी और महावीरस्वामी का पारस्परिक सम्बंध क्या था ? दोनों ही महापुरुष एक समान तीर्थंकर थे और उनकी शिक्षा भी प्राय: एक समान थी; किन्तु उनके संघ में चारित्र नियमों को

पालनें में किंचित अन्तर अवश्य था और यह अन्तर मूल में कुछ नहीं था ! जैन धर्म की यह खासियत रही है कि वह प्राचीन से प्राचीनतर काल से अपने सिद्धान्तों को वैसे ही प्रगट करता चला आ रहा है, जैसे कि वह आज उपलब्ध हैं ।[२५] यद्यपि उसके बाह्यरूप क्रिया काण्ड आदि में अवश्य ही सामयिक प्रभाव पड़ा प्रगट होता है ।

सन्दर्भ

१ - हरिवंशपुराण पृ. ५६६ - ५७६ ।
२ - उत्तराध्ययन सूत्र २३ ।
३ - दी हिस्ट्री ऑफ प्री. बुद्धिस्टिक इंडियन फिलासफी पृ. ३७७ - ३८०
४ - पूर्व पुस्तक पृ. ३८३ ।
५ - Glassenapp Ephemerides Orient : 25 P. 13
६ - प्री-बुद्धिस्टिक इंडियन फिलासफी पृ. ३०३ ।
७ - इंडियन हिस्टॉरीकल क्वार्टिर्ली भाग २ पृ. ७०८-७०९ ।
८ - उत्तराध्ययन २३ ।
९ - उत्तरपुराण पृ. ६१०, भगवान् महावीर पृ. ९३ और जैनसूत्र (S.B.E.) भाग १ पृ. ७६-७८ ।
१० - आजीविक्स भाग १ पृ. १० ।
११ - उवसगदसाउ (Biblo. Indica) परिशिष्ट पृ. १११ ।
१२ - भगवान् महावीर पृ. १७३ और वीर वर्ष ३ का जयंती अंक ।
१३ - भगवान महावीर और म. बुद्ध पृ. १०३-१०६।
१४ - जैनसूत्र (S.B.E.) भूमिका और आजीविक भाग १ ।
१५ - उवासगदसाओ (Biblo. Ind.) परिशिष्ट पृ. ११० ।
१६ - आजीविक्स भाग १ पृ. ११ ।
१७ - जैनहितैषी वर्ष १३ अंक ६-७ पृ. २६२ ।
१८ - भगवान् महावीर और म. बुद्ध पृ. ४९ - ५०
१९ - जैनसूत्र (S.B.E.) भाग १ पृ. ५५-५६ ।
२० - पूर्व. पृ. ५७-५८
२१ - जैनसूत्र (S.B.E.) की भूमिका, प्री. बुद्धिस्टिक इन्डियन फिलासफी पृ. ३७६ ।
२२ - जार्लचारपेन्टियर के 'उत्तराध्ययन' की भूमिका और 'दिगंबर जैन' वर्ष १९-२० में प्रकट हमारा लेख
२३ - लाइफ एण्ड वर्क आफ बुद्धघोष पृ. २६ ।
२४ - भगवान महावीर और म. बुद्ध पृ. ८२-८३ ।

२५ - इन्डियन एन्टीक्वेरी भाग ९ पृ. १६२ ।
२६ - आजीविक्स भाग १ पृ. ३ ।
२७ - आचारांगसूत्र (S.B.E.) भाग १ पृ. ५६ ।
२८ - ऋग्वेद १०-१३६, वराहमिहिरसंहिता १९-६१ व ४५-५८; महाभारत ३-२६-२७; रामायण बालकाण्ड भूषण टीका १४-२२ .
२९ - दिव्यावदान पृ. १६५; जातकमाला भाग १ पृ. १४५; विशाख्यावत्थू धम्मपदत्थकथा भाग १ खण्ड २ पृ. ३८४; डीपीलॉग्स ऑफ बुद्ध
३०A-१४ ; महावग्ग ८१-५, ३-१, ३८-१६; चुल्लवग्ग ४,२८,३; संयुत्तकिनाय २, ३, १०, ७; धम्मपदम् पृ. ३ इत्यादि ।
३० - भगवान महावीर और म. बुद्ध परिशिष्ट पृ. २३७-२३८।
३१ - जैनसूत्र (S.B.E.) भाग १ पृ. ७१-७२ ।
३२ - जू जैनिसमस प्लेट नं. ८ ।
३३ - भगवान महावीर पृ. २२७ ।
३४ - जैनहितैषी भाग १३ पृ. २६६ ।
३५ - कैम्ब्रिजहिस्टी ऑफ इन्डिया भाग १ पृ. १६५ और साउथ इन्डियन स्टडीज भाग १ पृ. २५ इत्यादि ।
३६ - जैनहितैषी भाग १३ पृ. २९१ - २९२ ।
३७ - पूर्व भाग ५ पृ. २५ ।
३८ - भगवान महावीर और म. बुद्ध परिशिष्ट ।
३९ - जैनसूत्र (S.B.E.) भाग २ भूमिका पृ. २० ।
४० - कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इन्डिया भाग १ पृ. १६५ ।
४१ - पूर्व. पृ. १६९ ।

❑

उपसंहार

'जयतस्तव पार्श्वस्य श्रीमद्भर्तुः पदद्वयम् ।
क्षयं दुस्तरपापस्य क्षयं कंर्तु ददज्जयम् ।।'

– श्री समन्तभद्राचार्यः ।

हे प्रभो पार्श्वनाथ ! 'आप मोहादिक सम्पूर्ण अंतरंग शत्रुओं को जीतनेवाले हो, सबके स्वामी हो । हे देव ! आपके चरण कमल अतिशय शोभायमान हैं । सर्वत्र विजय देनेवाले हैं । अतिशय गहन पापों को भी नाश करने के लिये समर्थ हैं । हे भगवन् ! आपके ऐसे चरण कमल मेरा अंधकार दूर करो ।' अवश्य ही त्रिभुवन वन्दनीय भगवान की पवित्र संस्तुति भक्त जन के अज्ञान तम को नाश करने में मूल कारण है । पतित पावन प्रभु के पाद-पद्मों का भ्रमर बन जाने से पाप-पङ्क में फंसा रहना बिल्कुल असंभव है । प्रभु की भक्ति प्रभु की विनय परिणामों में वह विशुद्धता लाती है कि स्वयमेव ही सब संकट नष्ट हो जाते हैं और भक्त वत्सल प्राणी आनन्दसर में गोते लगाता है । भगवान् पार्श्वनाथ एक ऐसे ही पतित पावन उपासनीय परमात्मा थे । उन्होंनें मोहमाया को अपने से दूर भगा दिया था । क्रोध, मान, माया लोभ आदि मानवी कमजोरियों को उन्होंने पास फटक ने नहीं दिया था ! बाहिरी शान-गुमान के कारणों को तो वह प्रभु पहले ही नष्ट कर चुके थे । प्राकृत रूप में वे विवसन होकर निर्भीक विचरण करते थे । जैसे बाहिर थे, वैसे भीतर थे । न प्रत्यक्ष देखने में कोई शारीरिक दोष था और वैसे ही न मन में कोई मैल था, वे खूबसूरत अनूठे थे । प्रकृति के अञ्चल में ज्यों नीलाकाश शोभता है, त्यों ही वे भगवान अपने नीलवर्ण शरीर में अपूर्व सुन्दरता को पा रहे थे । उनका सौन्दर्य

अपूर्व था। सौन्दर्य ही केवल नहीं, बल्कि अनन्त गुणों से पूर्ण उनका चारित्र अनुपम था । इसलिये वे खूबसुरत और खूब सीरत दोनों थे । सब लोगों को वे प्रिय थे। सब उनको अपना स्वामी कहते थे । अपने जीवन में ही वे इस परम पूज्य प्रभुता को पहुंच चुके थे । उस समय के लोक ही उन्हें अपना नाम और काम उसी तरह पूज रहा है और सचमुच जब तक आस्तिकता का अस्तित्व धरातल पर रहेगा तब तक वह बराबर पूजता रहेगा ।

जीवित परमात्मा के गुणगान भला कैसे भुलाये जा सकते हैं ? उनके गुण उनका उपदेश और उनका स्वरूप हर समय और हर परिस्थिति के प्राणियों को सुखदाई है उनका दिव्य चरित्र इस व्याख्या की प्रगट साक्षी है । वे अनुपम थे उनसे अकेले वे ही एक थे । कमाल में द्विधा भाव को जगह मिलना असम्भव है ! कानों से हजारों नाम सुने जाते हैं । परन्तु प्रभु पार्श्व जैसा नाम कहीं सुननें में नहीं आता । युग बीत गये पर रह नाम आज भी जीता जागता चमक रहा है। उनके दिव्य दर्शन पाने का सौभाग्य इस युग के किसी भी भव्यात्मा को प्राप्त नहीं हुआ है, पर तो भी उनके नाम की माला एक नहीं दो नहीं हजारों लाखों प्राणी जपा करते हैं । सो भी केवल भारतीय ही नहीं ! उनके चरण कमलों का स्मरण करनेवाले अंगरेज भी हैं - जर्मन भी हैं । पूर्व और पश्चिम, दुनिया के दोनों भागों में भगवान् के गुणगान गाये जाते हैं ! यह क्यों ? क्यों सर्व दिशायें प्रभु पार्श्व की अद्वितीय कीर्ति से गूंज रही हैं ? इसलिये कि उनमें अनन्त प्रेम था- अनन्त वीर्य था - अनन्त ज्ञान था । सब जीवों के कल्याण का द्वार उनके भव्य दर्शन में मिल जाता है । विजयलक्ष्मी उनके ऊपासकों के सम्मुख आ उपस्थित होती है; क्योंकि उनका दिव्य चरित्र साम्यभाव और उत्कट विश्वप्रेम का पाठ पढ़ाता है । उनके उपासक परम अहिंसाव्रत को पालते हैं - दया के

दर्शन उनके दैनिक जीवन से होते हैं और दया सत्य की सहोदरा है । फिर भला कहिये कि दया प्रेमी प्रभु पार्श्वनाथ ने कमठ के जीव तापसी को यही बात सुझाई थी । अतएव स्वाधीनता के उपासकों के लिए भगवान का दिव्य जीवन उसी तरह महत्त्व पूर्ण है जिस तरह दिशामान पार्श्व के उपासक सत्य के हृदय में निवास करते हुये क्यों नहीं विजय-लाभ करेंगे ? उनके सर्व कार्य अवश्य ही सिद्धि को प्राप्त होंगे । प्रभु पार्श्व की भक्ति - श्री तीर्थंकर भगवान की उपासना अवश्य ही मनुष्य जीवन को सुफल बनानेवाली है । इसीलिए कवि कहते हैं कि :-

''जनरंजन अघभंजन प्रभुपद, कंजन करत रमा नित केल ।
चिन्तामन कल्पद्रुम पारस, वसत जहां सुर चित्राबेल ।।
सो पद त्यागि मूढ़ निशिवासर, सुखहित करत कृपा अनमेल ।
नीति निपुन यों कहैं ताहिवर, 'वालू पेलि निकालै तेल' ।।''

सचमुच प्रभु पार्श्व के पाद-पद्मों का सहवास छोड़कर अन्यत्र सिर मारने में कुछ फल हाथ आने का नहीं है । भगवान पार्श्वनाथ का पवित्र जीवन हमें स्वाधीन हो सच्चे सुखी बनने का उपदेश देता है । परतंत्रता की पराधीनता से विलग रहना वह सिखाता है । जीवित प्राणी में अनन्त शक्ति है - आस्तिकों को यह बात उनके दिव्य संदेश से हृदंयम हो जाती है । वह जान जाते हैं कि कीड़ी-मकोड़ी, वृक्ष-लता, सभ्य-असभ्य सब ही प्राणी समान शक्तियों को रखनेवाले हैं - कुछ मुजाय का नहीं जो उस दशा में वह हीन हो रहे हैं । निमित्त मिलते ही - काल लब्धि को पाते ही वे अपनी अव्यक्त शक्ति को प्रकट कर देंगे । भगवान पार्श्वनाथ का जीव एक भव में मदमत्त हाथी था; परन्तु वही संयममयी त्याग मार्ग में लगकर त्रिलोक वन्दनीय परमात्म पद को प्राप्त हो

गया। इसलिये किसी भी व्यक्ति को हेय समझना घृणा की दृष्टि से देखना अन्याय मार्ग में पग बढ़ाना है । प्रत्येक प्राणी हमारा बंधु है - ज्यों हमें जीवन प्रिय है त्यों उसे है - इसी भाव को भगवान पार्श्व के निकट से ग्रहण करके विश्व प्रेम का साम्राज्य इस जगत में सिरज देना बिलकुल संभव है । साम्यभाव का प्रचार दिगंतव्यापी उसी रोज होगा । जिस रोज भगवान पार्श्व का बताया हुआ मार्ग लोगों को दृष्टि पड़ेगा । बाहिरी चकाचौंध में फंसे रहने से कार्य न सधेगा - रिवाजों और क्रियाकाण्डों की उपासना करने से कुछ हाथ न आयगा । त्याग मार्ग में पग बढ़ाने और संयम को अपनाने में ही संसार की मुक्ति शेष है - इस बात को इस दिव्य चरित्र से गांठ बांध लेने में ही कल्याण है ।

भगवान पार्श्वनाथ ने कमठ के जीव तापसी को यही बात सुझाई थी । अतएव स्वाधीनता के उपासकों के लिए भगवान का दिव्य जीवन उसी तरह महत्वपूर्ण है जिस तरह दिशाभान के लिए नाविकों के लिए ध्रुव तारा है । सरल प्राकृत जीवन सादा लिबास और सादा भोजन और हृदय में विश्वप्रेम का वास इस धरातल को भी स्वर्गवास बना देता है, यह विश्वास ही त्राणदाता है। सत्य के हृदय में सदैव बना रहना ही सर्व सुख को पा लेना है । भगवान पार्श्वनाथजी ने यही सुख संदेश जगत को सुनाया था - इसीलिये उनके चरित्र के एक रश्मि प्रकाश को पाकर उनके पवित्र चरित्र को पूर्ण करते हुए आइए पाठक गण उनके चरणों में नतमस्तक होले; क्योंकि -

''नरनारक आदिक जोनि विषैं,
विषयातुर होय तहां उरझै है ।
नहिं पावत है सुख रंच तऊ,
परपंच प्रपंचनिमैं मुरझै है ।।

जिन पारश सों हित प्रीति बिना,

चित चिंतित आश कहां सुरझै है ।।

जिय देखत क्यों न विचारि हिये,

कहुं ओसकी बूंद सों प्यास बुझै है ।।

इतिशम् - ॐ शान्ति :!

आश्विन शुक्ला २ सं. १९८३ मंगलवासरे परिपूर्णम् ।

ता. ७-१२-१९२६ ।

प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक का परिचय : उनके अपने शब्दों में

संसार में भटकते हुए क्षुद्र जीव का परिचय ही क्या ? जिस प्रकार और सब जीव हैं वैसा ही यह प्राणी है ! एक ही निगोदरूपी जननी के उदर से जन्में हुये भाइयों में अन्तर ही क्या ? उन में परस्पर विशेषता हो ही क्या सकती है ? फिर मेरा और तेरा परिचय क्या ? पुद्गल के संसर्ग में आया हुआ यह जीव इस अनन्त संसार में नाना रूप रखता है, उन विविध रूपों के फेर में पड़ना बहुरुपिये के तमाशे के दृश्य से कुछ अधिक महत्व नहीं रखता ! परन्तु संसार का अहंकार उस में बेढब उलझा हुआ है वह उसके सारासार को देखने नहीं देता । उसे नजर ही नहीं पड़ता कि वह तो अनन्त दर्शन, अनंत ज्ञान, अनन्त वीर्य और अनन्त सुखरूप है, सिद्ध है, शुद्ध है, परम बुद्ध है । सचमुच मेरी अनन्त गुणमई समृद्धि है । देखने में देह परिमाण भले ही हूं, परन्तु निश्चय जानो मैं असंख्य प्रदेशी हूं और अमूर्तिक हूं, अनन्तरूप हूं, परमानन्द हूं, सहज हूं, नित्य हूं, चिदानन्द हूं, मेरा चेतना लक्षण है, मैं चैतन्य हूं अखण्ड हूं और लोकालोक का प्रकाशक हूं । रत्नत्रय मेरे अंग की शोभा बढ़ाते हैं । सहज स्वरूप को दर्शाकर मैं सिद्ध समान देदीप्यमान हूं । संसार की रागद्वेष कालिमा से रहित शुभाशुभ कर्मकलंक से विहीन निष्कलंक हूं, समन्तभद्र हूं, शास्वतानन्द हूं, पर हूं कहां ? अहंकार का पर्दा फटे और 'सोऽहं' की भूमि प्रगट हो तब कहीं जो हूं सो दृष्टि पड़ूं ।

आज तो दुनियां मुझे कामता प्रसाद कहकर पुकारती है । मनुष्य जाति में मेरी गणना होती है, जैन धर्म का मुझ में अनुराग प्रकट होता है । मैं भी जैनी

बनने के प्रयत्न में हूं । वैसे जन्म मेरा ऐसे स्थान में हुआ जहां जैन मत का नाम सुनने को नहीं था और बचपन भी जिनेन्द्र भगवान की शरण से दूर दूर बीता पर इसका अर्थ यह नहीं है कि पुण्योदय से मेरा जन्म एक जैन कुल में नहीं हुआ है ? मैं जन्म से जैनी अवश्य हूं । परन्तु जैन कुल में जन्म लेने से ही कोई जैनी नहीं हो जाता ! इसीलिये मैं कहता हूं कि मैं जैनी बनने की कोशिश में हूं ।

जैन धर्म हैं विजयमार्ग । विजयी-वीर ही इसको अपनानें के अधिकारी हैं । मनुष्य में जितनी नीचता है, संसार का जितना अहंकार है, उस सब पर विजय पाने के लिये जब कहीं तैयारी की जाय तब कोई जैनी हो ! अथवा कवि भाष के शब्दो में 'सकलजनोपकार सज्जा सज्जनता जैनी' जैनी है । मनुष्यमात्र के उपकार करने का सज्जनोत्तम भाव हृदय में जागृत होना कठिन है । फिर भला कहिये कोई जैनी कैसे होवे ? अपने में इसी भाव को जागृत करने की उत्कट अभिलाषा से विजयी वीरों - महावीर के चरित्र में मन पग रहा है । शायद मैं कभी सचमुच जैन हो जाऊँ ? फिर भला कहिये कि इस अवस्था में मेरा परिचय लिखने से किसी को क्या फायदा होगा ? यह भी तो एक अहंकार है । पर संसार की ममता और लोगों का कौतूहल जो करा ले सो थोड़ा है । वैसे उन में और मुझ में अथवा अन्य किसी में अन्तर ही किस बात का है । अंतर के कपाट खुलें तो सच्चा दर्शन ठीक परिचय मिल जावे ।

मेरे इस वर्तमान रूप का अवतरण भारत वर्ष में संयुक्त प्रांत के एक जैन कुटुंब में हुआ है । उस समय की बात है कि जब मुगल साम्राज्य छिन्न भिन्न हो गया था, तब विविध प्रांतों के शासक स्वाधीन राजा और नवाब बन बैठे थे । फरुखाबाद में भी एक ऐसी ही नवाबी थी । आगरा प्रांत के जिला एटा में तहसील अलीगंज के अन्तर्गत मौज कोट है । कहते हैं कि तब इसी ग्राम के

एक सज्जन नवाब के 'नायब' थे और इन नायब के भण्डार का कार्य समझिये एक जैन कुटुम्ब करता था । उसी जमाने में यह हुआ कि फरुखाबाद के नवाब का कोई सम्बंधी कोट के पास आ निकला । कहते हैं कि उसका नाम नवाबखी बहादुर था । उसने अलीगंज की नींव जमाई । जब अलीगंज बसने लगा तब बहुत से लोग बाहर से बुलाकर वहां बसाये गये । कहा जाता है कि उसी समय कोट के उक्त जैन कुटुम्ब के लोग भी अलीगंज आ गये उनको यहां भूमि दी गई तथा एक बाग भी मिला, जो आज तक इस कुटुम्ब में है । इस कुटुम्ब में लाला निर्मलदास नामक सज्जन थे । उनकी संतान में श्री फूलचन्दजी नामक हुये । कोट ग्राम से आने के कारण यह जैन कुटुम्ब तब से बराबर 'कोटवाले' नाम से प्रख्यात है । वैसे यह वैश्य जाति का है । जैनों में वैश्य अनेक उपजातियों में विभक्त हैं, यह वंश बुढ़ेलवाल कहलाता है । ऐतिहासिक शोध से मालूम हुआ है कि बुढ़ेलों का निकास लगभग १६वीं शताब्दि में लम्बकंचुक जाति से हुआ था । लंबकंचुक जाति की उत्पत्ति यदुवंशी राजा लोमकरण की संतान से हुआ कही जाती है । वैसे तो द्वारिका के साथ सारे यदुवंशियों का नाश हो गया था; परन्तु जरत्कुमार निःशेष रहे थे । वह कलिङ्ग में जाकर राज्य करने लगे थे । उनके बाद कलिङ्ग में बहुत से राजा हुये; परन्तु उनमें कोई भी लोमकरण नामक नहीं है । अतः मालूम ऐसा होता है कि यदुवंशी राजा भगवान महावीर के बाद कलिंग के राजा जितशत्रु की संतान में कोई हुआ । कलिंग से इन लोगों को ईसवी पूर्व ४ थी या तीसरी शताब्दि में बाहर चला जाना पड़ा था और तब यह लम्बकाञ्चन देश में जा रहे थे । यह देश कलिंग के निकट कहीं दक्षिण भारत में होना उचित है । श्री समन्तभद्राचार्य के भ्रमण वृत्तान्त में दक्षिणस्थ नगरों के साथ एक 'लाम्बुश' नामक नगर का उल्लेख हुआ है और दक्षिण में कांचीपुर जैनों का प्राचीन केन्द्र स्थान है । अतएव 'लाम्बुश और कांचीपुर के मध्यवर्ती

देश का उल्लेख लम्बकाञ्चन नाम से होना संभव हो सकता है । इस दशा में यहां के निवासी राजभ्रष्ट यदुवंशियों की संतान लम्बकंचुक जाति कही जा सकती है । इसी जाति का अपररूप बुढ़ेलवाल है । उक्त कुटुम्ब इसी बुढ़ेलवाल वंशोद्भव है । उक्त श्री फूलचन्दजी व्यापार निमित्त मेरठ पहुंचे । वहां एक फौजी अफसर से उनकी भेंट हो गई । वे परस्पर उपकृत हो गये । फूलचन्दजी फौजी कमसरियट में काम करने लगे । धीरे धीरे फोजी खजांची हो गये, उनका फर्म दूर दूर तक प्रसिद्ध हो गया । श्री फूलचन्दजी के चार पुत्र थे (१) लाला परमसुखजी, (२) लाल कुन्दनलालजी, (३) लाला झम्मनलालजी, (४) लाला गिरधारी लालजी । उनके उपरान्त यह चार भाई फर्म के कार्य को समुचित रीति से न चला सके और रह फर्म फेल हो गया । कुन्दनलालजी के तीन पुत्र हुये - (१) श्री पंडित तेजरायजी, (२) धन्नमलजी, (३) व लाला गोविन्दप्रसादजी । ये तीनों भाई गानविद्या विशारद हैं; यद्यपि सर्व लघु इस समय उनके बीच में नहीं है । पं. तेजरायजी संस्कृतज्ञ और धर्मज्ञ वय प्राप्त विद्वान हैं । आपके सुपुत्र बाबू अंबाप्रसादजी 'मिलिट्री अकाउन्ट डिपार्टमेन्ट' में एकाउन्टेन्ट थे । दुर्भाग्य से उनका गत चैत्र मास में असमय में ही स्वर्गवास हो गया लाला गिरधारीलालजी के एक मात्र पुत्र श्री प्रागदासजी हैं । लेखक के पूज्य पिता यही हैं, पुराने फर्म के फेल होने के बाद पिताजी अपना एक स्वतंत्र 'बेन्किन्ग फर्म' स्थापित करने में सफल हुये थे । तबसे यह फर्म बराबर चल रहा है, चूंकि इसका सम्बन्ध सरकारी फौज से है; इसलिये भारत के विविध प्रान्तों में फर्म को जाना पड़ता रहा है । ऐसे ही जिस समय पिताजी सीमा प्रान्त की छावनी केम्प बेलपुर में थे, उस समय मिती वैशाख शुक्ल त्रयोदशी बुधवार संवत् १९५८ को मेरे इस रूप का जन्म हुआ था ।

माताजी धार्मिक चित्तवृत्ति की धारक थी, यद्यपि मुझे बचपन में जैन धर्म के साधक साधनों का संसर्ग प्राप्त नहीं हुआ; परन्तु माताजी की धार्मिक वृत्ति ने मेरे हृदय में उसका प्रतिबिम्ब ज्यों का त्यों अंकित कर दिया । रात को जब मैं पड़ा पड़ा तारों के विषय में प्रश्न करता तो वह समाधान करतीं हुई मुझसे यह कहलवा के सुला देती कि **'जिनवर तारे मन भर कूचे, जहां जीव तहां तीन किनारे । जा मंडली में उच्चेरे ताहि श्री पार्श्वनाथ की आनि'**, तब इसका मतलब कुछ समझ में नहीं आता; किन्तु जब आज सोचता हूं तो इस सरल उक्ति में जैन धर्म की खास बातों का उपदेश भरा हुआ पाता हूं । जिनेन्द्र भगवान ही तारे हैं, उन्हीं को मनमें स्थापित करके ताला बंद करदो । किसी अन्य को हृदय के उच्चासन पर मत बैठाओ, संसार सागर में भटकते हुये इस प्राणी के लिये सिर्फ परत मत बैठाओ, संसार सागर में भटकते हुये इस प्राणी के लिये सिर्फ 'तीन' - रत्नत्रय - किनारे हैं, उन्हें नहीं भूलना चाहिये । श्री पार्श्वनाथ के शासन की छाया में सब आनन्द से कालक्षेप करें ! इस सरल ढंग से गहन उपदेश भला और कैसे हृदसंगम हो सकता ? इसी का परिणाम था कि जब हैदराबाद सिंध में मैं 'नवलराय हीरानंद ऐकेडेमी' नामक स्कूल में अंग्रेजी पढ़ता था, तब अन्य छात्र जहां गुरु नानकजी के बोल में धर्म परीक्षा देते थे, वहां मैं जैन स्तोत्र और सामायिक पाठ को सुनाता था । इस तरह धार्मिक भावुकता की जड़ मेरे हृदय में बचपन से जम गई थी ।

बचपन में मेरठ व अलीगंज में मैंने हिन्दी और उर्दू पढ़ ली थी । हैदराबाद में मैट्रिक तक अंग्रेजी का अध्ययन किया था; दूसरी भाषा पारसी थी। अलीगंज में एक पंडित महाशय से संस्कृत भाषा पढ़ने का प्रयत्न किया पर असफल रहा। सन् १९११ के लगभग मेरा विवाह कर दिया गया । सन्

१९१८ में माताजी का स्वास्थ्य खराब हो गया और उन्हीं की सेवा में व्यस्त रहने के कारण मेरा अध्ययन बीच में ही छूट गया। इसके बाद ही माताजी और पत्नी का देहांत हो गया, घर सूना हो गया, हृदय में अपने को पहिचान ने का भाव जागृत हुआ परन्तु व्यापार में लग जाने से वह ज्यादा पनपा नहीं। हैदारबाद के अतिरिक्ति बरेली में भी फर्म का कार्य चल निकला। मैं बरेली रहता था। धर्म पुस्तकों के देखने का सौभाग्य मुझे स्व. कुमार देवेन्द्रप्रसादजी के विज्ञापनों से प्राप्त हुआ था। उन्होंने मुझे एकदम अपनी सब पुस्तकें भेज दी थीं। मैं उनका अध्ययन करता रहा। फिर मेरे अभिन्न मित्र और प्रेमी श्रीयुत् बाबू शिवचरणलालजी के यहां वेदी प्रतिष्ठा महोत्सव हुआ। उस समय ब्र. शीतलप्रसादजी महाराज से भेंट हुई। उन्होंने जैन धर्म के अध्ययन और प्रभावना के लिये उत्साहित किया। मैं 'जैनमित्र' व 'दिगम्बर जैन' मंगवाने लगा। इसके पढ़ने से लेख लिखने का शौक हुआ। लेख लिखे परन्तु सब न छपे।

ब्रह्मचारी जीने उत्साह वर्द्धनार्थ किन्हीं २ को 'मित्र' मैं स्थान दिया। फलत: लिखना न छूटा। लिखता रहा तो लिखना आ गया। बरेली में तो कविता रचने का भी उद्योग चलता रहता था। इसी समय श्रीमान् बाबू चम्पतरायजी वेरिष्टर की मूल्यमई रचनाओं का लाभ हिन्दी जनता को करने की उत्कट अभिलाषा से मैंने उनके इंग्रेजी के ग्रन्थोंका हिन्दी अनुवाद करना प्रारम्भ कर दिया। चम्पतराय बेरिष्टर साहब ने 'असहमत संगम' के कई अध्यायों का अनुवाद मुझे करने देने का अवसर प्रदान किया। यहीं से मेरी ग्रन्थ रचनाकी ओर प्रवृत्ति हो गई। जब मैं बरेली में था तब ही मेरा द्वितीय विवाह हो गया। इसके पहले ही मैं समाजोन्नति के कार्यों में भाग लेने लगा था। कानपुर और

लखनऊ की महासभा में शामिल हुआ था । महासभा की कूटनीति से मन उचटासा था । तिसपर दिल्ली के अधिवेशन में पंडितदल की दुर्नीति ने समाज नेताओं को उसके विमुख कर दिया । समाज का सच्चा हित करने के नाते 'भा. दि. जैन परिषद' का जन्म हुआ । जहां मैंने 'जैनगजट' में महासभा की सफलता के लिये कई लेख लिखे थे और उसके सुधार करने की धुन में था; वहां सुधार का अवसर न देखकर उल्टे शक्ति का दुरुपयोग समझकर मैंने परिषद की ओर ध्यान दिया ।

परिषद के कर्णधारोने मेरे अयोग्य कन्धों पर 'वीर' पत्र के सम्पादन का भार डाल दिया व यथाशक्ति उसका पालन कर रहा हूं । सौभाग्य से हिन्दी के दिव्य चरित्रों का अवलोकन करने का अवसर मिला । जिसके परिणाम रूप चरित्र ग्रंथ लिखे गये ।

इटावा में महावीर जयंती पर जब कोई उपयुक्त महावीर चरित्र न मिला, तब एक चरित्र लिखने का साहस हुआ । तब ही से 'भगवान महावीर' 'महारानी चेलनी' आदि करीब बारह-तेरह छोटे मोटे ग्रन्थ लिख गये । इस समय ध्यानाध्ययन में ही समय बीतता है । भगवान महावीर विषयक एक निबंध पर 'यशोविजय जैन ग्रन्थमाला' की ओर से स्वर्ण पदक मिला । इन्दौर की निबंध जांच-कमेटी ने 'जैन संख्या के ह्रास से बचने के उपाय' सम्बन्धी निबंधों में लेखक का निबंध सर्व प्रथम ठहराया । उधर 'रायल एशियाटिक सोसाइटी - लन्दन' का सदस्य भी इस ग्रन्थ का लेखक चुना जा चुका है । अंग्रेजी के विविध भारतीय और विदेशी पत्रों में जैन धर्म विषयक लेख प्रगट होते रहते हैं । जैनों का कोई भी प्रामाणिक इतिहास न होने के कारण से अपमान सहन करने पड़ते हैं । इस कमी को दूर करने के लिये 'संक्षिप्त जैन

इतिहास' कई भागों में लिखना प्रारंभ हो गया है और उसके दो भाग लिखे भी जा चुके हैं । सत्यान्वेषण के बल मुझे प्रचलित जैन धर्म का स्वरूप विकृत दृष्टि पड़ता है और उसके सुधार के लिये मैं सदा तत्पर रहता हूं । इस सुधार कार्य को अपने आसपास अमली सूरत देने में मुझे अपने सम्बंधियों तक की नाखुशी सहन करनी पड़ी । पर मैं सत्यमार्ग से विचलित नहीं हुआ। जनोपकार की भावना हृदय में जागृत रहे यही वांछा रहती है । शायद किसी दिन यह भावना मुझे सच्चा जैनी बना दे । अधिक अभी क्या लिखूं ? अस्तु; वन्दे वीरम्।

- कामताप्रसाद जैन

❑

कुछ अपनी

जैन संस्कृति का मार्ग - समाज सेवा

जैन संस्कृति का मार्ग - समाज सेवा - प्राणी मात्र का धर्म है । जैन धर्म की आधार शिला प्राय: निवृत्ति है । यह निवृत्ति साधक को जन सेवा की ओर अधिक से अधिक आकर्षित करने के लिए है । जैन धर्म का आदर्श ही यह है कि प्रत्येक प्राणी एक दूसरे की सेवा करें, सहायता करें और जैसी अपनी योग्यता हो उसी अनुसार दूसरों के काम आवें । जैन धर्म में जीवात्मा का लक्षण ही सामाजिक माना गया है वैयक्तिक नहीं । प्रत्येक सांसारिक प्राणी अपने जीवन में अपूर्ण है । उसकी पूर्णता आसपास के समाज में और संघ में है। यही कारण है कि जैन संस्कृति का जितना झुकाव आध्यात्मिक साधना के प्रति है, उतना ही ग्राम, नगर और राष्ट्र के प्रति भी है । भगवान महावीर ने ग्राम, धर्म, नगर-धर्म, राष्ट्र धर्म को बहुत ऊंचा स्थान दिया है ।

सन्मति ट्रस्ट पिछले कुछ वर्षों से जैन धर्म के प्राचीन अनुपलब्ध ग्रंथों को प्रकाशित कर रहा है । इनमें सभी ग्रंथ बड़े ही लोकोपयोगी हैं । 'वर्णी पत्र सुधा' ग्रंथ तो स्वाध्याय प्रेमियों ने इतना अपनाया कि अब उसकी कुछ ही प्रतियां शेष बची है । स्वाध्याय हेतु समाज के तपस्वियों, अध्ययन रत मुनियों, साधुओं, मंदिरों, शोध छात्रों, वाचनालयों आदि के लिए नि:शुल्क वितरित कर रहा है । शेष अगले प्रकाशन हेतु लागत से कम मूल्य पर ही ये ग्रन्थ उपलब्ध कराये जा रहे हैं ।

इस कलिकाल में लोगों का जीवन आपाधापी भरा जरूर है किन्तु ऐसी स्थितियों में भी भक्ति ही मुक्ति का मार्ग सर्वोपरि मान्य लगता है ।

जैन समाज ने जन समाज की बहुत सेवा की है । समाज सेवा से समाज ऊँचा उठता है और समाज दासत्व से समाज का पतन होता है । चौथे काल के पहिले योगभूमि की रचना इस मृत्युलोक में थी, जिसकी रूप रेखा उस समय के स्वर्गीय जीवन से कुछ ही कम थी । उस समय के मनुष्यों की आवश्यकताएं कल्पवृक्षों द्वारा पूरी की जाती थी क्योंकि उनकी आवश्यकतायें भी बहुत कम थी । उनको जन्म-मरण, इष्ट-वियोग, अनिष्ट संयोग, आधि-व्याधि, जरा-रोग, विषाद, दारिद्रय आदि दुखों का अनुभव तो दूर, उनकी कल्पना भी नहीं होती थी । किन्तु आज जबकि लौकिक सुख की प्राप्ति के लिए लोग धर्म-अधर्म का विवेक देखे बिना अर्थोपार्जन करते हैं तो ऐसा लगता है कि तीर्थंकरों द्वारा स्थापित अहिंसा के सिद्धान्तों का खुला हनन हो रहा है । कहीं ऐसा न हो कि कालांतर में हम अपने धर्म के मूल उद्देश्य को ही भूल जायें और लौकिक सुखों की प्राप्ति को ही अपने धर्म का साधन मानने लगे । संख्या की दृष्टि से हमारे मुनिराजों की संख्या काफी बढ़ गई है । किन्तु गुणात्मक दृष्टि से आगम प्रणीत मुनि और श्रावक दोनों के आचार-विचार में ह्रास-चिन्ता का विषय है । नीतिवान समाज सेवी पुरुष ही देश का धन है और हमें ऐसे धर्म की रक्षा करनी है । हमें इस प्रकार की प्रवृत्तियों को रोकना है । हमें तीर्थंकरों द्वारा स्थापित उनके अपरिवर्तनीय सिद्धान्तों को मिथ्यात्व और शिथिलाचार से बचाना है ।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन में कई धीमानों एवं श्रीमानों का विशेष सहयोग रहा है उनमें प्रो. रतनचंद बैनाड़ा, आगरा, डॉ. मुन्नी पुष्पा जैन, प्रो. फूलचंद जैन प्रेमी, वाराणसी, प्रो. वृषभ प्रसाद जैन, डा. विजयकुमार जैन, संपादक श्रुत संविर्धिनी, लखनऊ, डा. शिखरचंद जैन, श्री अशोक जैन,

रहली, जैन सिद्धांत भवन देवाश्रम, आरा, श्री संजय राजा जैन, मुम्बई, पूर्व सांसद श्री डालचंद जैन, सागर, श्री अशोक गंगवाल जैन, सुश्री सविताबेन अमृतलाल, लताबेन महेता, जयेशभाई जशुभाई शाह, सौ. सोनल यतीन गंगवाल, श्री डी. पी. जैन, श्री प्रदीप बड़कुर, श्री वसनजीभाई भाणजीभाई छेड़ा, श्री किरीट वोरा, श्री संजीवकुमार नाथूलाल जैन, मुम्बई ।

अंत में उस सातिशय पुण्य को प्रणाम करते हैं जिसके प्रताप से यह कार्य पूरा हुआ ।

सत्पुरुषों के योगबल से जगत का कल्याण होवे ।

मुम्बई — **सुधा जैन, देवेन्द्र जैन**

२६ जुलाई २००९ — सन्मति ट्रस्ट

❑

हमारे पूर्व प्रकाशन

(१)	छहढाला	सं. पं. कुन्दनलाल जैन
(२)	वर्ष वैभव १० अंक (वार्षिकी)	सं. देवेन्द्र जैन
(३)	हृदय रोग-बचाव और उपचार केन्द्र सरकार द्वारा पुरस्कृत	सं. डा. सुकुमाल जैन
(४)	शारीरिक रोग - बचाव और उपचार केन्द्र सरकार द्वारा पुरस्कृत	सं. डा. सुकुमाल जैन
(५)	आंखों के रोग बचाव और उपचार (पुरस्कृत)	डा. आर. के. कपूर
(६)	कैंसर : बचाव और उपचार	डा. सुकुमाल जैन
(७)	पार्श्वपुराण	सं. श्रीनाथूराम प्रेमी
(८)	यशोधर चरितम्	डा. पं. पन्नालाल जैन साहित्याचार्य
(९)	पंचस्तोत्र संग्रह	डा. पं. पन्नालाल जैन साहित्याचार्य
(१०)	भावत्रयफलप्रदर्शी और बोधामृत सार	मुनिश्री कुंथुसागरजी
(११)	वैराग्यप्रणिमाला द्वयी	सं. डा. पं. पन्नालाल जैन साहित्याचार्य
(१२)	जिद्दी लोग	अनु. डा. सी. एल. प्रभात
(१३)	नित्यपाठ	प्रस्तुतिः देवेन्द्र जैन
(१४)	जहाँ मुनाफा सब कुछ हुजूर	कुन्तल कुमार जैन
(१५)	पहिये के ऊपर	कुन्तल कुमार जैन
(१६)	अनुवाद : सोच और संस्कार	सं. डा. सोहन शर्मा
(१७)	मुम्बईवासी मध्यभारत के दिगम्बर जैन	प्रस्तुति : श्रीमती सुधा देवेन्द्र जैन
(१८)	शहनाई के स्वर	प्रस्तुति : श्रीमती सुधा देवेन्द्र जैन
(१९)	बारस अणुवेक्खा	सं. पं. कुन्दनलाल जैन
(२०)	दिगम्बर जैन युवक युवती परिचय पुस्तिका	सं. श्रीमती सुधा देवेन्द्र जैन
(२१)	प्रश्नोत्तर रत्नमालिका	सं. पं. कुन्दनलाल जैन
(२२)	क्षमा : मोक्ष का भव्य दरवाजा है	श्रीमद् राजचन्द्र
(२३)	जैन श्री रामकथा	पं. गुणभद्र जैन
(२४)	वर्णी पत्र सुधा	सं. नरेन्द्र विद्यार्थी
(२५)	भगवान पार्श्वनाथ	बाबू कामताप्रसाद जैन
(२६)	श्रीमद् राजचंद्र एवं भक्तरत्न	प्रेमचन्दभाई कोठारी हिन्दी अनुवाद : देवेन्द्र जैन
(२७)	गांधी दर्शन (सोच और सरोकार), पुरस्कृत	देवेन्द्र जैन